इन्दिरा गांधी के दो चेहरे

उमा वासु





इन्दिरा गांधी
के
दो चेहरे

इन्दिरा गांधी के दो चेहरे

उमा वासुदेव

हिन्दी रूपान्तर
मधुसूदन



राधाकृष्ण

Originally published by
VIKAS PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.,
5, Ansari Road, New Delhi-110002
in the English language under the title
TWO FACES OF INDIRA GANDHI

प्रथम हिन्दी संस्करण : सितम्बर, १९७७

मूल्य
पेपरबैक संस्करण : १८ रुपये
सजिल्द संस्करण : २४ रुपये

आवरण-सज्जा : सुकुमार शंकर

प्रकाशक
राधाकृष्ण
२ अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२

मुद्रक
भारती प्रिंटर्स
दिल्ली-११००३२

भूमिका

"हर आदमी सच बात कह रहा है, लेकिन ग़लत वक़्त पर !" एक कांग्रेसी नेता ने यह बात अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी की उस मीटिंग में कही जो चुनाव में करारी हार के बाद शव-परीक्षा के लिए बुलायी गयी थी। यही सारी सच्चाई का कुल निचोड़ है।

इस सच्चाई पर मैं धक् से रह गयी थी। जो लोग शुरू से ही इन्दिरा गांधी के विरोधी थे उनके लिए बदतर-से-बदतर बात पर भी विश्वास कर लेना आसान था। जिन लोगों को उन पर भरोसा था उनके लिए इस सच्चाई का सामना करना कठिन था।

मैंने इन्दिरा गांधी पर जो पहली किताब लिखी थी उसमें १९७२ तक की घटनाओं पर चर्चा की गयी थी। इस किताब में उसके बाद के दौर की घटनाओं पर चर्चा की गयी है, जिस दौर में वे प्रवृत्तियाँ शुरू हुईं जिनकी वजह से इमर्जेंसी लागू की गयी। इन दोनों किताबों के बीच, ठीक उसी तरह जैसे इन्दिरा गांधी के एक चेहरे और दूसरे चेहरे के बीच, कहीं एक टूटी हुई कड़ी है।

इन्दिरा गांधी कोई मामूली औरत नहीं हैं; और न ही वह पद मामूली था जिसे वह इतने दिन तक सँभाले रहीं। इस किताब को लिखने के दौरान जो समस्याएँ उभरकर सामने आयीं उनमें से हर एक अलग से छानबीन करने लायक़ है। मैंने उन सबको इन्दिरा गांधी की उस एक धुन के साथ जोड़ देने की कोशिश की है, जो उन सबको एक लड़ी में पिरोये रख सकता है। राजनीति ? प्यार ? विचारधारा ? डर ? अहंकार ? माँ की ममता ? महत्वाकांक्षा ? इनमें से वह धुन कौन-सी है, यह इस पर निर्भर है कि पाठक उसे कहाँ पर खोजता है। मेरे लिए यह अनुभव एक ऐसे रहस्य की गुत्थियाँ सुलझाने के समान रहा है जिसने उनके निकटतम सहयोगियों और उनके कट्टर-से-कट्टर शत्रुओं दोनों ही को उलझाये रखा है।

मैंने उस सजीव परंतु ऐतिहासिक सामग्री को इस पुस्तक का आधार बनाया है जो मुझे कांग्रेस के सबसे बड़े नेताओं और उसके कार्यकर्त्ताओं से मिली है। इन्दिरा गांधी के बारे में जो कुछ भी सच बात है उसका पता शायद इन्हीं लोगों को है।

मैं इन सब लोगों की आभारी हूँ कि उन्होंने मुझसे विस्तार से और साथ ही अपनी निजी जानकारी के आधार पर बातचीत की, जिससे मुझे इस बात का

कुछ सुराग़ मिल सका कि श्रीमती गांधी को आख़िर हुआ क्या। जैसाकि उनके पुराने साथी और राजनीति के क्षेत्र के पुराने अनुभवी नेता कमलापति त्रिपाठी ने कहा, "यह एक ऐसे व्यक्ति की मिसाल है जो अभी कल तक आसमान में उड़ रहा था और आज धूल में मिल चुका है...जिसकी कल तक दुनिया के देशों की राजधानियों में भूरि-भूरि प्रशंसा होती थी, लेकिन आज वही लोग उसे गालियाँ देते फिर रहे हैं जो पहले कुछ भी नहीं थे और उसने उन्हें बहुत-कुछ बना दिया।" इन बातों की वजह से यह कहानी मानव-भावनाओं से भी ओत-प्रोत है और राजनीतिक भी है।

जून १९७६ में विपक्ष की जो बड़ी-बड़ी हस्तियाँ जेल में बंद थीं उनमें जयप्रकाश नारायण का नाम भी अगर शामिल रहने दिया गया है तो इसे केवल अवचेतन मन की भूल ही कहा जा सकता है। जयप्रकाश नारायण नवम्बर १९७५ में पैरोल पर छोड़ दिये गये थे, और बाक़ी लोग थोड़े-थोड़े अरसे के बाद छोड़ दिये गये। शायद इस पूरे क्रम के दौरान अवचेतन मन अपना काम करता रहा क्योंकि विपक्ष की हस्तियों का उल्लेख करते समय यह नामुमकिन था कि उनमें उनका नाम शामिल न किया जाये।

मैं अपने माता-पिता और अपनी बहन की आभारी हूँ कि उन्हें मुझ पर इतना भरोसा रहा; मैं एल० के० की आभारी हूँ कि उन्होंने तथ्य और सामग्री जुटाने में बड़ी तत्परता से मेरी सहायता की; मैं नन्हीं कमिया की आभारी हूँ कि उसने बड़े धैर्य का परिचय दिया—और सबसे बढ़कर राका की, जो अब नहीं रही, लेकिन जिसने मुझे यह दृढ़ संकल्प प्रदान किया।

सुदर्शन सेठ और नीलिमा गोयल ने घंटों समय ख़र्च करके उन विस्तृत टिप्पणियों के लिए सारा ब्यौरा जुटाया, जो इस पूरी पुस्तक में एक समानांतर इतिहास की तरह चलती रहती हैं।

हरिराम जिंदल ने बड़ी लगन और आत्म-त्याग की भावना के साथ मूल अंग्रेज़ी पांडुलिपि को टाइप करने का काम किया, जिसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ।

और इसी तरह के न जाने कितने ही और लोग हैं।

—उमा वासुदेव

नई दिल्ली
अगस्त १९७७

क्रम

राका को
जिसको सदा-सदा याद रखूँगी

१. राजनीति के मोहरे

भारत की राजधानी से छः सौ मील दूर पंचमढ़ी की पहाड़ियों पर, जहाँ का राजनीतिक वातावरण भी ठंडा था, जून १९७६ में द्वारकाप्रसाद मिश्र[1] एक दिन बाहर खुले में बैठे हुए थे। १९६७-६९ में पार्टी के अंदर प्रभुत्व की जो लड़ाई चल रही थी उसमें इन्दिरा गांधी के लिए सारे दाँव-पेच वही सोचते थे और इन्दिरा गांधी को भी उन पर पूरा भरोसा था। उनके एक मित्र सरकारी अफ़सर उनसे मिलने आये और मिश्रजी ने उन्हें यह क़िस्सा सुनाया : "१९३० के बाद के दिनों की बात है, जब मेरी जान-पहचान एक ऐसे राजनीतिक क़ैदी से हो गयी थी जिसे अपनी पालतू बिल्ली से इतना लगाव था कि उसे बिल्ली को अपने साथ जेल की कोठरी में रखने की इजाज़त दे दी गयी थी। एक दिन उसने न जाने किस बात पर झुँझलाकर बिल्ली को मारते-मारते अधमरा कर दिया। बिल्ली दुबककर एक कोने में बैठ गयी, उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि जाये तो कहाँ जाये, क्योंकि कोठरी के दरवाजे पर ताला लगा हुआ था और वह अंदर फँसी हुई थी। जब भी उसका मालिक उसके पास आता तो वह दीवार से और भी चिपककर बैठ जाती और दर्दनाक आवाज़ निकालती। जेलर उसकी चीख़-पुकार सुनकर भागा-भागा आया और जैसे ही उसने कोठरी का दरवाजा खोला, बिल्ली ने झपटकर बाहर भागने के बजाय, गुस्से के मारे ख़ून की प्यासी होकर, कूदकर अपने मालिक की गर्दन जा दबोची। जब तक उसे बिल्ली के चंगुल से छुड़ाया गया वह लगभग अधमरा हो चुका था। इस क़िस्से से सबक़ यह निकलता है कि अगर आप अपने दुश्मन पर चोट करना चाहते हैं तो उसके लिए बच निकलने का कोई रास्ता ज़रूर छोड़ दीजिये, नहीं तो बौखलाकर वह ख़ून का प्यासा हो जायेगा।" यह कहते हुए चश्मे के पीछे से उनकी छोटी-छोटी आँखें चमक उठीं।

बातचीत माओ के सिलसिले में ही रही थी, लेकिन बात अपने देश की घटनाओं के बारे में भी सच थी। इन्दिरा गांधी ने २६ जून १९७५ को जब भारत में आंतरिक इमर्जेंसी का ऐलान किया था तब से एक साल बीत चुका था। विपक्ष की बड़ी-बड़ी हस्तियाँ जेल में थीं, जिनमें जयप्रकाश नारायण, मोरारजी देसाई, अटलबिहारी वाजपेयी, राजनारायण, एल० के० अडवानी और पीलू मोदी जैसे बड़े-बड़े लोगों के नाम शामिल थे। इनके साथ ही खुद उनकी कांग्रेस पार्टी के चन्द्रशेखर, मोहन धारिया, कृष्णकांत, रामधन और पी० एन० सिंह जैसे लोग भी जेल में थे। अखबारों और प्रचार के दूसरे माध्यमों पर अभी तक सेंसर का पहरा

लगा हुआ था। अगर कोई बहस होती भी थी या कोई विरोध प्रकट करता भी था तो दबी ज़बान से, और अफ़वाहों की वजह से चारों ओर डर बढ़ता जा रहा था। राजनीतिज्ञ और बुद्धिजीवी घुटी-घुटी-सी तनातनी के वातावरण में किसी तरह जीवन व्यतीत कर रहे थे, प्रत्यक्ष जानकारी का क्षेत्र दिन-ब-दिन छोटा होता जा रहा था, और ऐसा लगता था कि सच्चाई में सतरंगे इंद्रधनुष से भी ज़्यादा रंग हैं।

स्पष्ट है, द्वारकाप्रसाद मिश्र ने सोचा कि 'इन्दिराजी' घटनाओं को ज़रूरत से ज़्यादा ढकेलने की कोशिश कर रही हैं।

लेकिन उस समय तक वह उनसे इतना दूर हो चुके थे कि अपनी विरोध की भावना या आशंकाएँ भी उन तक नहीं पहुँचा सकते थे। प्रधान मंत्री के साथ उनका मेल-जोल १९७२ में बिलकुल टूट चुका था जब उन्होंने देखा कि उन्हें बड़ी चालाकी के साथ विश्वास के क्षेत्रों से बाहर हटाने की कोशिश की जा रही है। यह एक बहुत जानी-पहचानी चाल थी, जिसमें इन्दिरा गांधी जो कुछ भी करवाना चाहती थीं वह अपने गुर्गों से करा लेती थीं। तब तक उनके विश्वासपात्रों की मंडली में से कभी भी इतने लोग अलग नहीं हुए थे। द्वारकाप्रसाद मिश्र के साथ जो कुछ हुआ वह आगे चलकर एक ढर्रा बन गया। ऐसा जिन कारणों से हुआ उनसे बाद में चलकर उनके अपने व्यक्तित्व के, और पूरी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के कायापलट के कारणों का कुछ सुराग़ मिलता है।

द्वारकाप्रसाद मिश्र १९६५ से १९६७ तक मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री थे। बाद में जब वह दिल्ली में रहते थे, उस समय १९६७ और १९७२ के बीच उनकी यह ख्याति हो गयी थी कि वह उन इने-गिने लोगों में से हैं जो प्रधान मंत्री के बहुत क़रीब हैं। प्रधान मंत्री की नज़रों में यही बात उनका एक अवगुण बन गयी। उनका दूसरा अवगुण यह था कि राजधानी में यह भावना बढ़ती जा रही थी कि मिश्रजी के हौसले इतने बढ़ गये हैं कि वह केन्द्रीय कैबिनेट में गृह-मंत्री बनने के सपने देखने लगे हैं। उनको अपनी हैसियत पर ले आने के लिए यह वजह काफ़ी थी। तीसरा अवगुण उनका यह था कि ऐसे समय पर जब श्रीमती गांधी बहुत जोश के साथ वामपंथी दौर से होकर गुज़र रही थीं, द्वारकाप्रसाद मिश्र कम्युनिस्टों के साथ खुली टक्कर के लिए तैयार थे। इस मामले में जिसे भी श्रीमती गांधी से मतभेद होता उस पर वह शक करने लगतीं।

जिस समय केन्द्रीय चुनाव समिति १९७२ के विधान सभाओं के चुनावों के लिए उम्मीदवार चुन रही थी, उस समय द्वारकाप्रसाद मिश्र ने यह बात बिलकुल साफ़ कह दी थी कि वह इस बात के ख़िलाफ़ हैं कि कांग्रेस रायपुर से कम्युनिस्ट उम्मीदवार सुधीर मुखर्जी का समर्थन करे। उन्होंने यहाँ तक सुझाव दिया कि यह नियम बना दिया जाये कि जिन क्षेत्रों में बुनियादी महत्त्व के कारखाने हों वहाँ किसी कम्युनिस्ट उम्मीदवार को बढ़ावा न दिया जाये। मिसाल के लिए, रायपुर एक ऐसा ज़िला था जो दुर्ग से मिला हुआ था जहाँ भिलाई का इस्पात का कारखाना काम कर रहा था। द्वारकाप्रसाद मिश्र का दावा है, "उसी वक़्त से इन लोगों को यह अन्दाज़ा हो गया कि मैं उनके ख़िलाफ़ हूँ। अपने पुराने साथियों से सलाह लेने के बजाय उन्होंने कुमारमंगलम[1] की बात सुनना शुरू कर दिया था। लेकिन वामपंथी ढंग से सोचने वालों को खोजने के लिए पार्टी से बाहर जाने की ज़रूरत ही क्या थी? हमारे पास सभी तरह के लोग थे—पहले चह्वाण[1] थे, और फिर अब चन्द्रशेखर[2] जैसे नौजवान जोशीले लोग थे।" द्वारकाप्रसाद मिश्र की राय थी कि उस समय कम्युनिस्टों का जो यह प्रचार फैल रहा था कि श्रीमती गांधी वही

करती हैं जो वे उनसे कहते हैं, उससे उनकी साख गिरती जा रही थी।

लेकिन इसके अलावा एक चौथी बात भी थी। १९७२ तक द्वारकाप्रसाद मिश्र को हरियाणा के मुख्य मंत्री बंसीलाल[६] की करतूतों के बारे में कुछ शक होने लगा था। उन्होंने इन्दिरा गांधी को इस डर की चेतावनी भी दी थी कि इस अक्खड़ जाट ने अपने जासूसों का जाल खुद प्रधान मंत्री की कोठी के अन्दर भी फैलाना शुरू कर दिया है। मिश्रजी ने बताया, "राजनीति में हिस्सा लेने वाले किसी भी आदमी के लिए सच्चाई और हक़ीक़तों की तरफ़ से आँख मूंद लेना नामुमकिन है। श्रीमती गांधी का और मेरा एक समझौता था। मैंने उनसे कह दिया था, 'मैं आपसे ऐसी बातें भी बता दूंगा जो शायद आपको बेहद बुरी लगें, लेकिन मैं आपसे यह कभी नहीं पूछूंगा कि आपने ऐसा क्यों नहीं किया या वैसा क्यों नहीं किया।' लेकिन जब मैंने महसूस किया कि कड़वी लगने वाली बातें पसंद नहीं की जातीं तो मैं छोड़कर चला आया।"

इन्दिरा गांधी के जीवन में और उनकी राजनीति में तीखा मोड़ न तो इलाहाबाद हाईकोर्ट का वह १२ जून १९७५ वाला फ़ैसला था जिसने उनके चुनाव को ख़तरे में डाल दिया[६], न वह २६ जून १९७५ वाली इमर्जेंसी थी जिसकी वजह से लोगों को उनके लोकतांत्रिक होने के बारे में भी शक होने लगा, और न ही इसके साथ ही संजय गांधी के राजनीतिक जीवन की शुरुआत थी जो एक तरह से प्रधान मंत्री का ही प्रतिरूप बन गया था। असली मोड़ आया १९७१ में, उस साल जब उनका अपना राजनीतिक जीवन शुरू हुआ था, जब वह नेहरू की छत्रछाया से बाहर निकल आयी थीं, जब वह यह महसूस करने लगीं कि जिन लोगों ने उनके बाप के नीचे काम किया था—जैसे द्वारकाप्रसाद मिश्र—उनसे वह स्वयं अपने बल पर, अपनी ज़रूरत को देखते हुए, और अपने ढंग से निबट सकती हैं। डी० पी० मिश्र ने कहा, "१९६९ में जब कांग्रेस दो टुकड़ों में बँट गयी उस वक़्त तक मैं उनकी हर बात का साथ देने को तैयार था। उससे पहले तो उनकी न कांग्रेस के संगठन में चलती थी और न लोकसभा में।" लेकिन इस समर्थन को और भी आगे तक ले जाया जा सकता है—१९७० में जब उन्होंने अपनी पार्टी को मजबूत किया, जब बाँगला देश के सवाल पर उन्होंने पूरा हिसाब लगाकर योजना के अनुसार शानदार विजय प्राप्त की, और जब १९७१ के संसद के चुनाव में और १९७२ के विधान सभाओं के चुनावों में उन्होंने कल्पनातीत बहुमत प्राप्त किया।

लेकिन इस सफलता पर उनकी प्रतिक्रिया दो तरह की हो सकती थी। उनमें इतना आत्मविश्वास पैदा हो सकता था कि वह उदार हो जातीं, उनका दिल खुल जाता। इसके बजाय उनमें ईर्ष्या और भय पैदा हो गया।

बाद में एक बहस के दौरान मैंने कहा था, "मैं समझता हूँ कि अगर उस वक़्त वह दूसरी तरफ़ मुड़ गयी होतीं तो वह नेहरू जैसी बन सकती थीं।"

इन्दिरा के मंत्रिमंडल में भूतपूर्व इस्पात-मंत्री चन्द्रजीत यादव[७] ने कहा, "नेहरू से भी बड़ी, लेकिन उनमें वह नेहरू का सिद्धांत पर दृढ़ रहने का और मानवीयता का रवैया कभी था ही नहीं।"

नेहरू में आत्मविश्वास की भावना पैदाइशी थी। इन्दिरा पर शुरू से ही असुरक्षा की भावना हावी थी। इसके अलावा कोई कारण समझ में नहीं आता कि अंतर्राष्ट्रीय मोर्चे पर बाँगला देश जैसी ठोस राजनीतिक सफलता और स्वयं अपने देश में इतना खुला समर्थन मिलने के बाद के वर्षों में वह विचारधारा के सवाल पर भटकती क्यों रहीं। इन दोनों ही सफलताओं में भय का अंकुर छिपा

हुआ था। अचानक उनका बहुत-कुछ दाँव पर लग गया था, और उन्हें हर क़ीमत पर उसकी रक्षा करनी थी। १९६९ से १९७२ तक उनके पास खोने के लिए कुछ था ही नहीं, क्योंकि वह एक ध्येय के लिए लड़ रही थीं। १९७२ से १९७७ तक उनके पास सब-कुछ खोने-ही-खोने को था क्योंकि वह अपने शासन-तंत्र की रक्षा कर रही थीं।

इन्दिरा गांधी का काम करने का ढंग नहीं बदला था। बस अब जिन चीज़ों पर ज़ोर दिया जाता था वे बदल गयी थीं।

चन्द्रशेखर ने, जो उस समय प्रधान मंत्री में वामपंथी झुकाव पैदा करने की कोशिश में एक उभरते हुए युवा तुर्क थे और आज जनता पार्टी के अध्यक्ष हैं, परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है, "श्रीमती गांधी केंद्रीय सत्ता की योजना तो बना रही थीं पर उन्होंने डिक्टेटरशिप की दिशा में कोई क़दम नहीं उठाये थे। उनको एक अजीब-सा डर लगा रहता था कि चारों ओर से ख़तरों ने उन्हें घेर रखा है। इसके प्रथम संकेत बहुत पहले ही मिल चुके थे जब वह अशोक मेहता[८] से दूर हटने लगी थीं। १९६७ के कुछ ही समय बाद से वह हर उस आदमी पर शक करने लगी थीं जिसकी सार्वजनिक जीवन में कोई भी हैसियत होती थी। जब मंत्रिमंडल बनाया गया तो शुरू-शुरू में अशोक मेहता इसमें शामिल होने को तैयार नहीं थे क्योंकि वह ख़ुद अपने साथियों से भी सलाह-मशविरा नहीं करती थीं, उनके अपने मंत्रालयों के बारे में भी नहीं। वह हमेशा एक ही वक़्त में तीन-चार विचारों को अपने मन में मथती रहती हैं। फिर जब वह यह समझ लेती हैं कि उनमें से किस पर सबसे आसानी से अमल किया जा सकता है तो उसी को अपना लेती हैं। अगर उन्हें कोई ऐसा फ़ैसला करना भी पड़ता है जो उन्हें पसंद न हो, तो वह भी वह नैतिकता के आधार पर नहीं करती हैं। १९६९ में राष्ट्रपति के चुनाव में मैं शुरू से ही श्री गिरि[९] का समर्थन करने के पक्ष में था, लेकिन इन्दिरा जी ने अपने मन्तव्य को छिपाये रखना पसंद किया।"

दिनेशसिंह[१०] ने भी, जो पहले इन्दिरा गांधी की कैबिनेट में विदेश-मंत्री थे और जो अब जनता पार्टी के सदस्य हैं, कहा है, "यह सारा सिलसिला कांग्रेस के बँटवारे के वक़्त[११] से शुरू हुआ। मेरी राय यह थी कि उन्हें संजीव रेड्डी[१२] को स्वीकार नहीं करना चाहिए था। संजीव रेड्डी को अगर वह राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार स्वीकार न भी करतीं तब भी हम लोग यही फ़ैसला कर सकते थे। मैं कांग्रेस के दो टुकड़े कर देने के ख़िलाफ़ था। फिर, मोरारजी[१३] को निकाल बाहर करने में क्या तुक थी? वह उनके नीचे दूसरे नंबर के पद पर काम करने के लिए राज़ी हो गये थे। मोरारजी की तमन्ना कुछ भी रही हो पर वह अनुशासन को इतना मानते थे कि उनके साथ काम कर सकते थे। उस समय मैं अमरीका में था। जब मैं लौटकर आया तो मैंने उनको बताया कि मैं उनके इस फ़ैसले को सही नहीं समझता। कांग्रेस (संगठन) को दक्षिणपंथी दल ठहरा दिया गया, लेकिन मोरारजी ने कब किसी भी क़ानून के बनाने में बाधा डाली थी? असली वजह यह थी कि वह अपना सिक्का जमाना चाहती थीं।"

"फिर आप उनका साथ क्यों देते रहे?" मैंने दिनेशसिंह से पूछा।

"इन्दिराजी राजनीति में नयी-नयी आयी थीं, नयी पीढ़ी ने बड़े उत्साह के साथ उनका स्वागत किया था। आदमी कभी कोई ग़लत फ़ैसला भी कर सकता है—बहरहाल उन्हें यह रास्ता चुनने का अधिकार था—लेकिन जब उन्होंने आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया, देश में परिवर्तन लाने की पैरवी की

और समाजवाद की ओर आगे बढ़ने की बात की, तो उनका समर्थन करना ही पड़ा।"

आखिरकार दिनेशसिंह का भी पत्ता काट दिया गया, बहुत-कुछ उन्हीं कारणों से। १९६९-७० में, जब उनके पीछे कोई ऐसा खास राजनीतिक समर्थन भी नहीं था, श्रीमती गांधी ने उन्हें विदेश-मंत्री के ऊँचे पद पर बिठा दिया था। लेकिन बाद में जब वह दूसरे राजपूत विधायकों की मदद से उत्तर प्रदेश में अपनी बुनियाद मज़बूत करने की कोशिश करने लगे तो वह उन पर भी शक करने लगीं। उन दिनों दिनेशसिंह भी श्रीमती गांधी की 'घरेलू कैबिनेट के' एक सदस्य थे, उस दरबार के जिसने बाद में चलकर चांडाल चौकड़ी का रूप धारण कर लिया। उस समय भी श्रीमती गांधी की तरफ़ से एक अकेला आदमी सत्ता के केंद्र के रूप में काम करता था, और वह थे उनके प्राइवेट सेक्रेटरी यशपाल कपूर,[१४] जिनमें मुस्तदी, धाँधली और वफ़ादारी के गुण कूट-कूटकर भरे हुए थे। मंत्रियों से लेकर कांग्रेस संगठन के सबसे निचले स्तरों तक सभी पर वह असर डाल सकते थे। उन्हीं से दिनेशसिंह की टक्कर हो गयी। यशपाल कपूर का कहना है कि बहुत पहले १९६३ में ही श्रीमती गांधी के सबसे निकट के समर्थकों के बीच ग़लत-फ़हमियाँ पैदा करने की कोशिशें की गयी थीं। मिसाल के लिए, एक दिन दिनेश-सिंह ने कपूर को टेलीफ़ोन किया :

"कपूर, तुम और मैं ऐसी स्थिति में हैं कि हमें बहुत सावधान रहना चाहिए कि हम कहाँ जाते हैं, किससे मिलते हैं," कालाकाँकर के भूतपूर्व राजा साहब ने चेतावनी दी।

"आपका मतलब ?"

"सुना है कि एक दिन तुम अशोका होटल में नशे में धुत्त पाये गये थे।"

कपूर का कहना है कि तब तक वह कभी अशोका होटल गये ही नहीं थे। १९६७ के चुनाव के बाद जब इन्दिरा गांधी फिर प्रधान मंत्री बनीं तो दिनेशसिंह और इंदर कुमार गुजराल,[१५] जो उस समय संचार और संसदीय मामलात के राज्य-मंत्री थे, मिलकर यशपाल कपूर को नीचा दिखाने की कोशिशें करने लगे। "उसके बाद से उन्होंने मुझे काटने की कोशिश की। अगर प्रधान मंत्री सुझाव देतीं कि किसी से बातचीत करने के लिए मुझे भेज दिया जाये, जैसा कि मैं पहले भी करता था, तो ये दोनों कहते,'नहीं, नहीं, वह तो महज़ प्राइवेट सेक्रेटरी है, किसी और को क्यों न भेज दीजिये ?'" तीनों इसी तरह उखड़े-उखड़े सहयोग के साथ काम करते रहे जब तक कि एक दिन यशपाल कपूर को जवाबी वार करने का मौक़ा मिल गया। कहा जाता है कि दिनेशसिंह के बढ़ते हुए हौसलों के बारे में कोई सबूत उनके हाथ लग गया था। एक दिन प्रधान मंत्री के किसी काम से यशपाल कपूर दिनेशसिंह को खोजने के लिए दिन भर दौड़-धूप करते रहे। आखिरकार बहुत रात गये टेलीफ़ोन पर उनसे मुलाक़ात हुई।

"महाराज," कपूर ने कहा, "आप कहाँ ग़ायब रहते हैं ? आज दिन-भर आपका कहीं पता-ठिकाना ही नहीं था। हम यहाँ से कितनी ही बार आपको टेलीफ़ोन कर चुके हैं।"

"अरे, जिसकी बुनियाद मज़बूत न हो उसे भला कौन टेलीफ़ोन करता है," दिनेशसिंह ने जलकर जवाब दिया और फिर कहा, "मुझे तो अब उत्तर प्रदेश में अपने लिए कुछ ठिकाना बनाना पड़ेगा।"

मशहूर यह था कि दिनेशसिंह श्रीमती गांधी के उस तरह निकट नहीं थे

जिस तरह द्वारकाप्रसाद मिश्र थे, लेकिन सत्ता का जो लोभ उनमें पैदा हो गया था उसकी वजह से उन्हें भी शुबहे की नज़र से देखा जाने लगा था। ऐसा लगता है कि यशपाल कपूर ने इस मौक़े का फ़ायदा उठाकर श्रीमती गांधी को दिनेशसिंह के खिलाफ़ चेतावनी दी कि वह सबसे अधिक आबादी वाले बुनियादी महत्त्व के उत्तर प्रदेश को हथिया लेना चाहते हैं। उस समय तक सभी प्रधान मंत्री वहीं से आये थे। शायद उनका एक औरत होने का आभास कम-से-कम एक मामले में उनके सोचने के ढंग को बहुत प्रभावित करता था, हालाँकि वह बार-बार यह दावा कर चुकी थीं कि उन्हें हमेशा 'एक व्यक्ति की हैसियत से' देखा जाये औरत की हैसियत से नहीं, उनके जीवन में जो राजनीतिक पुरुष आये उनको उन्होंने बिना किसी झिझक के अपने रास्ते से हटा दिया।

दिनेशसिंह और द्वारकाप्रसाद मिश्र में एक तीसरी समानता यह थी कि मोरारजी देसाई को मंत्रिमंडल में बनाये रखने की पैरवी करके उन्होंने इस बात का मौक़ा दिया कि उन्हें फ़ौरन वामपंथ-विरोधी ठहरा दिया जाये। उस समय तक उनको इस बात का तो कोई मौक़ा नहीं मिला था कि वह श्रीमती गांधी को संजय की भूमिका के बारे में कोई चेतावनी देकर नाराज़ करते। लेकिन १९७० में उन्हें औद्योगिक विकास तथा आंतरिक व्यापार के कम महत्त्वपूर्ण मंत्रालय का भार सौंपकर उनकी हैसियत घटा दी गयी, और १९७१ में उन्हें मंत्रिमंडल से बिलकुल ही हटा दिया गया। सच तो यह है कि दिनेशसिंह की तरफ़ उनका रवया इतनी रुखाई का था और दोनों के बीच तनातनी इतनी बढ़ चुकी थी कि उन्हें संसदीय पार्टी से निकाल दिया गया और एक ऐसे सवाल पर, जिसके लिए उन्हें लगभग माफ़ी माँगनी पड़ी, उन्हें कांग्रेस से भी निकाल दिया जानेवाला था।

इंदर कुमार गुजराल को भी इन्दिरा गांधी ने इसीलिए चुना था कि राजनीति में उनका कोई आधार नहीं था। वह नयी दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी के वाइस-प्रेसीडेंट थे। जब वह लालबहादुर शास्त्री के मंत्रिमंडल में सूचना तथा प्रसारण मंत्री थीं उस समय और फिर बाद में जब मोरारजी देसाई से सत्ता के लिए उनकी नाटकीय टक्कर हुई थी उस समय, उन्होंने उनके प्रति निजी वफ़ादारी का सबूत दिया था। गुजराल उदार विचारों के लेकिन धीमी गति के कल्पनाशील व्यक्ति हैं और वह मूलभूत धारणाओं के आधार पर सोचते हैं। प्रचार का माध्यम उनका खास मैदान है। १९६५-६६ में वह और सेमिनार के संपादक रमेश थापर एक व्यापक नीति के रूप में प्रचार के माध्यमों की चेतना जागृत करने की योजनाएँ तैयार किया करते थे और अपने विचार इन्दिरा गांधी के मन में बिठाने की कोशिश करते थे। यही समय था जब सूचना और प्रसारण-मंत्री की हैसियत से श्रीमती गांधी ने देश में टेलीविज़न लगाने की सौ करोड़ रुपये की योजना बनायी थी। उन्हें पसे की मंजूरी के लिए बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था क्योंकि शास्त्रीजी नहीं चाहते थे कि उनकी हैसियत बहुत बढ़ जाये। फिर भी इन्दिराजी ने ऑल-इंडिया रेडियो को एक स्वतंत्र कारपोरेशन बना देने की संभावना पर विचार करने के लिए चंदा कमेटी नियुक्त की; यह क़दम बार-बार किये गये उनके इस दावे का ही एक हिस्सा था कि वह अभिव्यक्ति में विविधता चाहती हैं। इंदर कुमार गुजराल पुरानी बातों को याद करते हुए कहते हैं,' "जैसे ही वह प्रधान मंत्री बनीं उन्होंने यह बात बिलकुल साफ़ कर दी कि ऑल इंडिया रेडियो को एक सरकारी माध्यम की तरह काम करना होगा।"

उस समय तक श्रीमती गांधी ने ख़ुद गुजराल को सूचना और प्रसारण-मंत्री

वना दिया था। उन्होंने १६६६ में राष्ट्रपति के काँटे के चुनाव में रेडियो को प्रचार का इतना सशक्त साधन वना दिया कि गिरि के—और इसलिए श्रीमती गांधी के पक्ष में फ़ैसले का दारोमदार लगभग पूरी तरह रेडियो पर ही था। बिलकुल पश्चिमी देशों के तरीक़े अपनाकर बड़ी बेरहमी और मुस्तैदी के साथ लोगों की आत्मा को इच्छानुसार ढालकर धाक जमाने की कोशिश की गयी थी। जैसाकि एक राजनीतिज्ञ ने कहा, "ऐसा लगता था जैसे पूरे समाज को मंत्रमुग्ध कर दिया गया हो।" जिन लोगों ने नारा लगाने में साथ नहीं दिया वे या तो पीछे रह गये या उन्हें चुपचाप हटा दिया गया। कई वर्ष बाद १६७५ में विद्याचरण शुक्ल[१] को यह सम्मान मिलने से पहले ही गुजराल को भारत का गोवेल्स कहा जाने लगा था और ऑल-इंडिया रेडियो को कांग्रेस के अंदर तथा वाहर के विरोधी लोग ऑलॉइन्दिरा रेडियो कहने लगे थे।

लेकिन भारत की आम जनता के विशाल बहुमत के लिए इंदिरा गांधी लोकतांत्रिक वामपंथ का साकार रूप बनकर उभरीं।

गुजराल के एक पुराने साथी का (जो अब मोर्चे के दूसरी तरफ़ हैं) कहना है, "इस दौर का कोई भी इतिहास लिखा जाये तो उसमें गुजराल के वारे में यह कहा जा सकता है कि वह एक आदमी था जिसने इन्दिरा गांधी को वना दिया। लेकिन गुजराल को भी गिरा दिया गया!"

इन्दिरा गांधी को गुजराल से डरने का कोई कारण नहीं था। लेकिन उनके वारे में इस तरह की शिकायतें थीं कि टेलीविज़न के परदे पर वह खुद बहुत ज़्यादा आते रहते हैं, और वह अपनी छाप लोगों के मन पर बिठाना चाहते हैं। इसके अलावा उन्होंने दिनेशसिंह के साथ अपना मेल-जोल वनाये रखा था, जो १६७१ तक न केवल मंत्रिमंडल से वाहर हो चुके थे, वल्कि प्रधान मंत्री की नज़रों से भी उतर चुके थे। आख़िरी वात यह थी कि १६६६ के वाद से राजनीतिक दृष्टि से इस संचार माध्यम के उपयोग के वारे में गुजराल का जोश ठंडा पड़ता गया था और जो कुछ वह चाहती थीं उसे वह वफ़ादारी के साथ पूरा नहीं करते थे। शायद इसकी वजह यह थी कि १६६६ में प्रचार के माध्यमों के सहारे इन्दिरा गांधी को उनकी लड़ाई जिता देने के वाद वह इसे कम कर देना चाहते थे और ग़ैर-राजनीतिक सृजनात्मक प्रयासों को स्वाभाविक रूप से पनपने के लिए वढ़ावा देना चाहते थे। नतीजा यह हुआ कि वह रेडियो से हटाकर आवास के राज्य-मंत्री वना दिये गये।

उनके लिए यह मंत्रालय चुनने के पीछे भी एक कहानी थी, जिससे पता चलता है कि इन्दिरा गांधी कुछ भी भूलती नहीं। १६६७ में जव वह पहले-पहल गुजराल को मंत्रिमंडल में लाना चाहती थीं तव उन्होंने उनसे पूछा था कि वह किस मंत्रालय का भार सँभालना चाहेंगे। गुजराल ने जवाब दिया था, "आवास छोड़कर कोई भी मंत्रालय।" गुजराल ऐसे किसी भी पद से अपना संबंध नहीं रखना चाहते थे जिसमें उन पर अपने प्रसिद्ध कलाकार भाई सतीश गुजराल के साथ पक्षपात करने का आरोप लगाया जा सके, क्योंकि अगर उन्हें सरकारी इमारतों की सजावट के लिए भित्ति-चित्र बनाने का काम दिया जाता उसमें उनके मंत्रालय का हाथ ज़रूर होता। श्रीमती गांधी ने इसकी वजह तो नहीं पूछी थी, लेकिन ज़ाहिर है कि उन्होंने यह नतीजा निकाल लिया था कि गुजराल को आवास मंत्रालय पसंद नहीं है। जब उन्हें दंड देने का समय आया तो उन्होंने उनके लिए वही मंत्रालय चुना। इसलिए उन्हें १६७१ में निर्माण तथा आवास-

मंत्री का पद सँभालना पड़ा। लेकिन एक ही साल में २४ जुलाई १९७२ को गुजराल की नैया फिर भँवर में फँस गयी।

छः फुट से भी लंबा, सुडौल, सौम्य योगी गेहुँए रंग का अपना नंगा सीना ताने और दूध जैसी सफ़ेद धोती पहने एक दिन गुजराल के दफ़्तर आया।

"मैंने अपने योगाश्रम के लिए कुछ और ज़मीन के लिए प्राथना की थी। वह फ़ाइल आपके दफ़्तर में पड़ी है," स्वामी ने सहज भाव से कहा।

"जी हाँ, है तो, लेकिन मुझे अफ़सोस है कि इस मामले में हम कुछ कर नहीं सकते," गुजराल ने जवाब दिया।

"मुझे ज़मीन दिलवा दीजिये वरना मैं भी देख लूँगा कि आप कल के बाद इस मंत्रालय में कैसे रहते हैं!" स्वामी ने चेतावनी देते हुए कहा।

"बहुत मुश्किल है," गुजराल ने कहा, "क़ानून ही ऐसे हैं।"

अगले दिन गुजराल को अपना मंत्रालय छोड़कर फिर सूचना और प्रसारण मंत्रालय में वापस चले जाने का हुक्म मिल गया। इसके बाद उनके और श्रीमती गांधी के संबंध फिर कभी पहले जैसे नहीं हो सके।

श्रीमता गांधी के काम करने के ढंग की विशेषता यह थी कि वह राजनीति में ऐसे लोगों का सहारा लेती थीं जो परंपरागत ढंग के न हों। अगर उनका अपना कोई आधार न हो और इसलिए वे राजनीतिक दृष्टि से पूरी तरह उन पर आश्रित रहें तो और भी अच्छा था। इसके अलावा वह अपना सारा राजनीतिक काम-काज बिलकुल निजी स्तर पर करती थीं जिसके लिए वह किसी एक आदमी को अपना ख़ास विश्वासपात्र बनाकर उसके माध्यम से काम करती थीं। बहुत बाद में चलकर यही बातें इमर्जेंसी के दौरान संकट का कारण बन गयीं। यशपाल कपूर इमर्जेंसी से पहले का नमूना थे; बाद में उनका काम उनकी बुआ के बेटे राजेंद्र कुमार धवन[१७] ने सँभाल लिया। लेकिन दोनों की भूमिकाएँ बिलकुल एक ही थीं।

सच तो यह है कि यह ढर्रा बहुत पहले नेहरू के ज़माने से चला आ रहा था, जब १९४६ में एक दिन एम० ओ० मथाई इलाहाबाद में आनन्द भवन[१८] में एक झोला और एक बक्स में बहुत-से काग़ज़ लिये हुए जा पहुँचे थे। मथाई ने बिना कोई वेतन लिये जवाहरलाल नेहरू को अपनी सेवाएँ अर्पित कर दी थीं। उस ज़माने में तो नेहरू केवल एक साधारण नागरिक थे। केरल से आये हुए इस आदमी ने कहा था, "मेरे पास खाने-पीने भर को बहुत है, मुझे पैसा नहीं चाहिए।" स्टेनोग्राफ़र की हैसियत से वह अपने काम में इतना होशियार था कि नेहरू पूरी तरह उस पर भरोसा करने लगे, और जब वह भारत के प्रधान मंत्री बने उस समय भी उसने इतनी लगन से उनकी सेवा की कि उसके हाथों में सत्ता की ताक़त भी आ गयी। तीन-चार मंत्रियों को छोड़कर, जो बिना किसी रोक-टोक के नेहरू के कमरे में चले जाते थे, बाक़ी सभी मंत्रियों को अपना काम कराने के लिए मथाई के पास होकर जाना पड़ता था और कभी-कभी तो वह उससे आगे जा भी नहीं पाते थे। मथाई तीन मूर्ति भवन[१९] के अपने कमरे में सुबह आठ बजे आकर बैठ जाता था; वह नेहरू के साथ ही उनकी मोटर पर दफ़्तर जाता, उन्हीं के साथ लौटकर आता और रात के साढ़े बारह-एक बजे तक जब तक नेहरू खुद न सो जाते जब भी घंटी बजती वह काम के लिए मुस्तैदी से हाज़िर रहता। अगर नेहरू वक़्त के पाबंद थे तो मथाई भी उनसे कम नहीं था; मथाई इतना निडर भी था कि अगर नेहरू के साथी या उनके रिश्तेदार कोई बेजा बात करते—या स्वयं प्रधान मंत्री

भी कोई भूल करते—तो वह मुँह पर साफ़-साफ़ कह देता। एक बार उसने नेहरू को लिखकर भेज दिया कि उनकी अपनी बहन विजयलक्ष्मी पंडित[१०] अपने निजी काम से जब लंदन से (जहाँ वह भारत की हाई कमिश्नर थीं) स्वदेश वापस आ रही थीं तो उन्होंने एयरलाइंस वालों से एक साथ तीन सीटें अपने लिए ख़ाली रखने को कहा था, हालाँकि वह किफ़ायती टिकट पर सफ़र कर रही थीं। मथाई ने प्रधान मंत्री को बड़े उच्च नैतिक स्वर में लिखा, "यह बहुत ग़लत बात है।" इसी तरह एक बार और जब नेहरू ने कृष्ण मेनन को बिना विभाग का मंत्री नियुक्त किया तो मथाई ने प्रधान मंत्री के नाम अपने एक नोट में इसे बहुत अनुचित बताया और कहा कि इस नियुक्ति से कृष्ण मेनन को बहुत निराशा हुई है। एक बार किसी दावत में जब प्रधान मंत्री किसी महिला से बड़ी देर तक बातें करते रहे तो मथाई ने उन्हें समझाया कि "ऐसा करना मुनासिब नहीं है" कि प्रधान मंत्री किसी एक ही व्यक्ति को इतना अधिक महत्त्व दे।

लेकिन मथाई संदेश पहुँचाने, दूत की हैसियत से काम करने, सुलह-समझौते की बात करने और झगड़े निवटाने की अपनी ज़िम्मेदारियाँ अपने परिवेश से अलग रहकर नहीं करते थे जैसा कि श्रीमती गांधी के नीचे काम करते हुए यशपाल कपूर और धवन करते थे। हालाँकि मथाई के महत्त्व के बारे में राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं और सरकारी अफ़सरों के बीच कुछ शिकवे-शिकायत होते रहते थे, लेकिन कोई कटुता नहीं होती थी क्योंकि कभी किसी की राजनीतिक या सरकारी हैसियत पर कभी कोई आँच नहीं आने दी जाती थी।

जब किसी जमी हुई व्यवस्था पर या पद-सोपान के बँधे हुए क्रम पर कोई आघात होता है तभी शासन-तंत्र में अन्दर ही अन्दर विध्वंसक तनाव पैदा होने लगते हैं और तंत्र कमज़ोर होने लगता है। श्रीमती गांधी को यशपाल कपूर पर इतना भरोसा था कि एक वक़्त तो ऐसा आया कि उसकी धाक राज्यों के मुख्य मंत्रियों से भी ज़्यादा थी; कम-से-कम वह इतना तो कर ही सकता था कि राजनीति के मैदान में जिसे चाहे प्रधान मंत्री की नज़रों में चढ़ा दे और जिसे चाहे उनकी नज़रों से गिरा दे। लेकिन वह ख़ुद इतनी आसानी से बचकर नहीं निकल सकता था; जैसा कि गुजराल और दिनेशसिंह के मामले में हुआ, जब उन्हें इस बात का मौक़ा था कि वे हर बात के बारे में अपनी व्याख्या सीधे प्रधान मंत्री तक पहुँचा सकें, तो उस वक़्त यशपाल कपूर का पलड़ा हल्का पड़ गया था। लेकिन दिनेशसिंह को मुसीबत में फँसाने में उसका भी हाथ था और धीरे-धीरे गुजराल की लहर भी उतरती गयी।

लेकिन वह स्वामी कौन था ? वह कहाँ से आया था ? प्रधान मंत्री पर उसने ऐसा कौन-सा वशीकरण मंत्र फूँक दिया था कि वह उनसे मंत्रियों का विभाग बदलवा सकता था—या नये मंत्रियों को लाकर गद्दी पर बिठा सकता था, जैसा कि उसने एक बार ललितनारायण मिश्र[११] के मामले में किया भी, और वह भी इतने रौब-दाब के साथ ?

बात सन् १९५७ की है। इन्दिरा उन्हीं दिनों केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की सदस्य बनी थीं और उन्हें जम्मू-कश्मीर से लेकर हिमाचल प्रदेश और कुल्लू घाटी तक के पहाड़ी इलाक़े के काम की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी थी। वह दौरे पर गयी हुई थीं और उन्होंने पहलगाम के पास शिकारगाह नामक एक स्थान में एक हफ़्ते तक आराम करने का फ़ैसला किया। उनके दोनों बेटे राजीव और संजय उनके साथ थे। यशपाल कपूर भी साथ गये थे। बड़ा सुहावना दिन था;

चारों ओर शांति थी; बिलकुल एकान्त था। वह दोनों लड़कों के साथ खेल रही थीं। यशपाल कपूर थोड़ी ही दूर एक चट्टान पर बैठे हुए थे। खट-खट-खट, उन्हें अपने पीछे से किसी की खड़ाउओं की आवाज़ सुनायी दी। उन्होंने मुड़कर देखा कि एक लंबी दाढ़ी वाला स्वामी मलमल के वस्त्र पहने सीधे तनकर चलता हुआ उस सुन्दर रम्य स्थान में चला जा रहा है। थोड़ी देर बाद उन्होंने देखा कि वह घोड़े पर बैठा उनके पीछे-पीछे आ रहा है। यशपाल कपूर ने सोचा, यह तो बिलकुल ईसा मसीह जैसा लगता है।

स्वामी ने यशपाल कपूर को रोककर कहा, "मैं उनसे मिलना चाहता हूँ।"

यशपाल कपूर ने सीधा-सा जवाब दे दिया, "नहीं, वह किसी से नहीं मिलेंगी। वह यहाँ आराम करने आयी हैं।"

"क्या चाहता था ?" इन्दिरा ने यशपाल कपूर से पूछा। यशपाल कपूर ने बता दिया।

"क्यों, हर्ज ही क्या है ?" इन्दिरा ने कहा, "वह मुझसे कोई राजनीति पर बहस थोड़े ही करेगा।"

यशपाल कपूर ने उसे मिलने का समय दे दिया।

यही स्वामी धीरेन्द्र ब्रह्मचारी थे। अचानक न जाने कहाँ से, उन पहाड़ों के बीच से, जिनसे इन्दिरा को प्यार था, वहाँ प्रकट हो गये थे। स्वामी ने जिन विषयों पर बातें कीं उनका दिल्ली के उस राजनीतिक चक्कर से कोई संबंध नहीं था, जिससे इन्दिरा प्रधान मंत्री के घर की देखभाल करने वाली की हैसियत से भली-भाँति परिचित थीं। स्वामी ने उनके बेटों को शिकारगाह में ही योग के छोटे-मोटे अभ्यास सिखाना शुरू कर दिया। दिल्ली में तीन मूर्ति भवन में अकसर उनका आना-जाना होने लगा और बाद में वह पंडित नेहरू को और स्वयं इन्दिरा को योगाभ्यास कराने लगे।

स्वामी धीरेन्द्र ब्रह्मचारी उस समय जगजीवनराम[१२] के भी मित्र थे, लेकिन बाद में उनके संबंध बिगड़ गये। स्वामीजी को १, जंतर-मंतर रोड पर सरकारी जगह दिला दी गयी। जब उन्हें वह जगह छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा तो उन्होंने डिफ़ेंस कॉलोनी के एक मकान मे अपना योगाश्रम खोला। दिल्ली में एक अंतर-राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए आयी हुई रूसी डॉक्टरों की एक टोली डिफ़ेंस कॉलोनी में उनका आश्रम देखने गयी और वहाँ उनका काम देखकर बहुत प्रभावित हुई। स्वामी ने अपने योगाश्रम के लिए ट्रस्ट बना दिया। यशपाल कपूर ने जैसा बताया, जयप्रकाश नारायण, जगजीवनराम, नवल टाटा[१३] वग़ैरह इसके ट्रस्टी थे और संरक्षक थे मोरारजी। १९६८ में मोरारजी देसाई उप-प्रधानमंत्री और वित्त-मंत्री थे, लेकिन उन्होंने योगाश्रम की जो लंबी-चौड़ी योजना स्वामी ने बनायी थी उसके लिए नयी दिल्ली के बीचोंबीच डेढ़ एकड़ ज़मीन की मंज़ूरी देने से इंकार कर दिया। १९६९ में इन्दिरा ने मोरारजी को बर्ख़ास्त कर दिया और साल भर तक खुद वित्त-मंत्री रहीं और स्वामी को ज़मीन मिल गयी। १९७१ के चुनाव के दौरान आश्रम के अहाते में जीपों का एक पूरा काफ़िला ठहरा हुआ पाया गया और जब किसी अख़बार का फ़ोटोग्राफ़र उनकी तसवीरें लेने की कोशिश कर रहा था तो संजय गांधी ने उसका कैमरा छीन लिया।

स्वामी के तंत्र-मंत्र के विधान के चारों ओर अब राजनीति की एक गोट लग गयी थी और यही हाल उसके सार्वजनिक रूप का भी था।

स्वामी के कारण गुजराल निकाल तो दिये गये पर वह अपने मनचाहे

मंत्रालय में पहुँच गये थे; पर वह अब कुछ डरे-डरे, सहमे-सहमे-से रहते थे। लेकिन कुमारमंगलम के लाए हुए कुछ ऐसे पुराने कम्युनिस्ट, जो अब कांग्रेसी बन गये थे, जिनमें नंदिनी सत्पथी[२५] भी शामिल थीं, संचार जैसे बुनियादी महत्त्व के क्षेत्र पर अपना कब्ज़ा जमाना चाहते थे और इसलिए उन्होंने गुजराल पर डोरे डालना शुरू किया। गुजराल का वह हाल था कि जैसे डूबते को तिनके के सहारे की तलाश हो। स्वामी टेलीविज़न पर हर हफ़्ते आधे घंटे योगाभ्यास की शिक्षा देने लगे। लेकिन श्रीमती गांधी एक बार किसी से नाराज़ हो जायें तो उनकी हालत बहती हुई जल-धारा जैसी हो जाती है, जिसके बहाव में ऊपर-ऊपर तो लहरें दिखायी देती हैं पर अन्दर गहराई में ऐसा ठहराव रहता है जिस पर किसी चीज़ का असर नहीं होता।

श्रीमती गांधी का जो नया अंतरंग दरबार था उससे गुजराल का टकराव चल ही रहा था; २० जून १९७५ को वह संजय गांधी की उस ख़ास नाराज़गी की लपेट में आ गये जिसका भरपूर सबूत इमर्जेंसी के दौरान मिला और जिसके ख़िलाफ़ कुछ लोगों के लिए फ़रियाद करने की भी कोई गुंजाइश नहीं थी। संजय गांधी की योजना के अनुसार बड़ी-बड़ी मीटिंगों का सिलसिला शुरू हुआ, पोस्टरों का भरमार कर दी गयी और प्रचार की एक ऐसी ज़बर्दस्त मुहिम छेड़ दी गयी कि कांग्रेस के नेता भी ऐसे मंत्रमुग्ध हो गये कि उन्होंने इलाहाबाद हाई कोर्ट के फ़ैसले के ख़िलाफ़ जेहाद का नारा लगाना शुरू कर दिया।

गुजराल ने १९६९ में इस सिलसिले को जहाँ पर छोड़ा था वहीं से संजय ने सिरा पकड़ लिया। लेकिन १९७५ में गुजराल को लेने के देने पड़ रहे थे। जनता पर प्रधान मंत्री के असर को साबित करने के लिए नयी दिल्ली के बोट क्लब में जो विशाल रैली[२५] संगठित की गयी थी, जिसमें प्रधान मंत्री ने स्वयं भाषण दिया था, उसके दूसरे ही दिन संजय ने अपनी माँ के मंत्री गुजराल को बहुत ग़ुस्से में आकर टेलीफ़ोन किया। बड़ी सख़्त आवाज़ में उनसे जवाब तलब किया गया कि आख़िर वह रैली ज्यों की त्यों टेलीविज़न पर क्यों नहीं दिखायी गयी थी? गुजराल अपने स्वाभिमान को दबाकर रह गये और बड़े शांत भाव से उन्होंने छानबीन करने का वादा किया।

नियम यह था कि राजनीतिक पार्टियों की मीटिंगें टेलीविज़न पर नहीं दिखायी जाती थीं, हालाँकि १९७१ के बाद से उस समय के डायरेक्टर-जनरल के सीधे आदेश पर कुछ मौक़ों पर यह नियम तोड़ा भी गया था। गुजराल को पता चला कि इस बार टेलीविज़न केन्द्र से इस तरह की कोई प्रार्थना या माँग नहीं की गयी थी। बहरहाल इस तरह के सारे फ़ैसले मंत्रालय में उन मीटिंगों में किये जाते थे जिनमें प्रधान मंत्री के सलाहकार शारदाप्रसाद भी मौजूद रहते थे। लेकिन उसके बाद से प्रधान मंत्री की कोठी के बाहर वाले चौराहे पर अगले पंद्रह दिन तक रोज़ जो मीटिंगें होती थीं उनमें प्रधान मंत्री के सारे भाषण टेलीविज़न पर दिखाये जाने लगे। श्रीमती गांधी की नाराज़गी फिर भी दूर नहीं हुई। उनका ख़याल था कि उनकी जो तसवीरें ली जाती थीं उनमें कैमरे को जान-बूझकर ऐसी जगह रखा जाता था कि उनका चेहरा अच्छा न आये, और उसके बारे में कोई कार्रवाई भी नहीं की जा रही थी।

अपने ही नियम को इस तरह खुलेआम तोड़कर सूचना मंत्रालय अजीब धर्म-संकट में फँस गया। विपक्ष के लोग २५ जून को अपनी मीटिंग कर रहे थे और उसमें जयप्रकाश नारायण[२६] भाषण देने वाले थे। डायरेक्टर-जनरल पी० सी०

चटर्जी ने फ़ैसला किया कि इस मीटिंग को टेलीविज़न पर पेश किया जाना चाहिए। मंत्री महोदय ने एक मीटिंग बुलायी, जिसमें दूसरे लोगों के अलावा प्रधान मंत्री के मुख्य प्राइवेट सेक्रेटरी प्रोफ़ेसर पी० एन० धर और गृह मंत्रालय के सेक्रेटरी एन० के० मुखर्जी भी मौजूद थे। गुजराल ने सारी समस्या समझायी और फिर मुखर्जी की तरफ़ मुड़कर देखा तो उन्होंने बड़े नीरस भाव से कह दिया, "मैं समझता हूँ कि इस मामले में प्रोफ़ेसर धर कुछ सलाह दे सकते हैं।" धर ने एक मिनट तक सोचा और फिर बोले, "यह प्रचार माध्यम की समस्या है। प्रचार माध्यम को ही इसे हल करना चाहिए।" "तो हमें क्या करना चाहिए?" गुजराल ने डायरेक्टर-जनरल से पूछा। उन्होंने जवाब दिया, "मैं समझता हूँ कि हमें इसे अपने कायक्रम में शामिल करना चाहिए।"

उन्होंने सुझाव दिया कि मीटिंग में भाषण देते हुए जयप्रकाश नारायण की और अलग-अलग कुछ जगहों पर जुलूस की तसवीरें ले ली जायें, लेकिन उन्हें इस तरह बढ़ा-चढ़ाकर न पेश किया जाये कि देखने वाले किसी तरह गुमराह हों।

यह तो अभी गुजराल की मुसीबतों की शुरुआत थी। २३ जून को सुप्रीम कोर्ट ने श्रीमती गांधी के पक्ष में स्टे-ऑर्डर दे दिया, लेकिन उसके साथ कुछ शर्तें जुड़ी हुई थीं। सुप्रीम कोर्ट का आखिरी फ़ैसला आने तक वह प्रधान मंत्री की हैसियत से काम कर सकती थीं लेकिन वह संसद में वोट नहीं दे सकती थीं। वहाँ पर ऑल-इंडिया रेडियो का जो संवाददाता तैनात था उसने फ़ौरन अँग्रेज़ी में रेडियो पर ब्रॉडकास्ट के लिए खबर तैयार कर दी, जिसमें यह कहकर कि "श्रीमती गांधी प्रधान मंत्री बनी रहेंगी" एक आशावादी पुट दे दिया गया था। चार बजे जब हिंदी में ख़बरें पढ़ी गयीं तो उसमें प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया की भेजी हुई खबर सुनायी गयी जिसमें फ़ैसले के साथ लगायी गयी शर्तें भी शामिल थीं और उससे बिलकुल ही दूसरा असर पड़ता था। इस पर प्रधान मंत्री की कोठी से एक बहुत ग़ुस्से से भरा हुआ फ़रमान आया। संजय ने कहा था कि रेडियो पर जो ख़बरें पढ़ी जायें वह पहले उन्हें दिखा ली जायें। प्रधान मंत्री के पास एक और खबर पहुँची, जिसमें कहा गया था कि गुजराल का विदेशी प्रचार माध्यमों पर कोई भी असर नहीं है और यह कि बी० बी० सी० ने इस खबर को बहुत ही ज़हर भरे ढंग से ब्रॉडकास्ट किया था।

धवन ने गुजराल को बड़ी रुखाई से टेलीफ़ोन किया, "प्रधान मंत्री आपसे मिलना चाहती हैं।"

जाने से पहले गुजराल ने सारी बातों की छानबीन कर ली और उन्हें पता चला कि जिस खबर के लिए बी० बी० सी० को दोषी ठहराया जा रहा था वह असल में पाकिस्तान से ब्रॉडकास्ट की गयी थी। उन्होंने श्रीमती गांधी को टेलीफ़ोन करके समझाया कि किसी से वहाँ तो कोई असर डालने की उम्मीद नहीं की जा सकती। उनका पारा कुछ नीचे उतरा। लेकिन जब गुजराल उनकी कोठी पर पहुँचे तो संजय गांधी बिलकुल आपे से बाहर बग़लवाले कमरे में से निकले।

संजय ने गरजकर कहा, "ऐसा लगता है कि आपको अपना मंत्रालय सँभालना नहीं आता। क्या आप उनको इतना भी नहीं बता सकते कि खबरें किस तरह पेश की जायें?"

गुजराल ने पूरी तरह अपने ऊपर क़ाबू रखा। "देखिये, मैं भी उतना ही परेशान हूँ, मुझे भी उतनी ही फ़िक्र है। लेकिन इसकी सफ़ाई मैं आपको नहीं देना चाहता।" उन्होंने बड़ी नरमी से संजय को झिड़क दिया और श्रीमती गांधी

से मिलने अंदर चले गये।

उन्होंने प्रधान मंत्री को पूरी तरह समझाया कि जो खबरें ऐन वक्त पर आती हैं उनके बारे में पहले से कुछ जान सकना नामुमकिन है, क्योंकि इन्हें एक पर्चे पर लिखकर खबरें पढ़नेवाले के पास उस वक्त भेजा जाता है जब बाक़ी खबरें पढ़ी जा रही होती हैं। जब खबर पहली बार पढ़ी गयी थी उस वक्त सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले के बारे में बस एक छोटा-सा ऐलान आया था। दुबारा जब हिंदी में खबर सुनायी गयीं उस वक्त तक और बहुत-सा ब्यौरा आ चुका था, इसलिए खबरें ज़्यादा विस्तार के साथ पढ़ी गयी थीं। सच तो यह है कि उस ख़बर को नये ढंग से लिखकर साढ़े चार बजे फिर रेडियो पर सुनाया गया था। श्रीमती गांधी चुपचाप सुनती रहीं।

लेकिन जिस दिन इमर्जेंसी की घोषणा की गयी उस दिन प्रधान मंत्री की सेक्रेटेरियट के ज्वाइंट सेक्रेटरी पी० एन० बहल ऑल-इंडिया रेडियो के न्यूज़-रूम में सुबह छः बजे ही पहुँच गये और वहाँ का सारा बंदोबस्त अपने हाथों में सँभाल लिया। सुबह छः बजे ही डायरेक्टर-जनरल चटर्जी के पास गुजराल का टेलीफ़ोन आया, जिसमें उन्होंने हिदायत दी, "प्रधान मंत्री का एक संदेश रिकार्ड करने के लिए एक टीम तैयार रखी जाये। लेकिन जब तक मैं न कहूँ तब तक भेजी न जाये।"

चटर्जी ने स्टेशन-डायरेक्टर बरुआ से संपर्क स्थापित किया और उनसे फ़ौरन दफ़्तर पहुँच जाने को कहा।

सात बजे गुजराल ने फिर टेलीफ़ोन किया।

"रिकार्डिंग के लिए टीम को प्रधान मंत्री की कोठी पर भेज दो। उनका संदेश आठ बजे वाली ख़बरों की बुलेटिन की जगह पढ़ा जायेगा।"

ख़बरों की बुलेटिन की जगह ?

तब जाकर चटर्जी का माथा ठनका कि कोई बहुत बड़ी बात होने वाली है। लेकिन वह दुविधा में फँसे हुए थे कि राष्ट्र के नाम प्रधान मंत्री के संदेश के ब्रॉडकास्ट के बारे में पहले से कोई ऐलान किया जाये या नहीं। वह सोच में पड़ गये कि अगर लोग रिकार्डिंग करके आठ बजे वाले बुलेटिन के वक्त तक न आये तो क्या होगा। फिर भी उन्होंने यह आदेश जारी कर दिये कि सभी सेवाओं में यह संदेश प्रसारित किया जाये और सभी स्टेशन एक साथ अपने यहाँ से उसे रिले करें। आठ बजने में दो मिनट रह गये थे जब हिंदी वाली टीम ने अपना काम पूरा कर दिया, उसके बाद अँग्रेज़ी में ब्रॉडकास्ट हुआ। ऐन वक्त पर सब-कुछ ठीक-ठाक हो गया। लेकिन इस बात पर ऐतराज़ किया गया कि इस रेडियो-भाषण के बारे में पहले से कोई ऐलान नहीं किया गया था। शारदाप्रसाद का डायरेक्टर-जनरल से संपर्क था लेकिन उन्होंने उनको कुछ बताया नहीं था। उन्होंने न्यूज़-रूमवालों को कुछ बताया था, इसलिए डायरेक्टर-जनरल ने अपनी समझ के हिसाब से फ़ैसला किया।

लेकिन मंत्रालय तो गुजराल का था और गुजराल के बारे में यह देखा गया था कि वह प्रचार के माध्यमों को क़ाबू में रखने के मामले में 'बेहद ढीले' हैं, ख़ास तौर पर अख़बारों के मामले में और उससे भी ज़्यादा ख़ास तौर पर उस रात जब इमर्जेंसी लागू की गयी थी। सभी अख़बारों के प्रेसों की बिजली काट देने का फ़ैसला किया गया था ताकि सुबह तड़के राष्ट्रीय नेताओं की जो गिरफ़्तारियाँ हुई थीं उनकी ख़बर किसी अख़बार में न छपने पाये; यह फ़ैसला

दिल्ली तक में पूरी तरह नहीं लागू हो सका। दिल्ली की अख़बारों वाली सड़क बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग में, जहाँ **इंडियन एक्सप्रेस टाइम्स ऑफ़ इंडिया, पैट्रियट** और **नेशनल हेराल्ड** के दफ़्तर हैं, बिलकुल अँधेरा था, लेकिन **स्टेट्समैन** और **हिंदुस्तान टाइम्स** को सुबह अपने सप्लीमेंट निकालने से नहीं रोका जा सका और उनमें गिरफ़्तारियों का पूरा ब्यौरा छपा। जनसंघ के दैनिक **मदरलैंड** ने, जिसको सबसे पहला निशाना बनाया जाना चाहिए था, झंडेवालान में अपने प्रेस से पूरा अख़बार निकाला, क्योंकि वह इलाक़ा 'बिजली फ़ेल होने' के क्षेत्र से बाहर था।

गुजराल के घर पर २६ जून की शाम को उनके कुछ दोस्त बैठे हुए थे कि इतने में प्रधानमंत्री की कोठी से टेलीफ़ोन आया कि उनको फ़ौरन बुलाया गया है। गुजराल का रंग फीका पड़ गया। रात को साढ़े नौ बजे उनकी छुट्टी कर दी गयी।

अगले दिन सुबह वह सोच रहे थे, "अब किसी भी समय वे चंद्रशेखर की तरह मुझे भी पकड़ने आ सकते हैं।"

वह जानते थे कि इन्दिरा गांधी को उनकी वफ़ादारी के बारे में शक हो गया था। इसकी एक वजह यह भी थी कि यह कहा जाता था कि वह १२ जून से २५ जून के बीच वाले पखवाड़े में केन्द्रीय कृषि तथा सिंचाई मंत्री बाबू जगजीवन राम से कई बार और चुपके-चुपके मिलने गये थे। यह वह वक़्त था जब इस सवाल पर बहस हो रही थी कि अगर सुप्रीम कोर्ट के आख़िरी फ़ैसले के इंतज़ार में श्रीमती गांधी कुछ दिन के लिए अपने पद से हट जायें तो उनकी जगह नेता किसको बनाया जाये। हर तरफ़ इस, सिलसिले में जगजीवनराम के ही नाम की चर्चा हो रही थी। लेकिन उस वक़्त श्रीमती गांधी लोगों की वफ़ादारी को बड़ी सख़्ती से परखने लगी थीं। गुजराल की दलील यह थी कि "अगर मैं उनसे मिला भी तो इसमें हर्ज ही क्या था? वह उनकी अपनी कैबिनेट के सदस्य थे, उनके अपने मन्त्री थे।"

पहले भी उन्हें इस बात पर ऐतराज़ हुआ था कि वह सामाजिक मेल-जोल के नाते भी दिनेशसिंह से क्यों मिलते थे, लेकिन यह मामला ज़्यादा संगीन था। इस बात से श्रीमती गांधी के साथियों के राजनीतिक सलूक-व्यवहार में भी एक बनावटीपन आ गया जिसकी वजह से उनके निजी रिश्ते भी बिगड़ गये। प्रधान मंत्री की हैसियत से उनके स्वभाव में जो यह नयी प्रवृत्ति पैदा हो गयी थी उसपर कांग्रेस के दूसरे नेताओं की तरह दिनेशसिंह भी उतना ही परेशान थे। उन्होंने कहा, "मेरी समझ में नहीं आता कि उनका सोचने का यह क्या ढंग हो गया है कि वह अपने पुराने मिलनेवालों की तनिक भी परवाह नहीं करतीं। उन्होंने राजनीति में कभी कोई निजी संबंध बनाकर नहीं रखे, लेकिन मैंने तो रखे हैं। पंडितजी की जयप्रकाश से कभी नहीं निभी, लेकिन उन्होंने फिर भी संबंध बनाये रखा। हमारा समाज बहुत उदार है। उसमें टकराव कराना कभी भी आसान नहीं होता।"

इन्दिरा गांधी ने बहुत कड़ी सीमाओं में जकड़ी हुई वफ़ादारी की कुछ ऐसी कसौटियों को बढ़ावा दिया, कि दूसरी सभी चीज़ों की तरह उन्होंने भी इमर्जेंसी के दौरान और भी उग्र रूप धारण कर लिया। सिर्फ़ कांग्रेस के प्रति वफ़ादारी ही काफ़ी नहीं थी; उस वफ़ादारी का सबूत निजी तौर पर उनके प्रति खुली वफ़ादारी के रूप में भी देना ज़रूरी था। अगर एक बार उनके मन में अपने किसी साथी के बारे में अविश्वास पैदा हो जाता तो अगर वह, मिसाल के लिए, किसी ऐसी दावत में जाने का निमंत्रण भी स्वीकार कर लेता जिसमें जगजीवनराम

मुख्य अतिथि होते, तो इसका मतलब भी यही लगाया जाता था कि वह आदमी वफ़ादार नहीं रह गया। गुजराल इमर्जेंसी के संकट से बाल-बाल बचकर निकल आये थे, लेकिन सिर्फ़ इसलिए कि राष्ट्रपति फ़खरुद्दीन अली अहमद[१७] ने श्रीमती गांधी से उनकी तरफ़ से पैरवी की थी। इमर्जेंसी का ऐलान होने के दो दिन बाद २८ जून को सुबह साढ़े नौ बजे गुजराल से योजना मंत्रालय में राज्य-मंत्री का भार सँभालने को कहा गया। उनको ऐसी जगह ढकेल दिया गया था जहाँ लगभग उनका कोई महत्त्व नहीं रह गया था। गुजराल ने भी इस्तीफ़ा नहीं दिया और श्रीमती गांधी भी अपनी ज़िद पर अड़ी रहीं। मार्च १९७६ में गुजराल को भारत का राजदूत बनाकर मास्को भेज दिया गया। कूटनीति के क्षेत्र में इसे एक सबसे ऊँचा पद समझा जाता था, लेकिन जहाँ तक श्रीमती गांधी का सवाल था, यह गुजराल को राजनीति से हटाने का काफ़ी कारगर हथियार था।

जो समस्याएँ कांग्रेस के संगठन को अंदर ही अंदर खोखला किये दे रही थीं उनमें सबसे उलझा हुआ अंदरूनी झगड़ा वह था जिसमें इन्दिरा गांधी, बहुगुणा,[१८] यशपाल कपूर और संजय अपनी-अपनी शतरंज की चालें चल रहे थे। एक भी कांग्रेसी ऐसा नहीं है, वह चाहे पार्टी के अंदर इन्दिरा-समर्थक गुट का हो या इन्दिरा-विरोधी गुट का, जो इस बात की मिसाल के तौर पर 'बहुगुणा के मामले' का हवाला न देता हो कि किस तरह श्रीमती गांधी हर उस आदमी पर बड़ी बेरहमी से दबाव डालती रहती हैं जो "होनहार हो, गुणी हो और जिसका भविष्य उज्ज्वल हो", भले ही वह आदमी उनके प्रति सोलह आने वफ़ादारी की क़सम क्यों न खाता हो। गुजराल ने यह बात कितनी ही बार कही है कि जिस बात से उनको सबसे ज़्यादा तकलीफ़ पहुँचती है वह यह है कि श्रीमती गांधी उनकी वफ़ादारी पर शक करती हैं; अगर वह कोई दूसरा इल्ज़ाम लगातीं तो समझ में आ सकता था।

श्रीमती गांधी की शिकायत यह रही है कि जिस किसी को भी उन्होंने सहारा दिया और आगे बढ़ाया उसने उनके साथ विश्वासघात किया। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति समझदार और उत्साही लोगों को चुनने की ओर रही है। लेकिन इस डर से कि वे उन पर हावी न हो जायें, उन पर से उनका भरोसा उठ जाता है।

इस सिलसिले में चन्द्रशेखर ने कहा, "शायद उनका यह सोचना बहुत ग़लत भी नहीं है। देखिये, उन सभी लोगों ने किस तरह उनका साथ छोड़ दिया है—ख़ास तौर पर उनके वामपंथी साथियों ने जो उनके पक्ष में सबसे बढ़कर बातें करते थे। अगर किसी को सज़ा देनी हो तो सबसे पहले इन्हीं लोगों को जेल भिजवाया जाना चाहिए।"

ज़ाहिर है, चन्द्रशेखर का इशारा बरुआ[१९], सिद्धार्थशंकर रे[२०] और चन्द्रजीत यादव की तरफ़ था, लेकिन श्रीमती गांधी ने भी इन लोगों को उतना ही इस्तेमाल किया था जितना कि इन लोगों ने श्रीमती गांधी का फ़ायदा उठाया था। बहुगुणा के साथ जो कुछ हुआ वैसा ही इससे पहले भी होता आया था। बहुगुणा में तड़क-भड़क बहुत थी, लेकिन संगठन बनाने में उन्हें कमाल हासिल था। १९६९ में वह इन्दिरा गांधी की तरफ़ से कांग्रेस के जनरल-सेक्रेटरी की हैसियत से काम कर चुके थे, और इसी के बदले में उन्हें केन्द्रीय सरकार में संचार का राज्य-मंत्री बना दिया गया था। बाद में उन्हें केन्द्र ने इस शर्त पर उत्तर प्रदेश का मुख्य मंत्री भी बना दिया था कि हर बात की आखिरी मंजूरी दिल्ली से ही लेनी पड़ेगी।

हेमवतीनंदन बहुगुणा बहुत चतुर आदमी थे—इतने चतुर कि उन्होंने हर बात मान ली, और साथ ही इतने चतुर कि उचित अवसर की ताक में रहे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र नेता की हैसियत से स्वतंत्रता से पहले की राजनीति से (१९४२ में वह जेल गये थे) उन्नति करते-करते वह एक अत्यन्त सशक्त तथा गतिवान व्यक्तित्व के मालिक बन गये थे और उनमें एक ऐसा गुण था कि वह हमेशा जीतने वाले पक्ष के साथ होते थे। इन्दिरा का पक्ष जीतने वाला पक्ष था, लेकिन उत्तर प्रदेश की राजनीति का मैदान इतना विस्तृत था कि उसे जीतने का लोभ भी कुछ कम आकर्षक नहीं था। बहुगुणा समझते थे कि इन दोनों बातों के बीच टकराव होना कोई ज़रूरी नहीं है। उन्होंने तो श्रीमती गांधी को जहाँ तक उन्होंने चाहा ऊपर चढ़ने दिया, पर श्रीमती गांधी इस बात के लिए तैयार नहीं थीं कि बहुगुणा का हौसला बहुत बढ़ने पाये। वह बहुगुणा के बारे में भी बहुत-कुछ वैसा ही अनुभव करती थीं जैसा कि कामराज[11] उस समय श्रीमती गांधी के बारे में अनुभव करते थे जब उन्होंने उनको प्रधान मंत्री बनने में सहायता दी थी—यानी आज्ञाकारिता के भी रूप बदलते रहते हैं।

१९६९ में जब बाबू जगजीवनराम कांग्रेस के अध्यक्ष बने थे उस समय बहुगुणा जनरल सेक्रेटरी थे। कांग्रेस के बँटवारे के बाद श्रीमती गांधी चाहती थीं कि वह उत्तर प्रदेश वापस चले जायें। इससे पहले कि वह कोई फ़ैसला कर पातीं बहुगुणा ने जगजीवनराम से यह ऐलान करवा दिया कि वह बहुगुणा को केन्द्रीय संगठन में उसी पद पर बरक़रार रखेंगे। इन्दिरा गांधी ने झल्लाकर कहा, "अब इनको देखिये, वहाँ से जाकर ऐलान करवा दिया।" वह एक बार फिर चिढ़ गयीं जब उन्होंने देखा कि १९७१ के लोकसभा के चुनावों में बहुगुणा बीस उम्मीदवारों को उससे ज़्यादा पैसा दे रहे थे जितना कि ऑल-इंडिया कांग्रेस कमेटी ने मंज़ूर किया था; शायद वह ऐसा उन्हें 'अपना आदमी' बनाने के लिए कर रहे थे। चुनाव के बाद एक बार बहुगुणा ने भी उसी हवाई जहाज़ पर, जिससे प्रधान मंत्री रायबरेली जा रही थीं, अपने लिए भी एक सीट का बंदोबस्त करवा लिया। जब श्रीमती गांधी ने यह सुझाव रखा कि वह केन्द्रीय सरकार में संचार के राज्य-मंत्री बन जायें तो बहुगुणा ने इन्कार कर दिया। श्रीमती गांधी ने अनुरोध किया, "पहले कुछ काम कर लो, तरक़्क़ी बाद में हो जायेगी।" बहुगुणा फिर भी नहीं माने।

जब श्रीमती गांधी ने रायबरेली में यह बात उमाशंकर दीक्षित[12] और दूसरे लोगों को बतायी तो यशपाल कपूर ने एक ऐसी बात कह दी जिसने उनके मन में अविश्वास का पहला बीज बो दिया। यशपाल कपूर ने कहा, "उन्होंने आपकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ काम किया है।"

महीने भर तक बहुगुणा चुप्पी साधे रहे।

इसी बीच श्रीमती गांधी को बताया गया कि बहुगुणा ने राजनारायण[13] से उनके ख़िलाफ़ वह चुनाव याचिका दायर करवा दी है, जिसकी अब इतनी चर्चा है। यह हो सकता है कि राजनारायण के साथ उनका सम्बन्ध वैसा ही रहा हो जैसा चन्द्रभानु गुप्त का था, जिन्होंने मुख्य मंत्री की हैसियत से उत्तर प्रदेश में सोशलिस्ट पार्टी को हमेशा अपनी जेब में रखने की कोशिश की थी। सच तो यह है कि जिस दिन यह याचिका दायर की गयी थी उसी दिन सवेरे बहुगुणा ने बहुत घबराकर लखनऊ से दिल्ली टेलीफ़ोन किया था।

यह सुनकर श्रीमती गांधी के एक और घनिष्ठ विश्वासपात्र एन० के० शेषन्

ने यशपाल कपूर से सम्पर्क किया और कहा, "बहुगुणा ने अभी प्रधान मंत्री को टेलीफ़ोन किया था और उन्हें बताया कि राजनारायण ने याचिका दायर कर दी है। उन्होंने यह भी जानना चाहा कि हमारी तरफ़ से कोई वकील किया गया है या नहीं।"

"जब तक अदालत सम्मन न भेजे तब तक हम कुछ नहीं कर सकते," यशपाल कपूर ने जवाब दिया और साथ ही यह भी कहा, "शेषन्, उन्होंने टेलीफ़ोन चुनाव याचिका के बारे में नहीं किया था। वह अपना कोई काम निकालना चाहते हैं।"

जब शेषन् ने प्रधान मंत्री को यशपाल कपूर की प्रतिक्रिया के बारे में बताया तो वह हँस दीं। बहुगुणा को दिल्ली बुलवाने का फ़ैसला किया गया।

उसी दिन सुबह तीन सौ मील दूर टेलीफ़ोन पर बहुगुणा को यशपाल कपूर की भारी आवाज़ सुनायी दी, "गुरुदेव, बुलावा है, आ जाइये।"

अगले दिन बहुगुणा आ गये। इतवार का दिन था। उस दिन इन्दिरा गांधी कोशिश करती थीं कि जहाँ तक हो सके किसी से न मिलें। लेकिन इस मामले में जिस तरह तिकड़मबाज़ी हो रही थी और जिस तरह दोनों तरफ़ से अहंकार का टकराव हो रहा था, वह केवल इस बात का नमूना था कि आगे चलकर यही चीज़ विकृत होकर इमर्जेंसी के दौरान क्या रूप धारण कर लेने वाली थी।

बहुगुणा ने प्रधान मंत्री की कोठी पर टेलीफ़ोन किया। ड्यूटी पर जो पी० ए० था उसने यशपाल कपूर को बताया। यशपाल कपूर ने उससे कह दिया कि बहुगुणा को टेलीफ़ोन करते रहने दो। हर आधे घंटे बाद बहुगुणा का टेलीफ़ोन आता रहा, यहाँ तक कि शाम के साढ़े सात बज गये। आख़िरकार बहुगुणा को गुस्सा आ गया। उन्होंने डपटकर कहा, "प्रधान मंत्री ने मुझे यहाँ बुलाया है। अगर आप उन्हें बतायेंगे नहीं तो वह यही समझेंगी कि मैं आया ही नहीं।"

यशपाल कपूर ने पी० ए० से कहा कि टेलीफ़ोन उन्हें दें और पूछा, "आपको किसने टेलीफ़ोन किया था?"

बहुगुणा ने झल्लाकर कहा, "तुमने किया था।"

"तो फिर आपने मुझे टेलीफ़ोन क्यों नहीं किया?"

इसके बाद यशपाल कपूर ने प्रधान मंत्री को सूचना दी। उन्होंने कह दिया कि बहुगुणा पहले उमाशंकर दीक्षित से मिल लें।

यशपाल कपूर ने संदेश बहुगुणा तक पहुँचा दिया, "जाइये, जाकर भीष्म पितामह[४] से मिल लीजिये।"

महाभारत के इस प्रसंग का संकेत दीक्षित जी की ओर था। ऐसा लगता है कि सत्ता की इस खींचातानी में भी लोग आपस में हँसी-मज़ाक करने से बाज़ नहीं आते थे।

जब आख़िरकार बहुगुणा की श्रीमती गांधी से मुलाक़ात हुई तो उन्होंने फिर उनके सामने संचार मंत्रालय के राज्य-मंत्री बनने का सुझाव रखा। इस बार बहुगुणा मान गये।

१९७३ का साल ख़त्म होते-होते उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री की हैसियत से कमलापति त्रिपाठी[५] की लहर बिलकुल उतर चुकी थी। उनके बेटे के ख़िलाफ़ तरह-तरह की शिकायतें थीं और लोगों में आम असंतोष था। वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। नये चुनाव होने थे। प्रधान मंत्री की कोठी पर लगातार मीटिंगें चल रही थीं। सुझाव तो बहुत-से रखे गये, लेकिन यशपाल कपूर के सुझाव अमली थे।

उन्होंने प्रधान मंत्री से कहा, "अगर आप त्रिपाठीजी को वहाँ रखेंगी तो हम जीत नहीं सकते।"

"फिर किसे रखा जाये ?" उन्होंने पूछा।

"बहुगुणा को मुख्य मंत्री बना दीजिये।"

"तुम तो जानते हो, वह किस तरह के आदमी हैं," श्रीमती गांधी ने कहा।

"मैं जानता हूँ कि वह तिकड़मी हैं," यशपाल कपूर ने हामी भरी।

"कोई नहीं कह सकता कि आगे चलकर वह क्या कर बैठें," श्रीमती गांधी ने फिर कहा।

"वह आपकी मुट्ठी में होंगे," यशपाल कपूर बोले, "आप जो चाहेंगी कर सकेंगी।"

बहुगुणा अब बताते हैं कि उस समय तक संजय ने मंत्रियों के बीच अपनी धाक जमाना शुरू कर दिया था, जिसका मतलब यह है कि बहुगुणा के दिल्ली से हटाये जाने की एक वजह यह थी कि संजय उनसे नाराज़ था। पिछली बातों को दोहराते हुए उन्होंने बताया कि उन्होंने अपने मंत्रालय में सबके लिए यह आदेश जारी कर दिया था कि जो भी दिल्ली में दस साल से ज़्यादा से हो उसे यहाँ से बदलकर कहीं और भेज दिया जाये। इस बार की चोट संजय के एक इंजीनियर दोस्त पर भी पड़ती थी; प्रधान मंत्री का बेटा चाहता था कि वह दिल्ली में ही रहे। बहुगुणा ने कहा कि वह ऐसा खुला पक्षपात नहीं कर सकते, और उस इंजीनियर को यहाँ से जाना पड़ा। बहुगुणा बताते हैं, "जैसे ही मैंने मंत्रालय छोड़ा, वह फिर यहाँ वापस आ गया। मैं उत्तर प्रदेश कभी जाना ही नहीं चाहता था, मुख्य मंत्री की हैसियत से भी नहीं।"

असल में, उन्हें उप-मुख्य मंत्री बनाने की बात कही गयी थी, लेकिन उन्होंने इंकार कर दिया था। आख़िरकार जब उन्हें समझा-बुझाकर राज़ी किया गया तो कमलापति त्रिपाठी ने उन्हें लेने से इंकार कर दिया। परिस्थिति का विकास जिस ढंग से हुआ उससे तो ऐसा लगता है कि बात यह नहीं थी कि पहले से सोची-समझी किसी योजना के अनुसार श्रीमती गांधी की ओर से केन्द्रीय नियंत्रण स्थापित करने के उद्देश्य से जान-बूझकर कुछ चालें चली जा रही थीं, बल्कि इससे ज़्यादा सच बात यह थी कि घटनाओं का क्रम संयोगवश एक दिशा में आगे बढ़ रहा था। लेकिन असली कसौटी निश्चित रूप से यही थी कि जो कुछ भी हो वह उनकी मर्ज़ी से हो। उत्तर प्रदेश के विधायक दल का बीच में कोई दख़ल ही नहीं था। मुख्य मंत्री किसे बनाया जाये, इस सिलसिले में जो भी क़दम उठाया जाता था उसका फ़ैसला दिल्ली में कुछ गिने-चुने लोग आपस में बैठकर कर लेते थे। जिन लोगों को दिल्ली में चुन लिया जाता था उनसे उम्मीद यह की जाती थी कि वे अपने राज्य के विधायकों की रस्मी मंजूरी ले लेंगे, क्योंकि वे तो हमेशा हर फ़ैसले पर अपनी मुहर लगा देने को तैयार ही बैठे रहते थे। क़ायदे-क़ानून के हिसाब से दिखावे के लिए कार्रवाइयाँ सभी पूरी की जाती थीं, लेकिन असल में फ़ैसला करने का सारा काम केन्द्र ने अपने हाथों में ले लिया था।

फ़ैसला यह किया गया कि नारायणदत्त तिवारी[१६], जो उन दिनों उत्तर प्रदेश कांग्रेस विधायक दल के चीफ़ ह्विप थे, उत्तर प्रदेश के गवर्नर के पास यह माँग करते हुए एक नोट लेकर जायेंगे कि चुने हुए प्रतिनिधियों की सरकार फिर से स्थापित की जाये। त्रिपाठीजी को ही दुबारा मुख्य मंत्री बनाया जाना था और अगले दिन सुबह वह उमाशंकर दीक्षित और शंकरदयाल शर्मा[१७] की सलाह से

यह फ़ैसला करने वाले थे कि उनके मंत्रिमंडल में किसे-किसे रखा जाये। लेकिन उसी दिन रात को यशपाल कपूर ने प्रधान मंत्री के दिमाग़ में एक और संशय का बीज वो दिया, जिसकी वजह से पूरा नक़्शा ही बुनियादी तौर पर बदल गया। उनके लिए ज़रूरी नहीं था कि वह यशपाल कपूर की बात पर ध्यान देतीं, लेकिन इस बात से कि उन्होंने यशपाल कपूर के सुझावों को मान लिया यही पता चलता है कि खुद उनके मन में क्या-क्या संदेह थे। यशपाल कपूर ने श्रीमती गांधी को एक छोटा-सा पर्चा लिखा : "त्रिपाठी जी मुख्य मंत्री तो बन जायेंगे, लेकिन जब वह अभी आपकी बात नहीं मानते तो आगे चलकर तो न जाने क्या करेंगे ?"

प्रधान मंत्री ने नारायणदत्त तिवारी को मना कर दिया कि जब तक उन्हें नया आदेश न मिले तब तक वह गवर्नर के पास पत्र लेकर न जायें। अगले दिन वह हवाई जहाज़ से केरल चली गयीं। नारायणदत्त तिवारी ने लखनऊ से त्रिपाठीजी को टेलीफ़ोन करके उन्हें बताया कि उस समय स्थिति क्या थी। उसी दिन सुबह शंकरदयाल शर्मा और दीक्षितजी ने त्रिपाठी से पूछा कि वे कब आ जायें। त्रिपाठीजी जले-भुने बैठे थे। उन्होंने कहा, "मिनिस्ट्री-विनिस्ट्री नहीं बनेगी। मैं बनारस जा रहा हूँ। अगर उन्हें मेरी ज़रूरत हो तो मुझे बुलवा लें।"

शर्मा और दीक्षित ने प्रधान मंत्री को केरल टेलीफ़ोन किया। "अगर वह नाराज़ हैं तो नाराज़ रहें, मैं यहाँ से क्या कर सकती हूँ ?" बस इतना कहकर उन्होंने टेलीफ़ोन रख दिया।

बहुगुणा मुख्य मंत्री बन गये।

इसके फ़ौरन ही बाद १९७४ के विधानसभा के चुनावों के समय ही बहुगुणा पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने जान-बूझकर उन उम्मीदवारों को हरवा दिया था "जिनके बारे में यह समझा जाता था कि उनकी वफ़ादारी सीधे दिल्ली के साथ है।" यह एक अनोखा विचार था; आख़िर 'दिल्ली के साथ वफ़ादारी' का मतलब क्या था ?

एक वफ़ादार कांग्रेसी ने पूरे दावे के साथ इसका मतलब समझाते हुए कहा, "इन्दिरा गांधी के लिए वफ़ादारी। आप तो जानती ही हैं, उस तरह के लोग जो कहते हैं कि 'हम तो कांग्रेस में इन्दिराजी की वजह से हैं।' "

"और पार्टी के साथ वफ़ादारी ?" मैंने उनसे पूछा।

"हाँ, वह तो है ही, लेकिन एक निजी लगाव भी होता है, आप किस नेता को पसन्द करते हैं। यह राजनीति का, इस दलबंदी का एक हिस्सा है। इसे मानना ही पड़ता है। सच पूछिये तो आख़िर सी० बी० गुप्ता-ग्रुप क्यों था, त्रिपाठी-ग्रुप क्यों है ?"

सचमुच, क्यों है ? जो लोग नेहरू को चाहते थे और जो पटेल[१६] को चाहते थे, वे दोनों ही कांग्रेस के अन्दर क्यों थे ? लेकिन वह एक ऐसा ज़माना था जब कांग्रेस को इस बात की ज़रूरत थी कि उसके अन्दर अलग-अलग विचार, अलग-अलग विचारधाराएँ अलग-अलग ध्रुवों पर केन्द्रित हो जायें, इसलिए अलग-अलग दिशाओं में बहने वाली धाराओं का होना अनिवार्य था। १९६९ के बाद जब इन्दिरा गांधी ने वामपंथ की ओर झुकाव को सिद्धांत का सवाल बना लिया और उन्हें इतना ज़बर्दस्त समर्थन मिला तब पार्टी को केवल एक कार्यक्रम के आधार पर एकताबद्ध रखा जा सकता था। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि बाँगला देश के युद्ध और उसके बाद की घटनाओं[१७] में दो साल निकल गये। लेकिन १९७३ के महीने सचमुच परीक्षा की घड़ी थे। लेकिन १९७४ में ही जोड़-

तोड़ की राजनीति का खेल शुरू हो गया था; लोग उसमें ज्यादा उग्रता के साथ जूझ रहे थे और तनाव बढ़ता जा रहा था जिसकी वजह से आगे चलकर पार्टी के काम करने के ढंग की ऐसी दुर्गति हुई।

उत्तर प्रदेश में जो कुछ हो रहा था उसका बहुगुणा शिकार भी बन रहे थे और कांग्रेस के बाक़ी नेताओं की तरह उसमें खुद उनका हाथ भी था। 'दिल्ली' को विधानसभा के चुनाव में २८० सीटें जीतने की उम्मीद थी; बहुगुणा के बारे में कहा जाता है कि वह जान-बूझकर चाहते थे कि कांग्रेस २१६ से ज्यादा सीट न जीते, ताकि पार्टी कमज़ोर रहे और सत्ता की बागडोर बहुगुणा के हाथों में बनी रहे। अगर उसके बाद उन्हें हटाने की कोशिशें की गयीं तो 'उनका गुट' विद्रोह कर देगा और कांग्रेस का मंत्रिमंडल टूट जायेगा। 'दिल्ली' के लिए इस तरह की बात महसूस करना और बहुगुणा के लिए ऐसी योजना को पूरा करने की बात सोचना—दोनों ही इस बात के संकेत थे कि दो ही वर्ष बाद पार्टी का क्या अंजाम होने वाला है।

१९७४ में बिड़ला के सवाल पर जो टक्कर हुई उसमें अलबत्ता सिद्धांत की लड़ाई का कुछ रंग था। (उत्तर प्रदेश से राज्यसभा के चुनाव के लिए) 'दिल्ली' राजनारायण के ख़िलाफ़ एक स्वतंत्र उम्मीदवार के रूप में के० के० बिड़ला* का समर्थन करना चाहती थी, जो १९७२ में एक और उद्योगपति बी० आर० मोहन के ख़िलाफ़ चुनाव हार चुके थे। पहले उन्होंने प्रकाश महरोत्रा नामक किसी आदमी का सुझाव रखा था, लेकिन इस पर बहुगुणा ने बड़ी सख़्ती से जवाब दिया था, "क्या, शक्कर-सेठों का आदमी? मैं उसे नहीं चाहता।" उन्होंने दूसरी पसंद के बारे में प्रधान मंत्री को अस्पताल से संदेश भेजा, जहाँ वह बीमार पड़े थे।

"के० के० बिड़ला जीत नहीं सकते।"

"कोशिश कर देखने में क्या हर्ज है?" यशपाल कपूर ने कहा जो इस पूरे मामले में प्रमुख भूमिका निभा रहे थे।

यशपाल कपूर प्रधान मंत्री की मंजूरी लेकर लखनऊ गये और वहाँ उन्होंने विपक्ष के इतने विधायकों को तोड़ लिया कि अगर गुप्त मतदान होता तो बिड़ला जीत जाते। लेकिन ऐन वक़्त पर बहुगुणा लौट आये और उन्होंने अपने पहरेदार तैनात कर दिये और मतदान खुला करना पड़ा। जब बहुगुणा खुद वोट देने गये तो उन्होंने सबके सामने राजनारायण को गले लगाकर बड़े तपाक से कहा, "आप तो हमारे दोस्त हैं ही!" बिड़ला हार गये और अगले दिन बहुगुणा ने विधानसभा में एक भाषण दिया जिसमें उन्होंने कहा कि मैं जो कुछ करना चाहता हूँ उसमें पूँजीपतियों के लिए कोई जगह नहीं है। यहीं से उस प्रवृत्ति के साथ टकराव शुरू हुआ जिसका प्रतीक संजय थे और जो समाजवाद-विरोधी, व्यापार तथा कारोबार की खुली छूट और मल्टीनेशनल कंपनियों का पक्ष लेने वाली प्रवृत्ति का रूप धारण करती जा रही थी। बहुगुणा ने न केवल इस बात का सबूत दिया था कि वह वामपंथी गुट को ज्यादा पसंद करते हैं, बल्कि 'दिल्ली' के मुक़ाबले में अपनी ताक़त का भी सबूत दे दिया था। यही आख़िरकार उनके पतन की शुरुआत थी, और शायद आगे चलकर कांग्रेस फ़ॉर डेमोक्रेसी की स्थापना की दिशा में पहला क़दम भी यही था।

बहुगुणा का आरोप है, "वह नहीं चाहती थीं कि मेरे पाँव वहाँ जमने पायें। गवर्नर अकबर अली ख़ाँ को इसीलिए हटाया गया कि उनके साथ मेरी अच्छी

निभती थी। बी० एन० कुरील[11] को प्रदेश कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष बनाया गया, लेकिन उन्हें भी इसलिए हटा दिया गया कि वह मुझसे झगड़ा करने को तैयार नहीं थे। फिर लक्ष्मीशंकर यादव[12] प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष बनाकर भेजे गये; चुनाव के बजाय अब लोग ऊपर से तैनात किये जाने लगे। फिर मोहसिना क़िदवई[13] आयीं। ठीक है, लेकिन उन्हें चुनवाया क्यों नहीं जा सकता था? इन्दिराजी धीरे-धीरे 'हम' की जगह 'मैं' का इस्तेमाल करने लगी थीं।"

मैंने बहुगुणा को बताया, "आपके ख़िलाफ़ एक शिकायत यह थी कि आप अधिकृत उम्मीदवारों के ख़िलाफ़ काम करते थे।"

"तो उन्होंने जाँच कमेटी क्यों नहीं बिठा दी? अजीब बात है। जिसे कहते हैं 'अजीब राज़ है, न गवाह है, न दलील है, न वकील।' "

बाद में चलकर सत्ता की खींचातानी के इस खेल में तांत्रिक कर्मकांड का भी दख़ल होने लगा। स्वामी पूर्णानन्द इलाहाबाद के किसी मंदिर के पुजारी थे। वह और उनके दो भाई तांत्रिक हैं, और चौथा भाई आयुर्वेदिक चिकित्सा करता है।

बहुगुणा स्वामी पूर्णानन्द को इलाहाबाद से जानते थे। जब वह मध्य प्रदेश में सतना में जाकर बस गये तो बहुगुणा अकसर वहाँ जाते थे। यशपाल कपूर का कहना है, "हमें उनके वहाँ जाते रहने की ख़बर तो मिलती रहती थी लेकिन हमने उसको कोई ख़ास अहमियत नहीं दी। वह निजी तौर पर वहाँ जाते थे और मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री तक को इसकी सूचना नहीं दी जाती थी। बाद में जाकर तरह-तरह की अफ़वाहें हमारे कानों तक पहुँचने लगीं कि वह श्रीमती गांधी को गिराने के लिए तांत्रिक पूजा करा रहे हैं, ताकि वह ख़ुद प्रधान मंत्री बन सकें।" राजनीति के अखाड़े में जो कुछ हो रहा था उसका यह एक ऐसा पहलू था जिस पर आसानी से यक़ीन नहीं होता था। यशपाल कपूर का कहना है कि उन्होंने सच्चाई का पता लगाने के लिए ख़ुद अपने एक आदमी चन्द्र स्वामी को पूर्णानन्द से भेद लेने के लिए भेजा। इस तरह उन लोगों को मालूम हुआ कि पूर्णानन्द का छोटा भाई मैहर के एक मशहूर मन्दिर के पास कोई तांत्रिक यज्ञ करा रहा है। बहुगुणा, उनके बेटे विजय और उनके एक दोस्त रामाधार पांडे ने क्रमश: श्रीमती गांधी, संजय और आर० के० धवन पर दुर्भाग्य के प्रकोप का माध्यम बनने का संकल्प लिया था।

बहुगुणा बड़े तिरस्कार के साथ इसकी रत्ती-रत्ती बात से इंकार करते हैं। "एक ही स्वामी है जिसके पास मैं कभी गया हूँ, और वह मेरे परिवार का मित्र है जिसने १९६५ में मेरी दिल की बीमारी का इलाज किया था। मैंने सतना वाली इस घटना के बारे में श्रीमती गांधी को लिखा, लेकिन ज़ाहिर है कि उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया।"

यह उस संदेह की एक धुंधली-सी भूमिका थी जो प्रधान मंत्री की कोठी में धीरे-धीरे पनप रहा था कि जस्टिस सिन्हा[14] के साथ मिलकर बहुगुणा श्रीमती गांधी के ख़िलाफ़ कोई साज़िश कर रहे हैं। कहा जाता है कि बहुगुणा ने जून १९७५ के महत्त्वपूर्ण महीने के पहले हफ़्ते में सतना में किसी पार्टी में कहा था, "अरे, अब तो वह छ: साल के लिए जा रही हैं। कपूर मेरे ऊपर इल्ज़ाम लगाता है कि मैं जज की मिलीभगत से इन्दिरा जी को मिटा देना चाहता हूँ—मैं तो कपूर को मिटा दूँगा।"

और फिर १२ जून १९७५ को फ़ैसला आ गया। उसके बाद बहुगुणा ने जो

कुछ भी कहा या जो कुछ भी किया उसका श्रीमती गांधी पर कोई असर नहीं पड़ा। उनके मन में बहुगुणा के बारे में जो एक गाँठ पड़ गयी थी वह एक ऐसी दीवार की तरह थी जिस पर वह अपना सिर पटकते रहे, पर कुछ नहीं हुआ। उसी साल अगस्त में संजय ने अपने एक साथी को बताया कि बहुगुणा का पत्ता जल्दी ही साफ़ हो जायेगा और उसके बाद उत्तर प्रदेश की राजनीति क़ाबू में आ जायेगी। उस वक़्त तक संजय अपनी माँ की राय को काफ़ी दावे के साथ ज़ाहिर करने लगा था।

उन दिनों हरचरणसिंह जोश युवक कांग्रेस के अध्यक्ष थे। वह ५ अगस्त को उत्तर प्रदेश के दौरे पर गये। वहाँ से लौटकर उन्होंने संजय को बताया कि लोग इमर्जेंसी के खिलाफ़ और श्रीमती गांधी के ख़िलाफ़ बातें करते हैं। संजय ने कहा कि बहुगुणा हम लोगों की पीठ में छुरा भोंक रहे हैं। संजय ने जोश से उत्तर प्रदेश के मामलात के बारे में यशपाल कपूर से बात करने को कहा।

जोश ने बहुगुणा को संजय से मिल लेने के लिए राज़ी करने की कोशिश की। बहुगुणा ने जवाब दिया, "मैं पंडितजी और इन्दिराजी के साथ काम कर चुका हूँ। मैं उस लड़के के पास नहीं जा सकता जो मेरे बेटे के बराबर है।" लेकिन किसी तरह जोश उन्हें मारुति के कारखाने में ले जाने में कामयाब हो गये। उन्होंने कारख़ाने में टेलीफ़ोन किया और संजय वहाँ मिल गया। टेलीफ़ोन पर बहुगुणा ने अभी इतना ही कहा था कि "संजयजी, मैं मिलना..." कि टेलीफ़ोन कट गया।

जोश का कहना है, "मालूम नहीं ऐसा जान-बूझकर किया गया था या नहीं, लेकिन मैं आधे घंटे तक टेलीफ़ोन मिलाने की कोशिश करता रहा, और उधर से यही जवाब मिलता रहा कि संजय कारख़ाने के अन्दर हैं और वहाँ टेलीफ़ोन नहीं जा सकता।"

२७ नवम्बर को बहुत सुबह मारुति के दफ़्तर में बहुगुणा की आख़िरकार संजय से मुलाक़ात हुई। जब वह वहाँ से बाहर निकले तो उनके चेहरे का रंग उड़ा हुआ था। उसके बाद वह बनावटी जोश दिखाते हुए मुहम्मद यूनुस[५] को प्रधान मंत्री के विशेष दूत नियुक्त होने की बधाई देने के लिए फूलों का एक बड़ा-सा गुलदस्ता लेकर उनकी कोठी पर गये। लेकिन इसके साथ ही वह एक फ़रियाद लेकर भी गये थे—"यूनुस भाई, आप कुछ नहीं कर सकते?" यूनुस ने लाचारी ज़ाहिर कर दी, और बाद में एक दोस्त से, जो वहाँ पर मौजूद थे, चुपके से कहा, "बहुगुणा को मैं बहुत पसंद करता हूँ, लेकिन अब उनका चलचलाव है, मैं कर ही क्या सकता हूँ? उन्हें यशपाल कपूर को इतना सिर पर नहीं चढ़ाना चाहिए था।"

उसी दिन शाम को बहुगुणा से इस्तीफ़ा दे देने को कह दिया गया।

सबके सामने वह अपने माथे पर शिकन भी नहीं आने देते थे। वह कहते थे, "हाई कमांड ने मुझे उत्तर प्रदेश भेजा था; वह चाहे तो मुझे वापस बुला सकता है। मुझे कोई शिकायत नहीं है।"

लेकिन सेंसर को फ़ौरन हिदायत जारी कर दी गयी थी—"लखनऊ से बहुगुणा के बारे में जो भी ख़बर आये उसे पहले सेंसर करा लिया जाये। सिर्फ़ घटनाओं के बारे में जानकारी छापी जाये।" मंशा यह थी उनके बारे में कोई भी ख़बर न छापी जाये। बहुगुणा ने बहुत ग़ुस्से में आकर अपने एक दोस्त से कहा,

"जब चुनाव का वक़्त आयेगा तब देखेंगे कि ये लोग क्या करते हैं। तब मैं इन्हें बता दूंगा।"

बहुगुणा का कहना है कि २९ नवम्बर १९७५ से १८ जनवरी १९७७ तक, जिस दिन श्रीमती गांधी ने चुनाव कराने का ऐलान किया था, उन्होंने उनके पास सात ख़त भेजे जिनमें उन्होंने यह कोशिश की कि अगर श्रीमती गांधी के दिमाग़ में कोई ग़लतफ़हमियाँ हों तो वे दूर कर दी जायें। उन्हें एक भी ख़त का जवाब नहीं मिला। उन्होंने अड़तीस बार श्रीमती गांधी से मिलने की कोशिश की। १८ जनवरी को उन्होंने श्रीमती गांधी को एक तार भेजकर चुनावों के दौरान हर तरह की मदद और सहयोग देने की बात कही। इसका भी कोई जवाब नहीं आया। जब कभी बहुगुणा की उनसे मुलाक़ात हुई भी और उन्होंने कोई सफ़ाई देने की कोशिश की तो श्रीमती गांधी ने उनसे यही कहा कि दूसरे लोग तो इसकी उल्टी ही बात कहते हैं। बहुगुणा की तरफ़ से सब-कुछ दाँव पर लगाकर उस संगठन में बने रहने की यह आखिरी कोशिश थी जिसमें बढ़कर वह यहाँ तक पहुँचे थे, और श्रीमती गांधी में अब भी जो चमत्कार बाक़ी था उसके साथ वह नाता जोड़े रखना चाहते थे। बहुगुणा की हालत संगठन में डूबते हुए, आख़िरी साँसें लेते आदमी जैसी थी, या यह राजनीति के उन महारथियों जैसी हठधर्मी थी जो कभी हार नहीं मानना चाहते। बहरहाल, सभी लोग यह महसूस करने लगे थे कि संगठन को श्रीमती गांधी के हाथों में उनकी निजी जागीर की तरह नहीं छोड़ा जा सकता। बहुगुणा ने यहाँ तक किया कि १४ जनवरी को जब वह कुंभ मेले में गयीं तो इलाहाबाद के हवाई अड्डे पर वह अपनी पत्नी कमला के साथ लाइन में खड़े रहे। लेकिन जब श्रीमती गांधी ने उन्हें देखा तो अपना मुँह फेर लिया।

दिल्ली में आर० के० धवन की साख यह बनती जा रही थी कि वह इमर्जेंसी का एक खंभा हैं। उन्होंने इस मामले को सुलझाने की बहुत कोशिश की। एक बार जब कमला बहुगुणा ने श्रीमती गांधी से मिलने के लिए समय माँगा तो धवन ने उनके प्राइवेट सेक्रेटरी को टेलीफ़ोन पर ही बता दिया, "मैं जानता हूँ कि प्रधान मंत्री उनसे मिलना नहीं चाहतीं, लेकिन उनसे कह दीजिये कि आ जायें, मैं उन्हें प्रधान मंत्री के पास ले जाऊँगा।" धवन का कहना है कि हाई कमांड के बारे में इस तरह के क़िस्से फैलाये जाने के बावजूद कि वहाँ तक किसी की पहुँच नहीं थी, उन्होंने अपनी तरफ़ से उन लोगों को जो प्रधान मंत्री से मिलना चाहते थे इसका पूरा मौक़ा देने की कोशिश की थी।

वहाँ की व्यवस्था कुछ इस तरह काम करती थी—प्रधान मंत्री से मुलाक़ात एन० के० शेषन् तय करते थे, जो बोलते बहुत नरमी से थे लेकिन अपनी बात से आसानी से टलते नहीं थे। धवन की तरह वह भी श्रीमती गांधी के प्राइवेट सेक्रेटरी थे पर उनसे सीनियर थे। नेहरू के ज़माने से ही वह प्रधान मंत्री के साथ काम करते आये थे। शेषन् सुबह ८ बजे १ सफ़दरजंग रोड पहुँच जाते और ९ बजे तक प्रधान मंत्री के दफ़्तर के लिए रवाना हो जाते। शाम को वह फिर कोठी पर लौट आते। दिन-भर जितने लोगों की ओर से मुलाक़ात की प्रार्थना आती उनकी सूची प्रधान मंत्री को शाम को दिखायी जाती और उसी बुनियाद पर शेषन् लोगों को मिलने का समय दे देते। श्रीमती गांधी जिनसे मिलना चाहती थीं उनके नाम पर निशान लगा देती थीं। जो अफ़सर मिलना चाहते थे वे पी० एन० धर की मारफ़त जाते थे, जो प्रधान मंत्री के मुख्य प्राइवेट सेक्रेटरी थे; उनका पद भारत सरकार के सेक्रेटरी के पद के बराबर था। लेकिन तरीक़ा उनके सिलसिले में भी

यही था। उनके नाम भी शेषन् के ज़रिए ही औपचारिक तौर पर मुलाक़ात का वक़्त तय करने के लिए भेजे जाते थे। धवन के ज़िम्मे प्रधान मंत्री की कोठी थी। धवन का कहना है कि मुख्य मंत्री और मंत्री वहाँ पहले से टेलीफ़ोन किये बिना ही आ धमकते थे।

"जब भी प्रधान मंत्री कहीं यात्रा पर जाती थीं तो मैं कभी उनके साथ नहीं गया। जब वह संसद जाती थीं तो संसद-सदस्य उनसे वहीं मिल लेते थे। मैं कभी संसद भवन नहीं गया था। वहाँ मेरी कोई मेज़ तक नहीं थी। फिर मेरा मुख्य मंत्रियों को उनसे मिलने से रोकने का सवाल ही कहाँ उठता है? सच तो यह है कि उनमें से कुछ लोग मुझसे कहते थे कि मैं शेषन् से कहकर मुलाक़ात तय करा दूँ। सेक्रेटेरियट के कुछ अफ़सरों को मुझसे यह शिकायत थी कि मैं ज़रूरत से ज़्यादा लोगों को प्रधान मंत्री से मिला देता हूँ। उनका कहना था कि हर ऐरा-ग़ैरा जाकर मिल आता है। अख़बार वालों के आने की बिलकुल मनाही थी। उन्होंने कभी किसी अख़बार वाले को यहाँ नहीं आने दिया। सुबह जब वह लोगों से मिलती थीं उस वक़्त अलबत्ता यह मेरे हाथ में होता था कि मैं किसी को लाकर उनसे मिलवा दूँ।"

चुनाव में हार के बाद भी श्रीमती गांधी १ सफ़दरजंग रोड के लॉन पर लोगों से मिलती रहीं; एक बार ऐसा हुआ कि एक आदमी उनके पास पहुँच गया और अपना दुखड़ा रोने लगा कि इमर्जेंसी के दौरान जो धाँधलियाँ हो रही थीं उनके बारे में वह उन्हें चेतावनी देना चाहता था पर वह कभी धवन से आगे तक पहुँच ही नहीं पाया। धवन श्रीमती गांधी के ठीक पीछे खड़े थे, लेकिन वह आदमी उन्हें पहचानता तक नहीं था। शायद उसने प्रधान मंत्री को जो पत्र लिखा था उसका जवाब धवन ने दिया था और ज़ाहिर है, वहीं से उसे धवन का नाम मालूम हुआ होगा।

यह घटना बयान करते हुए धवन ने कहा, "यह तो रही मेरे रुकावट डालने की बात। मेरी नौकरी यहाँ ऐसी थी कि हर वक़्त मेरे सिर पर तलवार लटकती रहती थी।"

बँधा हुआ तरीक़ा कुछ भी रहा हो, लेकिन इन लोगों की हैसियत ही कुछ ऐसी थी कि उनमें से हर एक के हाथ में क़ायदे-कानून से कुछ ज़्यादा ही ताक़त थी। अगर वे किसी पर मेहरबान होना चाहते, या अगर किसी से उनके सम्बन्ध ख़ासतौर पर बहुत अच्छे होते, या अगर कोई लगातार कोशिश करता ही रहता—जैसे बहुगुणा और उनकी पत्नी—तो वे प्रधान मंत्री से उसकी मुलाक़ात करा सकते थे। लेकिन इसका घटनाओं के क्रम पर नाममात्र को ही असर पड़ता था। इन लोगों को भी यह देखकर चलना पड़ता था कि प्रधान मंत्री का रवैया क्या है। ये लोग ऐसी स्थिति में थे कि यह जान सकते थे कि वह किससे मिलना चाहती हैं और किसे टाले रखना चाहती हैं। इसलिए इसी के अनुसार लोगों की तरफ़ इनका रवैया भी अलग-अलग रहता था—किसी से बड़े तपाक से मिलते, किसी को बिलकुल ही नज़रअंदाज़ कर देते, किसी की बात ध्यान से सुन लेते और किसी के साथ हर तरह का सहयोग करते। मैं तो नहीं समझती कि कोई भी एक मिसाल ऐसी बता सकता है जब किसी आदमी से या किसी नेता से श्रीमती गांधी का नाता टूट जाने के बाद उनके निजी दफ़्तर में या सरकारी दफ़्तर में काम करने वाले किसी आदमी, उनके किसी दोस्त या उनके किसी साथी ने उनकी राय बदलने में कोई कामयाबी हासिल की हो। असल में हुआ यह कि उनके क़रीब जो

लोग थे उन्हें जैसे ही यह मालूम होता था कि कोई आदमी उनकी नज़रों से उतर गया है, तो उनमें से हर एक उस आदमी के साथ अपने निजी सम्बन्धों के अनुसार उनके अविश्वास को और ज़्यादा भड़काने की या उस अविश्वास को दूर करने की कोशिश करता था। जो लोग अविश्वास को दूर करने के लिए दाँव-पेंच करने की कोशिश करते थे उनका कोई ख़ास असर नहीं होता था क्योंकि आख़िरी फ़ैसला तो श्रीमती गांधी के हाथ में होता था कि वह जिधर चाहें पलड़ा झुका दें।

भारतीय राजनीति के मंच पर सम्बन्धों के उतार-चढ़ाव की दृष्टि से देखा जाये तो एक ज़माने में प्रधान मंत्री की कोठी में गुजराल के लिए थोड़ी-बहुत सद्भावना थी। लेकिन उससे भी उन्हें इसके अलावा और कोई फ़ायदा नहीं हुआ कि वह बस इतना मालूम कर लें कि वह कितनी नाराज़ हैं, या उनका रुख़ कैसा है। जब किसी आदमी से उनकी नाराज़गी या किसी आदमी पर उनका गुस्सा लगातार या खुल्लमखुल्ला ज़ाहिर होता रहता था, तो जो लोग थोड़ा-बहुत असर डाल भी सकते थे वे भी उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ रत्ती-भर भी आवाज़ उठाने से डरते थे। सच तो यह है कि इस डर से कि कहीं वे ख़ुद उनके ग़ुस्से का शिकार न हो जायें या ख़ुद उनकी वफ़ादारी पर शुबहा न किया जाने लगे, ये लोग उसी बात को इस तरह से समझाने की कोशिश करते थे—कभी-कभी जान-बूझकर उसमें नये-नये रंग भरकर—ताकि यह साबित हो जाये कि श्रीमती गांधी जिस नतीजे पर पहुँची हैं वह बिलकुल ठीक है।

अगर श्रीमती गांधी ने पी० एन० हक्सर[६] की तरफ़ अपना बदला हुआ रवैया इतने साफ़ तौर पर ज़ाहिर न कर दिया होता, तो उनके एक निकटतम विश्वासपात्र की भी यह मजाल नहीं थी कि वह उनकी गर्दन पकड़कर उन्हें यह चेतावनी दे सके कि वह "फिर कभी संजय, मारुति या परिवार के किसी भी आदमी के ख़िलाफ़ कोई ऐसी-वैसी बात कहने की हिम्मत न करें!"

लेकिन हक्सर का जो क़सूर बताया गया वह यह था कि एक सरकारी अफ़सर की हैसियत से वह अपनी ताक़त बढ़ा रहे थे, मंत्रियों तक की कोई परवाह नहीं करते थे, और प्रधान मंत्री के सेक्रेटेरियट को वह राजनीतिक और प्रशासन-सम्बन्धी सभी फ़ैसले लेने का केन्द्र बना देना चाहते थे। लेकिन उनकी चढ़ी कमान उतरी उस वक़्त जब संजय और मारुति के सवाल पर प्रधान मंत्री से उनका झगड़ा हो गया। वह समझते थे कि वह प्रधान मंत्री के इतने क़रीब हैं कि वह उन्हें सलाह दे सकते हैं कि संजय पर अंकुश लगाना होगा और मारुति का कारोबार बंद कर देना होगा। ज़ाहिर है, हक्सर ने यह नहीं समझा था कि वह आग से खेल रहे हैं। नतीजा यह हुआ कि उन्होंने अपने हाथ बुरी तरह जला लिये। उस वक़्त मुझे बताया गया था कि हक्सर मारुति के ख़िलाफ़ इसलिए थे कि बंसीलाल ने कारख़ाने के लिए जो ज़मीन लेकर दी थी उसमें हक्सर की ज़मीन भी आती थी।

इस तरह हक्सर को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा।

एक कांग्रेसी, जो हक्सर की इज़्ज़त अब भी एक ईमानदार, सुलझे हुए और वफ़ादार आदमी की हैसियत से करते हैं, का कहना है, "जो भी ज़रा भी उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ कोई बात कहता था उसे उठाकर ताक़ पर रख दिया जाता था।" सबसे ताज्जुब का बयान तो बिहार में कांग्रेस संगठन के कर्त्ता-धर्त्ता सीताराम केसरी[७] ने, जिनका संजय को राजनीति के मैदान में सबसे पहले ऊँचा उठाने में बहुत बड़ा हाथ है, ठेठ अपनी भाषा में बहुत कमाल की राय दी: "मैं

हकसर के बहुत ख़िलाफ़ हूँ लेकिन साहब अव्वल दर्जे का दिमाग़ पाया है उस आदमी ने। अक़्लवाला आदमी है। वामपंथी होने के बावजूद अगर ज़रूरत पड़े तो वह दक्षिणपंथी रास्ता भी दिखा सकता है।" मुझे यक़ीन नहीं कि हकसर इसे अपनी तारीफ़ समझेंगे। लेकिन हकसर उन लोगों में से थे—जिनकी मिसाल कांग्रेस वाले देते थे—जो इस बात को साबित करते हैं कि इन्दिरा गांधी किस तरह अपनी राय रखने वाले लोगों को अपने मतलब के लिए इस्तेमाल करके फेंक देती थीं, और उन्हें रत्ती-भर भी मलाल नहीं होता था।

महाराष्ट्र के राज्यसभा के सदस्य और कांग्रेस में वामपंथी विचारों के पक्ष में बढ़कर बोलने वाले वी० पी० साठे" बताते हैं, "हकसर की तरफ़ उनका रवैया नरम करने में मेरा भी थोड़ा-बहुत हाथ था। लेकिन वह कहती थीं, 'वह नाराज़ हैं, वह मुझसे ज़रूर नाराज़ होंगे।' हकसर कहते, 'जब उन्हें मुझ पर भरोसा ही नहीं तो फ़ायदा क्या!' बाद में वह हकसर को फिर वापस ले आयीं लेकिन एक बार जो रिश्ता टूट गया तो फिर टूट ही गया।" दोनों के बीच निजी स्तर पर सुलह-सफ़ाई कराने की कोशिशों का नतीजा इस बार भी कुछ ख़ास नहीं निकला।

१९७४ तक आतें-आते जिन सवालों पर झगड़ा था वे बहुत बड़े थे; समाजवादी विचारों और पूँजीवादी इरादों के बीच तनाव साफ़ दिखायी देता था। जिस तरह एक-एक करके उनके साथी हटाये जाते रहे उसमें उनके काम करने के निजी ढंग का कुछ दख़ल ज़रूर था, लेकिन जिस तरह लोगों को हटाने के लिए चुना जाता था वह एक बहुत बड़ी योजना का हिस्सा बनता जा रहा था।

संविधान की सीमाओं से बाहर सत्ता के केन्द्र की ही तरह नयी चांडाल चौकड़ी की नस्ल भी बहुत पुरानी थी। वह कुछ लोगों की तात्कालिक महत्त्वाकांक्षाओं और इमर्जेंसी की जारज संतान नहीं थी। उसके पूर्वज बहुत माने हुए और नामी थे—'जिजर ग्रुप', 'सिंडीकेट', 'मिश्रा कंबाइन', 'किचेन कैबिनेट', 'युवा तुर्क', 'हकसर के लोग' और 'कांग्रेस में कम्युनिस्टों का गुट'। फ़र्क़ बस इतना है कि इनमें से कुछ, जैसे 'जिजर ग्रुप' या 'युवा तुर्क' निश्चित विचारधाराओं की बुनियाद पर दबाव डालने वाले गरोह थे जबकि दूसरे लोग ताक़त हासिल करने के फेर में थे। इमर्जेंसी के बाद शासन-प्रणाली ने ख़ुद इतना बढ़ावा दिया कि नयी चांडाल चौकड़ी ने, जो सत्ता को मनचाहे ढंग से अपने पक्ष में इस्तेमाल करने की घात में रहती थी, अपना कार्य-क्षेत्र इतना बढ़ा लिया कि जितना उसके लिए मार्ग तैयार करने वालों का कभी नहीं रहा था। इमर्जेंसी मेले में लगे हुए उन आईनों जैसी थी जिनमें आपकी शक्ल या तो भयानक रूप से बड़ी हो जाती है या चौड़ी होकर बिलकुल बौनों जैसी रह जाती है या इतनी टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है कि आप हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। हर संस्था में, हर आदमी में, जो सामान्य परिस्थितियों में ठीक-ठाक काम कर रहा था, अचानक एक विकार पैदा हो गया। लेकिन इस स्थिति पर हँसी नहीं बल्कि रोना आता था। जो पहले देवता लगते थे वे पिशाच दिखायी देने लगे थे, लेकिन श्रीमती गांधी में अपनी बात को ही सही मानने की भावना इतनी प्रबल थी कि जो मुखौटा उन्होंने लगा रखा था वह उन्होंने अपने चेहरे से एक बार भी खिसकने नहीं दिया।

लेकिन इमर्जेंसी के दौरान भी इन्दिरा गांधी अपने मंत्रिमंडल के दो दिग्गजों चह्वाण और जगजीवनराम का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकीं। जब उन्होंने इसकी कोशिश की तो ख़ुद उन्हीं के हाथ जल गये, क्योंकि जगजीवनराम के विद्रोह की

वजह से ही उनका सारा बना-बनाया खेल बिगड़ गया। राजनीति के जिन मोहरों को उन्होंने खुद बनाया था—दिनेशसिंह, गुजराल, बहुगुणा और दूसरे बहुत-से लोग—उनको उन्होंने जब चाहा दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया। दूसरे लोगों को, जिनका सहारा लिये बिना उनका काम नहीं चल सकता था, उन्होंने ज़्यादा चालाकी के साथ शक्तिहीन कर देने की कोशिश की। उनका सबसे बड़ा जुआ, जिसकी हर चाल का हिसाब उन्होंने बहुत बारीकी से लगाया था, वह था जो उन्होंने सिंडीकेट के सिलसिले में खेला। जिस समय गिरि के राष्ट्रपति चुने जाने के सवाल ने लगभग एक राष्ट्रीय मतदान का रूप धारण कर लिया था, उन्होंने पार्टी के दो टुकड़े कर देने का जोखिम मोल लिया और मोरारजी देसाई, कामराज, एस० निजलिंगप्पा, अतुल्य घोष और एस० के० पाटिल जैसे दिग्गज नेताओं को मात दे दी। लेकिन उनका समर्थन करने वाले दल के अन्दर जो लड़ाई चल रही थी वह दूसरी ही तरह की थी। जिस समय उनकी ताक़त का सभी लोहा मानते थे और वह बिना किसी डर के ऐसा कर सकती थीं, उस वक़्त उन्होंने चह्वाण तक के पर ऐसे कतर दिये कि वह उनसे टक्कर लेने की बात सोच भी न सकें। उन्होंने गृह-मंत्रालय से खुफ़िया जानकारी के सारे संगठन निकाल लिये और वित्त-मंत्रालय से राजस्व से सम्बन्धित खुफ़िया जानकारी और बैंकिंग के विभाग अलग कर दिये। जैसाकि बहुगुणा ने इन्दिरा गांधी द्वारा चुनाव कराने के ऐलान और जगजीवनराम के कांग्रेस छोड़ देने के कुछ ही दिन बाद कहा था, "वित्त-मंत्रालय में वित्त-मंत्री के अलावा रह ही क्या गया है? अब बाबूजी (जगजीवनराम) ने जो क़दम उठाया है उसकी वजह से ब्रह्मानन्द रेड्डी[11] को कुछ काम मिल गया है। श्रीमती गांधी ने अपने चारों ओर बौने जमा कर रखे हैं जिनमें से कोई भी सूरमाओं जैसे काम नहीं कर सकता।"

"इन्दिरा जी बहुत घटिया क़िस्म के सलाहकारों से घिरी हुई थीं," यह बात उनके पक्के वफ़ादार सीताराम केसरी ने भी मानी, जिनका इसके साथ ही दूसरी तरफ़ यह भी कहना है कि "ऐसी कठिन घड़ी में कोई भी चीज़ मुझे इन्दिराजी का साथ छोड़ने पर मजबूर नहीं कर सकती। मुख्य मंत्री तक बहुत घटिया दर्जे के लोग थे।"

"यह भी तो हो सकता है कि वह जान-बूझकर घटिया लोगों को चुनती हैं ताकि उन्हें ज़्यादा अच्छी तरह क़ाबू में रख सकें?" मैंने पूछा।

"लेकिन क्या वे क़ाबू में रहते हैं? मज़बूत आदमी से बहुत फ़ायदा होता है, वह कमज़ोरी का कारण नहीं बनता। अपनी बात का पक्का आदमी जो अपनी पार्टी को जानता हो, वह आख़िर वक़्त तक आपका साथ देगा, कमज़ोर आदमी नहीं।"

इन्दिरा गांधी का ख़याल था कि चह्वाण ने १९६९ में गिरि के सवाल पर बंगलौर में शुरू ही से उनका खुला साथ न देकर उनके साथ विश्वासघात किया था। इसके बाद से उन्होंने महाराष्ट्र में चह्वाण की जड़ें काट देने की पूरी कोशिश की, क्योंकि वहीं उनकी ताक़त की सारी बुनियाद थी। लेकिन जगजीवनराम?

१९६६ में जब इन्दिरा गांधी और मोरारजी देसाई के बीच टक्कर हो रही थी कि नेता कौन बने, उस समय द्वारकाप्रसाद मिश्र ने जगजीवनराम को सलाह दी थी, "जब तक मुझे यह मालूम न हो जाये कि कौन जीतने जा रहा है तब तक कुछ बोलो नहीं।" लेकिन जब वह जीत गयीं और मंत्रिमंडल बनने लगा तो जगजीवनराम फ़रियाद लेकर मिश्रा के पास पहुँचे।

उन्होंने बहुत दुःखी होकर कहा, "उस्ताद," वह मिश्राजी को इसी तरह सम्बोधित करते थे. "मुझे ज़लील किया जा रहा है। वह मुझे श्रम-मंत्री बना रही हैं और मेरा दर्जा भी बहुत नीचा रखा जा रहा है।"

"गुरू," मिश्राजी ने भी जगजीवनराम को हमेशा की तरह ही सम्बोधित किया और तसल्ली देते हुए कहा, "अब हालत बदल गयी है। चलने दो।"

"क्या मैं आपकी नज़रों में भी इतना गिर गया हूँ ?" जगजीवनराम इतने परेशान थे कि द्वारकाप्रसाद मिश्र ने श्रीमती गांधी को टेलीफ़ोन किया और उन्हें इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि उनका मंत्रालय बदल दें और मंत्रियों को ऊँचा या नीचा दर्जा देने की पद्धति खत्म करके सबके नाम वर्णानुक्रम के अनुसार दिये जायें।

द्वारकाप्रसाद मिश्र ने बताया, "उनकी असली अनबन तब शुरू हुई जब जगजीवनराम कांग्रेस के अध्यक्ष भी बन गये और वह दोनों पदों पर बने रहना चाहते थे। यहीं से उन पर से श्रीमती गांधी का भरोसा उठने लगा।"

तारकेश्वरी सिन्हा ने, जो नेहरू के मंत्रिमंडल में नौजवान खूबसूरत वित्त उप-मंत्री थीं और कई वर्ष तक पार्टी के अन्दर श्रीमती गांधी का खुलकर विरोध करती रही थीं, बताया : "पंडित नेहरू के ज़माने में केन्द्र में कांग्रेस पार्टी में भावनात्मक एकता थी। लेकिन राज्यों में बहुत मज़बूत दलबंदियाँ थीं। नेहरू की जगह मोरारजी के प्रधान मंत्री बनाने का सवाल कभी उठा ही नहीं और सभी लोग शास्त्रीजी के पक्ष में सहमत थे। जब श्रीमती गांधी आयीं उस वक़्त तक हम लोग मोरारजी देसाई के पक्के समर्थक बन चुके थे। जब वह हार गये, उसके बाद भी हमने उनका साथ नहीं छोड़ा। मुझे यह बात सबके सामने मानने में तनिक भी संकोच नहीं है कि केन्द्र में दलबंदी हम लोग लाये। लेकिन श्रीमती गांधी में बहुत रवादारी थी। मैं उनका इतना खुल्लमखुल्ला विरोध करती थी, लेकिन उन्होंने कांग्रेस संसदीय दल के चुनाव में कभी दख़ल नहीं दिया—मेरा इतने बड़े बहुमत से जीतना ही इस बात का सबूत है कि उन्होंने कोई दख़ल नहीं दिया। लेकिन सितम्बर में उनको हटाने के लिए दाँव-पेंच शुरू हो गये थे। उन्हें इस बात की भनक मिल गयी कि कांग्रेस संसदीय बोर्ड की मीटिंग में यह प्रस्ताव पास किया जाने वाला है कि उनमें लोगों के विश्वास का अंदाज़ लगाने के लिए वोट लिया जाये, लेकिन ऐन वक़्त पर कामराज नहीं आये। उसी वक़्त से श्रीमती गांधी के दिल में डर बैठ गया। इसी के बाद से उन्होंने सत्ता के हथियार इस्तेमाल करना शुरू किये और पार्टी के पूरे तंत्र पर भी क़ब्ज़ा ज़माने की कोशिशें शुरू कीं।"

१९६६ में जब कांग्रेस के बाक़ी सभी नेताओं ने मिलकर सिंडीकेट बना लिया और पार्टी के दो टुकड़े कर दिये, उस वक़्त जगजीवनराम ने डटकर इन्दिरा गांधी का साथ दिया। बाँगला देश की लड़ाई के वक़्त वह उनके रक्षा-मंत्री थे और उनकी कुछ सबसे अधिक गौरवशाली घड़ियों में वह उनके साथ थे। लेकिन उन दोनों का सहयोग कुछ उखड़ा-उखड़ा रहा। सच तो यह है कि लोग यहाँ तक सोचने लगे थे कि १९७१ के चुनाव में अपनी शानदार जीत से इन्दिरा गांधी को जो ताक़त मिली थी उसका फ़ायदा उठाकर वह जगजीवनराम को मंत्रिमंडल से हटा देंगी। लेकिन वह बहुत चालाक और सतर्क थीं। जगजीवनराम को संसद के लगभग अस्सी सदस्यों का समर्थन प्राप्त था; अगर वह अपना हाथ खींच लेने का फ़ैसला करते तो संसद में उनका विशाल बहुमत बहुत घट जाता—५२४ सदस्यों के सदन में ३६१ से घटकर केवल २८१ सदस्य उनके साथ रह जाते। श्रीमती

गांधी ने जगजीवनराम को अलग तो नहीं किया लेकिन बिहार में उनकी जड़ काटने की लगातार कोशिशें करती रहीं—उन्होंने उनकी टक्कर पर ऐसे दूसरे नेताओं को सहारा दिया जिनका हरिजनों में कुछ असर हो सकता था। धीरे-धीरे हालत यह हो गयी कि जगजीवनराम का हर जाना-पहचाना मित्र या समर्थक यह जान गया कि उसे चुनाव लड़ने का टिकट, या कोई पद, या कोई फ़ायदे का काम तभी मिल सकता है जब वह जगजीवनराम से मुँह मोड़कर श्रीमती गांधी का साथ देने लगे।

जगजीवनराम ने कोशिश तो बहुत की लेकिन जोड़-तोड़ के मामले में श्रीमती गांधी की जो निपुणता थी उसका मुक़ाबला वह नहीं कर सके। ऐसा भी नहीं है कि वह चुपचाप बैठे अपने सिर पर तलवार गिरने का इन्तज़ार करते रहे हों। लेकिन जैसा कि वह कहते हैं, "मैं कोई संत-महात्मा नहीं हूँ, मैं राजनीति का आदमी हूँ और मुझे चुप रहना पड़ा।"

लेकिन जब १२ जून १९७५ का फ़ैसला आया तो सवाल उभरकर सामने आ गया। शायद जगजीवनराम ने सोचा कि वह श्रीमती गांधी को उन्हीं की चाल से मात दे देंगे। जब १ सफ़दरजंग रोड पर कांग्रेस के सारे नेता जमा हुए और किसी ने भय प्रकट किया, किसी ने सन्देह प्रकट किया, किसी ने कायरता का सबूत दिया और किसी ने भरपूर उत्साह दिखाया, उस वक़्त जगजीवनराम चुप नहीं बैठे रहे। वह लगातार सबको सुनाकर बार-बार यही दोहराते रहे, "अदालत का फ़ैसला हो या न हो, वह हमारी नेता हैं।" श्रीमती गांधी भी जानती थीं कि जगजीवनराम के रवैये से पाँसा पलट सकता है। दोपहर को साढ़े बारह बजे जब सब लाग जाने लगे तो उन्होंने जगजीवनराम को अलग बुलाकर कहा, "आप ज़रा रुक जाइये।" जगजीवनराम ने पूरी तरह उनका समर्थन करने का वचन दिया।

पी० एन० सिंह, जो दिल्ली मेट्रोपोलिटन कौंसिल के सदस्य हैं और दिल्ली की राजनीति में चन्द्रशेखर के ग्रुप के आदमी समझे जाते हैं, १६ जून को जगजीवनराम से मिलने गये। कांग्रेस संसदीय दल की मीटिंग १८ जून को यह फ़ैसला करने के लिए होने वाली थी कि अब क्या किया जाये। पी० एन० सिंह ने उनसे कहा, "आप लोग कुछ कीजिये, नहीं तो पार्टी खत्म हो जायेगी।"

जगजीवनराम ने जवाब दिया, "अब न मेरी उम्र इस लायक़ है और न मेरी सेहत ही ऐसी है कि मैं कुछ कर सकूँ, लेकिन अगर चन्द्रशेखर पहल करें तो मैं उनका साथ दूंगा।"

पी० एन० सिंह का कहना है, "तब तक हम लोग सत्तर संसद-सदस्यों से बात कर चुके थे। अगर बाबूजी अपने अस्सी आदमी लेकर आ जाते तो हम लोग और भी कई लोगों को साथ ले आते और श्रीमती गांधी के इस्तीफ़े की माँग करते।"

चन्द्रशेखर को भी कुछ संकोच था। पहली बात तो यह कि उन्हें जगजीवन-राम पर भरोसा नहीं था। वह कई बार कई सवालों पर साथ देने का वादा कर चुके थे, लेकिन जब वक़्त आता था तो पीछे हट जाते थे। लेकिन इसके अलावा नैतिकता की भी एक बहुत बारीक़ बात थी जिसका चन्द्रशेखर को बहुत ध्यान था। "मैं अदालत के फ़ैसले के सवाल पर श्रीमती गांधी से टक्कर नहीं लेना चाहता। मैं तो नीति के और आर्थिक सवालों की बुनियाद पर उनसे लड़ना चाहता हूँ।"

इन्दिरा गांधी के प्रधान मंत्री बने रहने के पक्ष में पार्टी के फ़ैसले का

जगजीवनराम ने भी साथ दिया और संसद में भी वह उनका समर्थन करने वाले बहुमत के साथ रहे। लेकिन एक बात के बारे में उनके विचार बिलकुल साफ़ थे कि अगर कोई अंतरिम प्रधान मंत्री चुना जाये तो वह स्वर्णसिंह या कमलापति त्रिपाठी न हों (जिनके बारे में श्रीमती गांधी समझती थीं कि उनसे कोई ख़तरा नहीं है), बल्कि मंत्रिमंडल में सबसे पुराने मंत्री होने के नाते वह खुद, यानी जगजीवनराम, चुने जायें। बहरहाल यह सवाल कभी उठा ही नहीं, लेकिन श्रीमती गांधी इस बात को भूली नहीं; उनकी राय में यह उनके साथ जगजीवनराम का एक और विश्वासघात था।

फिर २६ जून १९७५ को इमर्जेंसी आयी।

जब सुबह ६ बजे उन्हें प्रधान मंत्री की कोठी पर कैबिनेट की मीटिंग के लिए बुलाया गया तो मंत्रिमंडल के दूसरे लोगों की तरह उन्हें भी बताया गया कि इमर्जेंसी लागू कर दी गयी है; विपक्ष के नेता और चन्द्रशेखर भी गिरफ़्तार कर लिये गये हैं। जब वह ६ कृष्ण मेनन मार्ग पर अपनी कोठी पर लौटकर आये तो उन्होंने देखा कि सीमा सुरक्षा दल के सिपाहियों की टोपियों में लगी हुई लाल क़लगियाँ सुबह की धूप में हर तरफ़ चमक रही हैं और घर के बाहर सी० आई० डी० के लोग तैनात हैं। ये लोग घर के अन्दर भी दनदना रहे थे और जगजीवन-राम के साथ काम करने वाले निजी तथा सरकारी सभी कर्मचारी सहमे हुए थे। जगजीवनराम को अपनी कोठी में नज़रबंद तो नहीं किया गया था लेकिन उनके हर क़दम पर निगरानी ज़रूर रखी जा रही थी। उनसे मिलने सबसे पहले बहुगुणा आये। चन्द्रशेखर की गिरफ़्तारी की ख़बर सुनकर पी० एन० सिंह ने सबसे पहला काम यह किया कि बाबूजी को टेलीफ़ोन किया। "मैं समझता था कि वह भी गिरफ़्तार कर लिये गये होंगे।"

जब वह जगजीवनराम से मिले तो बाबूजी की आँखें डबडबा आयीं। उन्होंने भोजपुरी में कहा, "जिस लोकतंत्र के लिए हम लड़ते आये थे वह ख़त्म हो गया। अब सारी ज़िम्मेदारी तुम नौजवानों के कंधों पर है।"

इस डर से उनकी बातें टेप-रेकार्ड पर दर्ज न कर ली जायें उन्होंने टेलीफ़ोन का चोंगा उतारकर नीचे रख दिया था।

जगजीवनराम दाँव हार चुके थे। वह समझ गये थे कि अगर उन्होंने इस वक़्त इस्तीफ़ा दिया तो इसे सरकशी समझा जायेगा और उन्हें भी पकड़कर जेल में बंद कर दिया जायेगा। वह बहुत बूढ़े हो चुके थे, और राजनीति के सारे दाँव-पेंच जानते हुए यह ख़तरा मोल लेने को तैयार नहीं थे।

लेकिन उस दिन रात को उन्होंने अपनी डायरी में लिखा : आज का दिन बड़ा मनहूस दिन है।

टिप्पणियाँ

१. द्वारकाप्रसाद मिश्र मध्य प्रदेश की राजनीति की एक विवादग्रस्त हस्ती रहे हैं। मुख्य मंत्री की हैसियत से उनके उत्थान और पतन से उस राज्य में राज-नीतिक दलबंदियों का फ़ैसला होता रहा है। इस समय वह छिहत्तर वर्ष के हैं और इन्दिरा गांधी की हार के बाद उन्हें बचाने की लड़ाई में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने के लिए वह दिल्ली वापस आ गये हैं।

२. लंबे क़द, छरहरे बदन और विनीत स्वभाव के सौम्य मोहन कुमारमंगलम भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के कार्डधारी सदस्य थे; बाद में वह कांग्रेस में चले आये और श्रीमती गांधी के मंत्रिमंडल में इस्पात तथा खान-मंत्री बने। वह बहुत चतुर राजनीतिक सिद्धांतवेत्ता थे। १९७३ में अट्ठावन वर्ष की आयु में एक विमान-दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गयी।

३. यशवंतराव वलवंतराव चह्वाण ६५ वर्ष के हैं और महाराष्ट्र की राजनीति में बहुत ताक़तवर माने जाते हैं। केन्द्र में नेहरू, शास्त्री और इन्दिरा गांधी के मंत्रिमंडलों में सत्ता का भार सँभालते हुए भी अपने राज्य में उन्होंने अपना असर बनाये रखा है। उनके भारी-भरकम शरीर को देखकर ऐसा लगता नहीं पर वह समस्याओं का बड़ी गहरी सूझ-बूझ के साथ विश्लेषण करने की योग्यता रखते हैं, और जब वह बोलना शुरू करते हैं तो उनके विषयों का विस्तार बहुत व्यापक होता है। २० मार्च १९७७ को कांग्रेस का पतन होने के समय तक वह विदेश-मंत्री थे।

४. चन्द्रशेखर का जन्म १९२७ में हुआ था। दुबला-पतला शरीर, चेहरे पर घनी दाढ़ी, धधकती ज्वाला जैसा जोश। १९६९ में कांग्रेस के अंदर उन्होंने इन्दिरा गांधी के समर्थन में उन मूलगामी परिवर्तन चाहने वालों का दल बनाया जिन्हें युवा तुर्क कहा जाता है। वह पूर्वी उत्तर प्रदेश के रहने वाले हैं और **यंग इंडियन** नामक पाक्षिक पत्रिका के संपादक हैं। २५ जून को जयप्रकाश नारायण के साथ वह एक कांग्रेसी की हैसियत से गिरफ़्तार किये गये थे। हाल ही में जब जनता पार्टी बनी तो वह उसके अध्यक्ष चुने गये।

५. बंसीलाल हरियाणा के एक अक्खड़ जाट हैं। उनके नाक-नक़्शे की कठोर सुन्दरता उनके चश्मे से भी छुप नहीं पाती। मुख्य मंत्री की हैसियत से उनका राजनीति चलाने का जो ढंग था उसके दो उद्देश्य थे—हरियाणा के लिए और स्वयं अपने लिए देश में एक स्थान बनाना। अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए वह बिना किसी संकोच के हर संभव साधन इस्तेमाल करने को तैयार रहते हैं; उन्हें सिद्धांतों से चिढ़ है और उनके रास्ते में जो भी आदमी या जो भी विचार बाधा बनता है उसे वह ज़बर्दस्ती कुचलकर ख़त्म कर देना बेहतर समझते हैं। उनकी अंधी वफ़ादारी भी उतनी ही ख़तरनाक हो सकती है जितनी कि उनकी पूरी दुश्मनी। बंसीलाल २० मार्च १९७७ तक केन्द्रीय सरकार में रक्षा-मंत्री थे।

६. इलाहाबाद हाई कोर्ट के जस्टिस जगमोहनलाल सिन्हा ने १९७१ में रायबरेली से लोकसभा के चुनाव के दौरान इन्दिरा गांधी को भ्रष्ट आचरण का दोषी ठहराया था। (यह फ़ैसला उन्होंने उनके विरोधी राजनारायण की उस याचिका पर दिया था जिसकी सुनवाई में चार साल का समय लगा।) सिन्हा ने जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा १२३ (७) के अन्तर्गत "उत्तर प्रदेश की राज्य सरकार के गज़ेटेड अफ़सरों" को इस्तेमाल करने को और उसी अधिनियम की उसी धारा १२३ (७) के अन्तर्गत "चुनाव में अपनी जीत की संभावनाओं को बढ़ाने के लिए प्रधान मंत्री की सेक्रेटेरियट में ऑफ़िसर ऑन स्पेशल ड्यूटी के पद पर काम करने वाले भारत-सरकार के गज़ेटेड अफ़सर श्री यशपाल कपूर की सहायता प्राप्त करने" को भ्रष्ट आचरण ठहराया, और इन्हीं दो कारणों से उन्हें छः वर्ष तक कोई भी निर्वाचित पद ग्रहण करने के अधिकार से वंचित कर दिया। बाद में जस्टिस

सिन्हा ने उन्हें सुप्रीम कोर्ट में अपील करने का मौक़ा देने के लिए अपने फ़ैसले की तामील बीस दिन के लिए स्थगित कर दी।

उस चुनाव में इन्दिरा गांधी ने राजनारायण को एक लाख से ज्यादा वोटों से हराया था और कांग्रेस ने उनके नेतृत्व में शानदार विजय प्राप्त की थी। कांग्रेस ने लोकसभा की कुल ५२४ सीटों में से ३६१ सीटें जीती थीं।

७. सैंतालीस-वर्षीय चन्द्रजीत यादव बहुत मुखर राजनीतिज्ञ हैं। वह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख सदस्य थे, जिसे छोड़कर वह कांग्रेस में आये और कांग्रेस के अन्दर वामपंथी दल की एक प्रमुख हस्ती और उसके साथ ही कांग्रेस के जनरल-सेक्रेटरी बन गये। २० मार्च १९७७ तक वह केन्द्रीय सरकार में इस्पात तथा खान-मंत्री थे।

८. अशोक मेहता अपनी मोटे शीशे वाली ऐनक और बे-तरतीब बढ़ी हुई दाढ़ी में सचमुच बुद्धिजीवी लगते हैं। वह सोशलिस्ट पार्टी से कांग्रेस में आये और उसके प्रमुख आर्थिक सिद्धांतवेत्ता बन गये। शुरू में चह्वाण और इन्दिरा गांधी के साथ उनका बहुत घनिष्ठ राजनीतिक गँठजोड़ था। धीरे-धीरे उनका मोह भंग होता गया और अन्त में वह संगठन कांग्रेस के साथ चले गये।

९. मज़दूर नेता वाराहगिरि वेंकटगिरि केन्द्रीय मंत्री और उप-राष्ट्रपति के पदों पर रहे और १९६९ में भारत के राष्ट्रपति चुने गये। वह इन्दिरा गांधी के गुप्त समर्थन से एक निर्दलीय उम्मीदवार की हैसियत से कांग्रेस के अधिकृत उम्मीदवार संजीव रेड्डी के ख़िलाफ़ खड़े हुए थे, जिनका समर्थन पार्टी के पुराने नेता कर रहे थे। श्रीमती गांधी ने मतदाताओं को नारा दिया, "अपने अन्तःकरण के अनुसार वोट दीजिये!" और गिरि की जीत ने साबित कर दिया कि श्रीमती गांधी को कितना भरपूर समर्थन प्राप्त था।

१०. उत्तर प्रदेश की ताल्लुक़ेदारी कालाकाँकर के बावन-वर्षीय राजा दिनेशसिंह से भी भारत के दूसरे सामंतों की तरह १९६९ में उनका गुज़ारा-भत्ता और दूसरे विशेषाधिकार छीन लिये गये। इस उद्देश्य से संसद में जो क़ानून बनाया गया था उसने और बैंकों के राष्ट्रीयकरण ने आम जनता के नेता की हैसियत से श्रीमती गांधी की ख्याति में बहुत योगदान किया। १९६९ में उन्होंने दिनेशसिंह को विदेश मंत्री के उच्च पद पर नियुक्त किया, लेकिन बाद में उन्हें इस पद से हटा दिया। मई १९७७ में वह जनता पार्टी में चले गये।

११. कांग्रेस पार्टी में फूट गिरि के चुनाव के सवाल पर पड़ी थी। लेकिन जिन सवालों पर असली झगड़ा था .वे थे : श्रीमती गांधी की पूरी तरह अपना नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश, दक्षिणपंथियों और वामपंथियों का टकराव और कांग्रेस को एक नया रूप देने का घोषित उद्देश्य। बड़े-बड़े नेताओं का दल, जिसे सिंडीकेट कहा जाता था, टूटकर अलग हो गया और उसने अपनी संगठन कांग्रेस अलग बना ली, जिसके बारे में वे दावा करते रहे कि वही असली कांग्रेस है। लेकिन पार्टी के अन्दर, और पूरे देश में, बहुमत ने इन्दिरा गांधी का साथ दिया।

१२. संजीव रेड्डी, जो इस समय ६४ वर्ष के हैं, कांग्रेस के अध्यक्ष और लोकसभा के अध्यक्ष रह चुके हैं; १९६९ में वह राष्ट्रपति का चुनाव लड़े थे। पूरा चक्र घूम जाने के बाद अब वह भारत के राष्ट्रपति चुने गये हैं।

१३. मोरारजी देसाई गुजरात के रहने वाले हैं और सादे जीवन तथा शुद्ध अति-नैतिक आचरण में विश्वास रखते हैं। उन्होंने नेहरू के साथ काम किया और

उनके मंत्रिमंडल में वित्त-मंत्री रहे और इन्दिरा गांधी के मंत्रिमंडल में १९६७ में उप-प्रधान मंत्री बने। उनके और इन्दिरा गांधी के बीच लगातार बहुत पुरानी और गहरी अदावत चली आ रही थी। इन्दिरा गांधी ने १९६९ में उन्हें अपने मंत्रिमंडल से निकाल दिया। वह संसद में संगठन कांग्रेस के नेता रहे और १९७४ में विधानसभाएँ भंग कराने और 'सम्पूर्ण क्रांति' के आंदोलन के सवालों पर जयप्रकाश नारायण के साथ हो गये। वह २५ जून १९७५ को गिरफ़्तार किये गये और उन्नीस महीने बाद जब वह बाहर आये तो उन्होंने अपना वह उद्देश्य पूरा कर लिया, जिसकी साध उन्होंने कभी नहीं छोड़ी थी। आखिरकार १९७७ के चुनाव में इन्दिरा गांधी तथा उनकी पार्टी को बुरी तरह पराजित होते देखकर और जनता पार्टी की सहमति से प्रधान मंत्री के रूप में अपनी स्थिति मज़बूत पाकर उनके मन को सन्तोष हुआ। मोरारजी देसाई इस समय इक्यासी वर्ष के हैं और हमेशा की तरह अब भी सादा जीवन बिताते हैं, बस उन्हें स्विट्ज़रलैंड की चाकलेट खाने का बड़ा चाव है। जेल में वह सिर्फ़ मेवा खाते थे और दूध पीते थे।

उनके अब तक के शासनकाल में अभी तक अतिनैतिक आचरण की प्रवृत्तियाँ दिखायी नहीं दी हैं, जैसी कि आशा की जाती थी; ऐसा लगता है कि उम्र के साथ उनमें कुछ नरमी आ गयी है।

१४. यशपाल कपूर का जन्म १९२९ में हुआ था। वह उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में पेशावर के रहने वाले हैं, जो अब पाकिस्तान में है। वह १९४५ में दिल्ली आये थे। यहाँ अखबार बेचा करते थे और सुबह-शाम सब्ज़ी मंडी की एक दुकान पर तरकारियाँ बेचते थे। दिन में वह एक विशेष पुलिस अधिकारी की हैसियत से काम करते थे। बीते दिनों को याद करके वह कहते हैं, "१९४६ में मैं सेवादल का सक्रिय सदस्य बन गया। मैं एक झंडा और बिगुल लेकर चलता था और बिगुल बजाकर लोगों से कांग्रेस के लिए चार-चार आना चंदा जमा करता था।" अपनी बेहद मुस्तैदी और काम करने के उत्साह की बदौलत आख़िरकार यशपाल कपूर स्टेनोग्राफ़र और टाइपिस्ट की हैसियत से नेहरू के पास तक पहुँच गये जिनको वह अपना हीरो मानकर पूजते थे। १९५६ से उन्होंने श्रीमती गांधी के साथ काम किया और जब वह प्रधान मंत्री बन गयीं तो कांग्रेस के काम-काज के सिलसिले में उनके ग़ैर-सरकारी दूत की हैसियत से वह बड़ी तेज़ी से शिखर पर पहुँच गये। उनका पद अंडर-सेक्रेटरी का था। जब से वह राज्यसभा के सदस्य बने उसके बाद से उनका असर घटता गया और उनकी जगह उनके रिश्ते के भाई आर० के० धवन ने ले ली।

१५. सत्तावन-वर्षीय इन्दरकुमार गुजराल के परिवार में राजनीति की परम्परा रही है। उनके पिता पाकिस्तान की संसद के सदस्य थे और देश के बँटवारे के बाद इसके बदले में उन्हें पंजाब की विधानसभा में सीट दी गयी। वह लाहौर में कम्युनिस्टों के छात्र-संगठन ऑल-इंडिया स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन के सदस्य थे। फिर वह कांग्रेस में भरती हुए और 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान जेल गये। दिल्ली में वह नयी दिल्ली म्यूनिसिपल कमेटी के वाइस-प्रेसिडेंट के पद का सहारा लेकर उन्नति की सीढ़ियाँ चढ़ते गये, और कला-जगत् के माध्यम से उन्होंने नेहरू तथा इन्दिरा गांधी के साथ सम्पर्क स्थापित किया। उनके प्रसिद्ध कलाकार भाई सतीश गुजराल पहले कलाकार

थे जिनसे १९५६-५७ में नेहरू और इन्दिरा ने बैठकर अपने चित्र बनवाये। जब सतीश ने इन्दिरा का चित्र बनाकर पूरा किया तो उन्होंने पंडित नेहरू से यह आशंका भी प्रकट की कि शायद वह उसे अपने घर की किसी दीवार पर लगाना पसन्द न करें क्योंकि उनके कई मित्रों ने यह टीका की थी कि उस चित्र में सतीश ने इन्दिरा को बहुत कठोर और निर्मम दिखाया था। नेहरू ने कहा था, "कलाकार का काम सच्चाई पर परदा डालना नहीं बल्कि उसे उजागर करना है। मैं समझता हूँ कि तुमने जो भी किया है ठीक किया है।"

१६. विद्याचरण शुक्ल—उम्र पचास साल, क़द लंबा, स्वभाव में अहंकार। वह राजनीतिक वातावरण के बीच ही पले-बढ़े हैं। उनके पिता रविशंकर शुक्ल नेहरू के ज़माने में मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री थे, और उनके बड़े भाई श्यामाचरण शुक्ल इन्दिरा गांधी के शासनकाल में अपने पिता की तरह ही मध्य प्रदेश के मुख्य-मंत्री बने। विद्याचरण शुक्ल श्रीमती गांधी की सरकार में रक्षा-उत्पादन के राज्य-मंत्री बने। राज्य में और केन्द्र में दोनों भाइयों ने अपने बीच सत्ता का बँटवारा इस सफ़ाई के साथ कर रखा था कि श्रीमती गांधी उनमें से एक को उसके उच्च पद से हटाने की बात सोचने लगीं। परन्तु इमर्जेंसी लागू होने के बाद उन्होंने विद्याचरण शुक्ल को सूचना तथा प्रसारण-मंत्रालय का भार सौंपने की ज़रूरत महसूस की, ताकि प्रचार के माध्यम का ज़्यादा सख़्ती के साथ इस्तेमाल किया जा सके, जैसा कि गुजराल नहीं कर पा रहे थे या नहीं करना चाहते थे। महिलाओं के प्रति उनके आचार-व्यवहार के कारण उनके नाम वी० सी० शुक्ल की व्याख्या 'वेरी चालू शुक्ल' के रूप में भी की जाती है।

१७. राजेन्द्रकुमार धवन सरगोधा ज़िले के चनयोट नामक स्थान के रहने वाले हैं, जो अब पाकिस्तान में है। वह बहुत चुस्त, बने-सँवरे रहने वाले ४०-वर्षीय नौजवान हैं। उन्होंने देश के विभाजन की सारी मुसीबतें झेली हैं। १९४७ में वह अपने परिवार के साथ शरणार्थी की हैसियत से दिल्ली आये और यशपाल कपूर के परिवार के साथ रहने लगे। १९५७ में वह ऑल-इंडिया रेडियो में स्टेनोग्राफ़र की नौकरी करने लगे। संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षा पास कर लेने के बाद उन्हें रेलवे में नियुक्त किया गया था लेकिन इसके बजाय वह श्रीमती गांधी के निजी सहायक के रूप में काम करने लगे, जब वह न्यूयार्क विश्व प्रदर्शनी प्राधिकरण की अध्यक्षा थीं। जब वह सूचना तथा प्रसारण-मंत्री बनीं उस समय भी वह उनके निजी सहायक के रूप में काम करते रहे और आगे चलकर उनके एडिशनल प्राइवेट सेक्रेटरी बन गये। इस हैसियत से उन्होंने लगभग वही ख्याति प्राप्त कर ली जो किसी ज़माने में यशपाल कपूर की थी; इमर्जेंसी के दौरान वह उनके दाहिने हाथ बन गये थे। धवन कहते हैं, "आदमी के जीवन का सबसे अच्छा समय तेईस और चालीस वर्ष के बीच होता है। वह समय मैंने यहाँ बिताया है।" उन्होंने २१ मार्च को सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया और अब भी जबकि इन्दिरा गांधी एक साधारण नागरिक मात्र रह गयी हैं, वह उनके लिए ही काम करते हैं।

१८. आनंद भवन इलाहाबाद में नेहरू परिवार का आलीशान मकान था जिसे श्रीमती गांधी ने राष्ट्र को अर्पित कर दिया था।

१९. तीन मूर्ति भवन अंग्रेज़ों के ज़माने में कमांडर-इन-चीफ़ के रहने की आलीशान कोठी थी, जो भारत के पहले प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू का निवास-स्थान बना। अब वहाँ एक संग्रहालय है जिसे रोज़ सैकड़ों पर्यटक बड़ी उत्सुकता से देखने आते हैं। बाहर इसके अहाते में नेहरू संग्रहालय और नेहरू स्मारक पुस्तकालय है।

२०. विजयलक्ष्मी पंडित अपने भाई जवाहरलाल नेहरू से बारह वर्ष छोटी थीं और वह अपनी इस रूपवती बहन को प्यार से 'नान' कहते थे। श्रीमती पंडित १९३७ में उत्तर प्रदेश में कांग्रेसी मंत्रिमंडल में मंत्री बनीं। वह इंग्लैंड, अमरीका और सोवियत संघ में भारत की पहली महिला हाई कमिश्नर तथा राजदूत, संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनरल असेंबली की पहली महिला अध्यक्ष और महाराष्ट्र की गवर्नर रहीं। उनका प्रतिभाशाली जीवन-वृत्त धीरे-धीरे क्षीण पड़ता गया और अपनी भतीजी के प्रति एक कटुतापूर्ण द्वेष तक सीमित रह गया। प्रधान मंत्री बनने के बाद इन्दिरा गांधी ने उन्हें अपनी माँ कमला के साथ किये व्यवहार के लिए कभी क्षमा नहीं किया। इन्दिरा बीती हुई बातों को कभी भूलती नहीं। विजयलक्ष्मी पंडित को राज-नीतिक दृष्टि से बेकार बैठे रहना पड़ा और अंत में उन्होंने राजनीति से संन्यास ले लेने का फ़ैसला कर लिया। १९७७ में वह इन्दिरा-विरोधी लहर के दौरान एक बहुत कठिन समय में नये विपक्ष का समर्थन करने के लिए फिर राजनीति के मैदान में उतरीं, जिससे इस आंदोलन को बहुत नैतिक सहारा मिला।

२१. ललितनारायण मिश्र छोटे क़द के मोटे और गोलमटोल आदमी थे, जिनकी गर्दन चरबी की मोटी-मोटी तहों में बिलकुल खो गयी थी। उन्हें बिहार में जगजीवनराम का असर कम करने के लिए प्रमुखता दी गयी थी। ललित-नारायण मिश्र उन लोगों में से थे जिन्होंने मारुति को बढ़ावा देने का भरसक प्रयत्न किया। वह माँ और बेटे दोनों ही के बहुत निकट थे और उनकी अंतरंग मंडली के एक सदस्य बन गये थे। २ जनवरी १९७५ को, जब समस्तीपुर में एक बम-विस्फोट में उनकी हत्या कर दी गयी उस समय वह केंद्रीय सरकार में रेल-मंत्री थे। उसके बाद से श्रीमती गांधी यह बताने के लिए कि उन्हें और उनके मित्रों को मिटा देने के लिए लगातार साज़िशें की जा रही थीं, हमेशा ललितनारायण मिश्र की हत्या की मिसाल देती थीं।

२२. जगजीवनराम का जन्म १९०८ में आरा (बिहार) में हुआ था। १९४६ से वह लगातार केंद्र में मंत्री रहे हैं। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था : "शायद ही कोई मंत्रालय ऐसा होगा जिसका मुझे अनुभव न हो!" खुलेआम श्रीमती गांधी का समर्थन करते रहने के बावजूद वह हमेशा उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकते रहे हैं, क्योंकि संसद में तथा हरिजनों के बीच उनकी जो साख है और उन्हें जो समर्थन प्राप्त है उसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। उनकी ख्याति यह है कि वह बहुत चतुर हैं। उन्होंने कांग्रेस पार्टी के अंदर श्रीमती गांधी के ख़िलाफ़ विद्रोह करके २ फ़रवरी १९७७ को कांग्रेस छोड़ दी, जिसके फलस्वरूप कांग्रेस फ़ॉर डेमोक्रेसी बनी, जो बाद में ५ मई १९७७ को जनता पार्टी में विलीन हो गयी। इस समय वह केंद्रीय सरकार में रक्षा-मंत्री हैं।

जगजीवनराम के गहरे काले चमकते हुए चेहरे के साथ ही उनमें

बहुत ही शांत तथा संतुलित विवेक का जो गुण है, उसके कारण लोग कभी उनके बारे में सही अनुमान नहीं लगा पाते और अपने सबसे गंभीर संकट की घड़ी में श्रीमती गांधी तो चकमा खा ही गयीं। फिर भी जगजीवनराम को प्रधान मंत्री का वह पद न मिल सका जो वह चाहते थे।

२३. नवल टाटा का संबंध टाटा के व्यापारिक घराने से है।

२४. नंदिनी सत्पथी अभी केवल सैंतालीस वर्ष की हैं। साँवले रंग और सुडौल नाक-नक़्श वाली इस नाज़ुक आकर्षक महिला की मुस्कराहट में विजली जैसी चमक है और राजनीति के क्षेत्र में अनथक काम करने की शक्ति है। वह पहले भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्य थीं,लेकिन १६५२ में कांग्रेस में आ गयीं, और बढ़ते-बढ़ते श्रीमती गांधी की अनन्य विश्वासपात्र बन गयीं, सूचना तथा प्रसारण-मंत्रालय में उप-मंत्री और फिर राज्य-मंत्री बनीं। १६७४ में वह उड़ीसा की मुख्य मंत्री बनीं, लेकिन अतंत: वह इन्दिरा गांधी की विश्वासपात्र बनी रहने की लड़ाई हार गयीं और १६ दिसंबर १६७६ को उन्हें इस्तीफ़ा देना पड़ा। वह कांग्रेस फ़ॉर डेमोक्रेसी के संस्थापक सदस्यों में से थीं।

२५. राष्ट्रपति भवन के सामने वोट क्लब के मैदान में जो विशाल मीटिंग की गयी थी उसमें लगभग पंद्रह लाख आदमी प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी का भाषण सुनने आये थे। उस दिन पहली बार मंच पर उनके दोनों बेटे राजीव और संजय उनके साथ मौजूद थे। श्रीमती गांधी ने कहा, "मैंने वचपन से अपने देश की सेवा की है और अपने जीवन की अंतिम साँस तक करती रहूँगी। असली सवाल यह है कि देश उन समाजवादी नीतियों पर चलेगा या नहीं जो चार साल पहले शुरू की गयी थीं।" उन्होंने यह भी कहा कि देश के भीतर और वाहर दोनों ही जगह ऐसी शक्तियाँ हैं जो उन्हें मिटा देने के लिए काम कर रही हैं।

२६. बुढ़ापा ७४-वर्षीय जयप्रकाश नारायण की विद्रोह की भावना को क्षीण नहीं कर सका है। वह मार्क्सवादी आस्था लेकर कांग्रेस पार्टी में आये और उसमें विद्रोह का झंडा वुलंद करके राममनोहर लोहिया, यूसुफ़ मेहरअली, मीनू मसानी, अशोक मेहता तथा अच्युत पटवर्धन के साथ मिलकर उन्होंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। यह वह समय था जब वह चाहते थे कि नेहरू, जो उनसे तेरह वर्ष बड़े थे, कांग्रेस से नाता तोड़कर समाजवादी आंदोलन को मज़बूत करें। नेहरू ने इंकार कर दिया। वेस्टमिनिस्टर प्रणाली की ब्रिटिश संसदीय पद्धति से, राज्यसत्ता की भूमिका से और कल्याणकारी राज्य से भी क्रमश: मोह-भंग होने के कई दौर आने के बाद जयप्रकाश के अंदर धधकती हुई राजनीतिक ज्वाला मंद पड़ती गयी। गांधीवाद तक वह वहुत चक्करदार मार्ग से पहुँचे, परंतु इसी रूप में उन्होंने अपनी एकमात्र सफल लड़ाई लड़ी—अंतिम लड़ाई, 'संपूर्ण क्रांति' की लड़ाई जिसकी वदौलत अंततोगत्वा इन्दिरा गांधी की शक्तिशाली शासन-सत्ता का पराभव हुआ।

२७. फखरुद्दीन अली अहमद अगस्त १६७४ से फ़रवरी १६७७ तक भारत के राष्ट्रपति थे। इस पद पर काम करते हुए ही दिल का दौरा पड़ने से उनकी मृत्यु हो गयी। १६६६ में कांग्रेस की फूट के दौरान वह इन्दिरा गांधी के पक्के समर्थक और बाद में उनकी सरकार में मंत्री रहे। उन्होंने जितने अध्यादेशों पर हस्ताक्षर किये उतने आज तक किसी राष्ट्रपति ने नहीं किये

थे। उन्होंने कैम्ब्रिज में शिक्षा पायी थी और उनमें पुराने ज़माने के सारे आकर्षण बाक़ी थे। वह संगीत और कला के प्रेमी थे और उन्होंने तथा जीवन के उत्साह से भरपूर उनकी बेगम आबिदा ने राष्ट्रपति भवन में तरह-तरह के रोचक लोगों का आतिथ्य-सत्कार किया।

२८. हेमवतीनंदन बहुगुणा का जन्म २५ अप्रैल १९१७ को उत्तर प्रदेश में हुआ था। वह इन्दिरा गांधी से सात महीने बड़े हैं। वह ९ नवम्बर १९७३ को उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री बने और ३० नवम्बर १९७५ को इस पद से इस्तीफ़ा दे दिया।

२९. तिरेसठ-वर्षीय देवकान्त बरुआ असम के समाजवादी विचारों वाले कांग्रेसी हैं। वह फ़ीरोज़ गांधी के मित्र थे। उनका दिमाग़ एक विषय से इतनी जल्दी दूसरे विषय पर पहुँच जाता है मानो उनकी बौद्धिकता भटक रही हो, किसी चीज़ से भाग रही हो। कांग्रेस में उनके साथी कहते हैं, "उनके साथ पार्टी की किसी समस्या पर बहस करने के लिए पहले एक दर्जन असंबंधित विषयों के बारे में उनके भटकते हुए फुटकर विचारों को सुनना पड़ता है।" बरुआ केन्द्रीय सरकार में १९७१-७३ में पेट्रोलियम तथा रसायन-मंत्री थे। १९ अक्तूबर १९७४ को वह कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये और उन्हें अपनी अध्यक्षता में अपनी आँखों के सामने एक साम्राज्य को बिखरते हुए देखना पड़ा, जब मार्च १९७७ के चुनाव में कांग्रेस की बुरी तरह हार हुई। परन्तु वह स्वयं अपनी सीट से संसद का चुनाव जीत गये।

३०. सिद्धार्थशंकर रे का जन्म १९२० में हुआ था। १९७१ में वह पश्चिम बंगाल के मुख्य मंत्री बने। इमर्जेंसी के पूरे दौरान-भर वह इन्दिरा गांधी के पक्के समर्थक रहे, लेकिन उन्हें कांग्रेस के अन्दर वामपंथी गुट के साथ सम्बद्ध किया जाता रहा; इस गुट के बारे में श्रीमती गांधी को पक्का सन्देह हो गया था कि वह उन्हें हटाना चाहता है। कांग्रेस की हार के बाद उन्होंने जिस तरह खुलकर श्रीमती गांधी की आलोचना की उससे कुछ लोगों को उन पर राज-नीतिक अवसरवादिता का सन्देह होने लगा।

३१. कामराज नाडर कांग्रेस के लौह-पुरुष कहलाते थे। वह तमिलनाडु के मुख्य मंत्री थे, परन्तु राष्ट्रीय राजनीति पर अपनी छाप उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में डाली। १९६६ में उन्होंने प्रधान मंत्री के पद के लिए मोरारजी के ख़िलाफ़ इन्दिरा गांधी के पक्ष में समर्थन जुटाने में प्रमुख भूमिका अदा की। वह बहुत अक्खड़ और सीधे-सादे आदमी थे। उन्होंने सहज बुद्धि पर आधारित राजनीति की प्रणाली आरम्भ की। वह बहुत कम बोलते थे, पर उनके चुप रहने में भी एक तीखापन रहता था। वह जवाहरलाल नेहरू के बहुत प्रशंसक थे, लेकिन इन्दिरा गांधी का समर्थन उन्होंने केवल भावनाओं के कारण नहीं किया। वह समझते थे कि प्रधान मंत्री बनने के बाद वह उनकी बात मानेंगी और उनके असर में रहेंगी। यह जानकर उन्हें बहुत आघात पहुँचा कि वह इसके लिए तैयार नहीं थीं। २ अक्तूबर १९७५ को उनका देहान्त हो गया।

३२. उमाशंकर दीक्षित अब छिहत्तर वर्ष के हैं। एक साधारण व्यक्ति के रूप में नेहरू परिवार से उनका बहुत पुराना सम्बन्ध रहा था। राष्ट्रीय स्तर की राजनीति में उन्हें इन्दिरा गांधी अपनी उस रणनीति की एक चाल के रूप में लायीं कि उनके चारों ओर उनके वफ़ादार लोग रहें जो उनकी हाँ-में-हाँ

मिलाते रहें। उनके राजनीतिक जीवन का चरम विन्दु वह था जब वह १९७३-७५ में केन्द्रीय सरकार के गृह-मंत्री रहे। जैसे ही वह यह समझने लगे कि वह सचमुच कुछ महत्त्व रखते हैं, श्रीमती गांधी ने उन्हें जहाज़रानी तथा परिवहन का मंत्री बना दिया और उसके वाद कर्नाटक का गवर्नर बनाकर बिलकुल महत्त्वहीन कर दिया। एक शिथिल बूढ़े आदमी के रूप में जब वह दिल्ली में सत्ताधारी थे तो वह अपनी वहू पर पूरा भरोसा करते थे।

३३. साठ-वर्षीय राजनारायण, जो एक झक्की सोशलिस्ट के रूप में मशहूर हैं, आख़िरकार शिखर तक पहुँच ही गये। उनकी वातों पर कभी कोई संजीदगी से ध्यान नहीं देता था, जब तक कि वह इन्दिरा गांधी के ख़िलाफ़ अपनी चुनाव याचिका का मुक़द्दमा जीत नहीं गये और अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें उस घटनाक्रम के लिए श्रेय नहीं मिल गया जिसने भारतीय राजनीतिक जीवन के पूरे ताने-वाने को ही बदल दिया। वह ऑल-इंडिया सोशलिस्ट पार्टी के अध्यक्ष थे और इस समय केन्द्रीय जनता सरकार में स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण के मंत्री हैं। वह खाते जी भर कर हैं और कुश्ती लड़ने का उनका प्रिय मनोरंजन उनके हृष्ट-पुष्ट शरीर से पूरी तरह मेल खाता है। उनकी आदत है कि वह अपने विचार इस तरह पेश करते हैं कि दूसरे आदमी को सोचने की प्रेरणा कम मिलती है और उसका मन-बहलाव अधिक होता है। जब इन्दिरा गांधी हारीं तो लोग कहते थे, "वह इनसे कैसे हार गयीं!" इन्दिरा गांधी राजनारायण से नहीं हारीं, वह ख़ुद अपने आपसे हार गयीं।

३४. भीष्म पितामह महाभारत में कौरवों और पांडवों दोनों ही के सलाहकार थे। दोनों की लड़ाई में वह कौरवों के साथ थे, लेकिन उन्हें सभी शक्तिशाली आदमी मानते थे और उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकते थे।

३५. कमलापति त्रिपाठी पंडित हैं और देखने में लगते भी हैं—माथे पर वड़ा-सा तिलक और सारा स्वभाव तथा आचार-व्यवहार ब्राह्मणों जैसा। इस कारण लोग उनका जिस तरह आदर करते हैं उसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन कोई भी उत्तर प्रदेश के इस पुराने नेता जैसा चतुर नहीं हो सकता—केवल इन्दिरा गांधी को छोड़कर जो उन्हें भी अपने इशारों पर नचाती रहीं। वह १९७१ से १९७३ तक उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री रहे और १९७३ में केन्द्रीय सरकार में परिवहन तथा जहाज़रानी के मंत्री वने। जगजीवनराम के कांग्रेस छोड़कर चले जाने के वाद एक वयोवृद्ध अनुभवी कांग्रेसी नेता के रूप में उनकी साख फिर जम सकी, जब इन्दिरा गांधी को अपने पुराने परखे हुए साथियों का सहारा लेने की ज़रूरत पड़ी।

३६. नारायणदत्त तिवारी इस समय इक्यावन वर्ष के हैं। वह इमर्जेंसी के दौरान उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री वने और इस वात के लिए वदनाम रहे कि वह संजय के इशारे पर चलते थे। पढ़ने में वह वेहद तेज़ थे। क़ानून के प्रथम वर्ष में वह प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम रहे, कूटनीति में एम० ए० की प्रथम वर्ष की परीक्षा में वह प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम रहे, और क़ानून की अन्तिम वर्ष की परीक्षा भी उन्होंने प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम रहकर पास की। १९४२ में वह कांग्रेस आंदोलन में थे लेकिन १९४८ में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में चले गये। १९५७ में वह प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के टिकट पर उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य चुने गये और विपक्ष के नेता रहे। वह फिर कांग्रेस में आ

गये और बहुगुणा के मंत्रिमंडल में वित्त-मंत्री बने और उसके बाद स्वयं मुख्य मंत्री बन गये।

३७. शंकरदयाल शर्मा ने लिकंस इन्न से बार-एट-ला की परीक्षा पास की है। इस समय वह ५९ वर्ष के हैं। वह १९६८-७२ में कांग्रेस के जनरल-सेक्रेटरी रहे; १९६९ की लड़ाई के दौरान ऐन वक़्त पर वह इन्दिरा गांधी की तरफ़ आ गये और इसलिए उनका पद बचा रहा। १९७२ में वह कांग्रेस के अध्यक्ष बने। वह बहुत चतुर और समझदार आदमी हैं और बातचीत बहुत अच्छे ढंग से करते हैं। उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष के पद को प्रधान मंत्री के सुर-में-सुर मिलाने की स्थिति से बदलने की कोई कोशिश नहीं की।

३८. सरदार वल्लभभाई पटेल नेहरू के मंत्रिमंडल में एकमात्र ऐसे आदमी थे जिनके गिर्द एक विरोधी गुट संगठित हो सकता था। परन्तु उन्होंने अपने मन को समझा लिया कि जनता के बीच वह कभी नेहरू जितने लोकप्रिय नहीं हो सकते। नेहरू अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के प्रसंग में काम करते थे, पर सरदार की दृष्टि अपने देश की परिस्थितियों पर केन्द्रित रहती थी। वह बहुत दृढ़, व्यावहारिक और यथार्थनिष्ठ गृह-मंत्री थे। आदर्शवादी बातों से वह अधीर हो उठते थे। उन्होंने देसी-रजवाड़ों की रियासतों का बड़ी सुगमता के साथ भारतीय संघ में विलय कराया।

३९. एक करोड़ शरणार्थियों का पेट भरने, युद्ध में पकड़े गये पाकिस्तानी सेना के ९०,००० सैनिकों की देखभाल, और अर्थतंत्र पर उसके प्रभाव के फलस्वरूप क़ीमतें बढ़ीं, जिसकी पहले से ही आशंका थी। भारत की इस अभूतपूर्व विजय पर जब लोगों में उल्लास की लहर अपने शिखर पर थी उस समय श्रीमती गांधी ने चेतावनी दी थी कि "हमें इसकी क़ीमत चुकानी पड़ेगी।"

४०. कृष्णकुमार बिड़ला का सम्बन्ध बिड़ला के व्यापारिक घराने से था।

४१. उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी नेता।

४२. उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी नेता।

४३. उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी नेता।

४४. जगमोहनलाल सिन्हा का जन्म १९ मई १९२० को अलीगढ़ में हुआ था। वह बरेली में वकालत करते थे; वहीं ज़िले के सरकारी वकील नियुक्त हुए और फिर सिविल तथा सेशन जज की हैसियत से न्यायिक सेवा में आ गये।

वह २५ अगस्त, १९७२ को इलाहाबाद हाईकोर्ट के स्थायी जज नियुक्त हुए और १९८२ में रिटायर होंगे। उनके बाल सफ़ेद हैं, उनकी मुद्रा गंभीर है और उनमें अदम्य साहस है।

४५. मुहम्मद यूनुस एक असाधारण आदमी हैं जिनमें कई गुण एक साथ मिल गये हैं। उनकी जवानी राजनीति में बीती और फिर भारतीय विदेश सेवा में भरती होकर वह कई देशों में भारत के राजदूत रहे। इस समय उनकी उम्र ६१ वर्ष की है। उनका जन्म वर्तमान पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत के एबटाबाद शहर में हुआ था। वह ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ के सेक्रेटरी रहे (जिनकी बेटी की शादी यूनुस के बड़े भाई के साथ हुई है)। वह अंग्रेज़ों के खिलाफ़ खुदाई ख़िदमतगार आन्दोलन के बहुत पक्के और जोशीले समर्थक रहे।

यूनुस जवाहरलाल नेहरू के साथ १९३८ से १९४१ तक रहे और

उनके मित्र, अनुयायी और प्रशंसक वन गये; यह सम्वन्ध अगली पीढ़ी तक, इन्दिरा गांधी के पति फ़ीरोज़ गांधी के साथ भी बना रहा। यूनुस को 'भारत छोड़ो' आंदोलन में चार वर्ष की सज़ा हुई और पंठानों के इतिहास पर उनकी किताब पर पावंदी लगा दी गयी। वह अरब देशों की समस्याओं के विशेषज्ञ हैं; मुँहफट आदमी हैं लेकिन वात पते की कहते हैं और गोलियों की बौछार जैसे उनके बोलने के ढंग के पीछे वैयक्तिक तथा राजनीतिक प्रतिवद्धता के लिए उनकी लगभग भावुक चिंता छिपी रहती है। वह ६ अक्तूबर १९७५ को श्रीमती गांधी के विशेष दूत बने, 'समाचार' की स्थापना का श्रेय उन्हीं को है; वह गुट-निरपेक्ष देशों की समाचार एजेंसियों के समूह की समन्वय समिति के अध्यक्ष चुने गये थे।

४६. चौंसठ-वर्षीय परमेश्वरनारायण हकसर मूलत: वैरिस्टर थे; वाद में वह विदेश सेवा में रहे, परन्तु उनकी प्रतिष्ठा इस क्षेत्र में उनके काम के कारण उतनी नहीं है जितनी कि अपनी निजी उपलब्धियों के कारण—उनकी गम्भीर विवेकपूर्ण बौद्धिकता मूलगामी परिवर्तन के विचार-क्षेत्र में क्रिया-शील रही। १९६७ में वह उन्नति करके प्रधान मंत्री के प्रमुख प्राइवेट सेक्रेटरी के सर्वोच्च पद पर पहुँच गये और १९७१ तक की प्रवृत्तियों पर अपना प्रवल प्रभाव डालते रहे, जव उन्हें प्रधान मंत्री के साथ मतभेद हो जाने के कारण अपना पद छोड़ना पड़ा। ३ जनवरी १९७५ को योजना आयोग के उपाध्यक्ष के रूप में एक वार फिर वह सत्ता के क्षेत्र में आये। परन्तु श्रीमती गांधी के साथ उनके सम्वन्ध फिर कभी वैसे हार्दिक न हो सके।

४७. सीताराम केसरी विहार के ५८-वर्षीय कांग्रेसी नेता हैं जिनकी आँखों में चमक और तेवर में बाँकपन है। लेकिन वह उन ठोस लोगों में से हैं, जो बुनियादी तौर पर संगठन के काम में निपुण हैं और अपनी चाल-ढाल और हाव-भाव से सोलह आने पेशेवर राजनीतिज्ञ लगते हैं। वह १९३४ से विहार प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सदस्य हैं; १९६४-६७ में वह अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पर्यवेक्षक, १९६७-७० में लोकसभा के सदस्य और १९७१ के वाद से राज्यसभा के सदस्य रहे। उनके डील-डौल को देखकर उनके किसी क्रांति-कारी हलचल के साथ सम्वन्धित होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती, पर वह १९३१-३३ में रांची षड्यंत्र कांड के सिलसिले में जेल गये थे और उसके वाद कांग्रेस आंदोलन के दौरान तीन वार और जेल हो आये हैं।

४८. वसंतराव पुरुषोत्तम साठे महाराष्ट्र से राज्यसभा के सदस्य हैं। वह ५२ वर्ष के हैं, लंवा क़द, नीली आँखें, सुन्दर चेहरा। वह आर्थिक सुधार के बहुत मुखर समर्थक हैं। महत्त्वपूर्ण घटनाओं के साथ जिन पुरुषों तथा स्त्रियों का सम्वन्ध रहता है उनके चरित्र का मूल्यांकन वह राजनीतिक नहीं वल्कि दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर करते हैं। वह कांग्रेस संसदीय दल की कार्यकारिणी और संविधान में संशोधनों का सुझाव देने के लिए वनायी गयी स्वर्णसिंह-समिति के सदस्य थे।

४९. कासू ब्रह्मानन्द रेड्डी, जो इस समय ६८ वर्ष के हैं, १९६४ से १९७१ तक आन्ध्र प्रदेश के मुख्य मंत्री रहे। वह 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दिनों में जेल जा चुके हैं और खेल-कूद में गहरी रुचि रखते हैं। वह केन्द्र में दृढ़ता और कार्यकुशलता की ख्याति अपने साथ लेकर आये। जनवरी १९७४ में वह

केन्द्रीय सरकार में संचार-मंत्री वनाये गये और अक्तूबर १९७५ में उन्हें गृह-मंत्री का प्रतिष्ठित पद सौंपा गया। उनका क़द छोटा और रंग गहरा है और वह देखने में बहुत मिलनसार नहीं लगते। लेकिन जब वह बातें करने लगते हैं तो पार्टी की समस्याओं के वारे में किसी भी वात के वारे में बहुत दृढ़ता के साथ अपने को प्रतिवद्ध किये विना इतने विस्तार के साथ वोलते हैं कि सुनने वाला भ्रम में पड़ जाता है। मेरा विचार है कि इमर्जेंसी के दौरान उन्हें जिस गुमनामी में अपना समय विताना पड़ा उसके आघात से वह अभी तक उवर नहीं पाये हैं।

२. वामपंथियों से डर

सिद्धार्थशंकर रे ने, जो उस समय पश्चिम बंगाल के मुख्य मंत्री थे, स्वीकार किया, "२६ जून को संजय ने सब-कुछ अपने हाथ में सँभाल लिया। उसके बाद मैं कहीं नहीं था। मेरा कोई संपर्क नहीं रह गया और इमर्जेंसी के बाद तो मैं बाहर निकालकर फेंक दिया गया। वे लोग नहीं चाहते थे कि इन्दिरा तक किसी की पहुँच हो।"

"लेकिन आप तो इमर्जेंसी के पक्ष में थे," मैंने उन्हें याद दिलाया।

"हाँ, था तो, लेकिन मैं सिर्फ़ तीन महीने के लिए इमर्जेंसी चाहता था। इमर्जेंसी का ऐलान किये जाने से पहले प्रधान मंत्री के पास बहुत-सी रिपोर्टें आ चुकी थीं, जिनसे पता चलता था कि क़ानून और व्यवस्था की स्थिति बहुत गंभीर है। मेरे दिमाग़ में यह बात बिलकुल साफ़ थी कि इमर्जेंसी बहुत थोड़े समय के लिए होनी चाहिए और उसे सिर्फ़ इस काम के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए कि देश में जो उन्माद पैदा हो गया था वह ठीक हो जाये। लेकिन जल्द ही हम लोगों से कोई संबंध ही नहीं रह गया।"

महान देशभक्त चित्तरंजनदास[1] के नाती ५७-वर्षीय सिद्धार्थ शंकर रे की नेहरू परिवार के साथ तीन पीढ़ियों से मित्रता चली आ रही थी; और साथ ही उनकी पृष्ठभूमि भी कांग्रेस में रहने के कारण एक जैसी ही थी। सच तो यह है कि २५ जून तक वह उन इने-गिने लोगों में थे जो 'इन्दिरा' से—वह उन्हें इसी तरह संबोधित करते थे—न केवल प्रधान मंत्री की हैसियत से बल्कि एक साथी की तरह भी मिल सकते थे। उनका क़द इतना लंबा है कि ज़्यादातर लोगों से ऊँचे दिखायी देते हैं; भारी-भरकम शरीर, कंधे कुछ झुके हुए, आँखों पर मोटा चश्मा—सिद्धार्थशंकर रे में एक प्रतिभाशाली और संपन्न व्यक्ति का सहज आत्म-विश्वास था। वह और उनकी पत्नी माया रे[2] दोनों ही बैरिस्टर हैं; उस समय तक उनकी पत्नी भी संसद की सदस्य थीं। दोनों श्रीमती गांधी के घर पर बड़ी बेतकल्लुफ़ी के साथ खाने पर खुलकर बातें कर सकते थे।

एक राजनीतिक नेता के रूप में इन्दिरा गांधी की सिद्धार्थशंकर रे सचमुच प्रशंसा करते थे, और बाद में उन्होंने स्वयं ही कहा, "हम लोग उनकी एक तरह से पूजा करते थे। लेकिन ज़रूरत पड़ने पर वह खरी बात कहने से चूकते भी नहीं थे, कम-से-कम १९७४ तक तो यही बात थी। उन्होंने महसूस किया कि मारुति के लिए संजय को जिस ज़मीन की ज़रूरत थी वह तिकड़म से उसे दिलवाकर

वंसीलाल ने उसे अपने चंगुल में कर रखा है। लेकिन जब उन्हें उसके कारोबार के बारे में और ज़्यादा बातें मालूम हुईं तो उन्होंने सोचा कि इन्दिरा को सचेत कर देना चाहिए। ज़ाहिर है कि वह उनसे मिले। संजय भी वहाँ मौजूद था। रे ने एक-एक करके सारी बातें गिनायीं और उनके बारे में प्रधान मंत्री से बात की। फिर वह संजय की ओर मुड़े।

"तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए, यह बुरी बात है, ग़लत बात है," उन्होंने कहा।

"लेकिन हर व्यापारी यही करता है," संजय ने तड़ाक से जवाब दिया।

"हर व्यापारी प्रधान मंत्री का वेटा या नेहरू का नाती नहीं होता।"

नेहरू का हवाला संजय को अच्छा नहीं लगा होगा, क्योंकि वह अपने नाना के विचारों को ब्रह्मा की लकीर नहीं मानता। लेकिन बाद में उसका जो रवैया सामने आया उससे तो पता चलता है कि वह अपनी माँ के कुछ साथियों की, और ख़ुद अपनी माँ की राय को भी कोई ख़ास महत्त्व नहीं देता था। एक बहुत बड़े अफ़सर ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा, "वह हर बात में बहुत समझदारी का सबूत देती थीं, लेकिन जैसे ही मारुति की या संजय की बात आती थी उनको अचानक न जाने क्या हो जाता था।"

लेकिन संजय की हरकतों के बारे में अपनी राय साफ़-साफ़ ज़ाहिर कर देने की वजह से १९७४ में सिद्धार्थशंकर रे को वह सब-कुछ नहीं भुगतना पड़ा जो हकसर को पहले भुगतना पड़ा था। उनके पारिवारिक संबंध बहुत पुराने और मज़बूत थे और इसके अलावा उस वक़्त तक सत्पथी-यादव-रे-बरुआ के गँठजोड़ के पक्ष में पार्टी के अंदर वामपंथी समर्थन भी काफ़ी मज़बूत था। और फिर जयप्रकाश नारायण का आंदोलन भी ख़तरनाक रूप धारण करता जा रहा था, इसलिए यह ज़रूरी था कि पार्टी के अंदर साथियों के बीच सहयोग की भावना बनाये रखी जाये, और वे श्रीमती गांधी की तरफ़ रहें। इस मौक़े पर इन्दिरा गांधी पार्टी के अंदर लोकतांत्रिक समर्थन प्राप्त करने की मजबूरी को नज़रअंदाज़ कर देने का ख़तरा मोल नहीं ले सकती थीं, भले ही अपने वामपंथी सपने को त्याग देने का अंतिम रूप से फ़ैसला कर भी लिया था। लेकिन इन सब बातों से वह यह महसूस करने लगी थीं कि वह चारों ओर से घिरती जा रही हैं। उन्होंने अमरीका के दवाव की काट करने के लिए १९७१ में रूसियों के साथ मित्रता की संधि भी कर ली थी।

जब निक्सन के सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट हेनरी किसिंजर चुपके-से इस्लामाबाद के रास्ते पीकिंग गये थे, उस वक़्त उन्होंने इन्दिरा को चेतावनी दी थी कि बाँगलादेश के सवाल पर भारत पाकिस्तान पर हमला न करे। उन्होंने यह भी कहा था कि चीन पाकिस्तान की मदद करेगा, लेकिन अमरीका भारत की मदद को नहीं आयेगा। डी० पी० धर[1], जो मास्को में भारत के राजदूत रहने के बाद उसी वर्ष जून में लौटकर आये थे, फ़ौरन मास्को गये और अगस्त १९७१ में आश्वासन लेकर वापस आ गये। इसके कुछ ही दिन बाद सोवियत विदेश-मंत्री आंद्रेई ग्रोमिको मित्रता की संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए भारत पहुँच गये।

श्रीमती गांधी के एक राजनीतिक साथी का मत है, "पहले यह भावना बन चुकी थी कि हमारा कोई मित्र नहीं है। लेकिन बात इसकी उल्टी ही निकली।"

युद्ध में भारत की जीत के बाद और १९७२ के विधानसभा के चुनावों के बाद जब भारत के मतदाता पूरी तरह इन्दिरा गांधी के वश में आ चुके थे, उनकी

साख देश के भीतर भी और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी आसमान छूने लगी थी। लेकिन उनकी लोकप्रियता के साथ लोगों की आशाएँ भी बढ़ती जा रही थीं। ऐसा नहीं था कि उन्हें इस बात का अंदाज़ा नहीं था कि कौन-से काम सबसे पहले करने हैं। बहुत बाद में १५ नवंबर १९७५ को उन्होंने कहा था, "निजी तौर पर मैं महसूस करती हूँ कि आज दुनिया के ज़्यादातर हिस्से में तरक़्क़ी का जो पूरा ढंग अपनाया जा रहा है वह भारत के लिए तरक़्क़ी का ग़लत ढंग है, और यह कि अगर हम इस ढर्रे पर चले, चाहे वह उद्योग क़ायम करने के क्षेत्र में हो या चिकित्सा के क्षेत्र में या शिक्षा के क्षेत्र में, तो हम कभी भी देश के सबसे ग़रीब लोगों तक नहीं पहुँच सकेंगे। आज समृद्ध देशों में कम-से-कम लोगों पर ज़्यादा-से-ज़्यादा पैसा ख़र्च किया जा रहा है। और हम देखते हैं कि हमारे देश में भी बहुत-कुछ यही तरीक़ा अपनाया जा रहा है।"[४]

१९७२ के बाद भूमि-सुधार, शहरी ज़मीन-जायदाद की हदबंदी, खेती की आमदनी पर टैक्स और इसी तरह के कुछ ऐसे दूसरे उपायों के सिलसिले में लगातार कुछ क़दम उठाने का कार्यक्रम बनाया गया था, जिसकी सीधी चोट पैसे वालों पर और उन लोगों पर पड़ती थी जिन्हें समाज में कुछ विशेषाधिकार मिले हुए थे।

प्रख्यात अर्थशास्त्री ए० एम० ख़ुसरो का कहना है, "मुझे हमेशा यह महसूस होता रहा है कि श्रीमती गांधी १९६६ से ही आर्थिक क्षेत्र में किसी भी अमली रास्ते को मानने और उसके बारे में कोई फ़ैसला करने के बारे में बहुत झिझकती रही हैं। कुछ लोग इसकी वजह यह बताते थे कि उनके अपने दिमाग़ में कोई ख़ास आर्थिक ढाँचा नहीं है, और शायद जब कोई रास्ता सुझाया जाता है तो उसके बारे में उन्हें यह भरोसा नहीं हो पाता कि वह सही है भी या नहीं। चाहे वह अनाज की क़ीमतों की नीति का सवाल हो या औद्योगिक नीति का, इजारेदार घरानों पर नियंत्रण रखने का सवाल हो या खाद्यान्न के क्षेत्रों का सवाल, मैंने तो यही देखा कि बड़े-से-बड़े अधिकारियों के दिमाग़ में कोई साफ़ चित्र नहीं था; किसी तरह काम चला लेने का रवैया बाक़ी था। शायद इसका संबंध प्रधान मंत्री के स्तर पर किसी प्रकार के संकोच के साथ रहा हो।"

चंद्रशेखर ने कहा, "वह अपने स्वभाव से ही हमेशा उदार और ग़रीब आदमी के पक्ष में रही हैं।" और इसके बाद ही उन्होंने उनका यह कठोर मूल्यांकन भी किया, "लेकिन उनमें दृढ़ विश्वास की कमी है। जब पैसे वालों से टक्कर लेने का सवाल आता है तो वह सीधी टक्कर लेने से हिचकिचा जाती हैं।"

भारत के पुराने देसी रजवाड़ों को अँग्रेज़ों ने जो विशेषाधिकार दिये थे और उनके लिए जो भत्ते बाँधे थे और जो ज़िम्मेदारी भारत-सरकार ने अपने ऊपर ले ली थी, उसे ख़त्म कर देने के सवाल पर चह्वाण के साथ श्रीमती गांधी का जो झगड़ा हुआ उसमें भी यह बात बिलकुल साफ़ नज़र आती थी। वह विशेषाधिकार ख़त्म कर देने के पक्ष में तो थीं लेकिन गुज़ारा-भत्ता बंद करने को तैयार नहीं थीं। जून १९६७ में अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में "पुराने रजवाड़ों के गुज़ारे-भत्ते को छोड़कर अन्य सभी विशेषाधिकारों" में कटौती करने के बारे में जब एक औपचारिक प्रस्ताव रखा गया, तो चह्वाण ने मोहन धारिया से इसमें एक संशोधन का प्रस्ताव पेश करवा दिया कि गुज़ारा-भत्ता भी बंद कर दिया जाये। चह्वाण ने बाद में लाचारी के साथ कहा, "कोई कर ही क्या सकता था। प्रधान मंत्री बाद में आयीं। इस संशोधन को स्वीकार करने के लिए प्रस्ताव

पेश कर दिया गया और ज़ाहिर है जिन लोगों को उसमें दिलचस्पी थी वे रुके रहे। जो लोग कांग्रेस में गहरी दिलचस्पी नहीं रखते थे वे चले गये।"१

यह बात तो चह्वाण ने भी मानी कि दूसरे मंत्रियों की तरह हालाँकि प्रधान मंत्री भी यह महसूस करती थीं कि जल्दी मचाकर उन्हें यह प्रस्ताव स्वीकार करने पर 'मजबूर' कर दिया गया था, लेकिन "वह उसके ख़िलाफ़ नहीं थीं।" जब इस विधेयक के बारे में १९७० में राज्यसभा में बहस हुई उस वक़्त उन्होंने यह दलील दी कि जिस 'ढंग से' चटपट यह बिल ए० आई० सी० सी० में पास करा लिया गया था, जब वहाँ केवल पच्चीस मेंबर मौजूद थे, उससे वह "थोड़ा सा परेशान हुई थीं" जबकि कुल मेंबरों की संख्या ७५५ थी और उनमें से ३१५ मेंबर उस मीटिंग में आये थे।

१९६९ में भी यही हुआ। मोरारजी के साथ श्रीमती गांधी के झगड़े को इस हद तक पहुँचा देने के लिए पी० एन० हकसर ज़िम्मेदार थे। उनसे वित्त-मंत्री का पद छीन लेने के बाद वह उनका इस्तीफ़ा उस वक़्त तक मंज़ूर करने को तैयार नहीं थीं जब तक कि सरकार चौदह बैंकों का कारोबार अपने हाथों में न ले लेती, जो एक ऐसा क़दम था जिसे उठाने में उन्होंने बहुत जोश दिखाया। उस वक़्त इसकी वजह से भी जनता पागलों की तरह उनका साथ देने को उमड़ आयी थी। लेकिन वह सिर्फ़ एक हद तक जाने को तैयार थीं, उससे आगे नहीं। आखिरकार जब वह हकसर और दूसरे लोगों के समझाने-बुझाने से मान गयीं और मोरारजी देसाई का इस्तीफ़ा मंज़ूर करते हुए उन्होंने उनके नाम पत्र पर दस्तख़त कर दिये तो हकसर ने फ़ौरन अपना एक आदमी ऑल-इंडिया रेडियो के दिल्ली स्टेशन भेजकर इस फ़ैसले का ख़बरों के बीच ऐलान करवा दिया।

नतीजा यह हुआ कि ख़बर पहले पढ़ी गयी और वह ख़त मोरारजी देसाई के पास बाद में पहुँचा। उन्होंने इसे अपना अपमान समझा और यह बात कही भी, लेकिन हकसर को इस बात का संतोष था कि उन्होंने ऐसी चाल चली थी जिससे बच निकलने का कोई रास्ता ही नहीं था, और उन्होंने श्रीमती गांधी को अपनी राय बदलने का मौक़ा ही नहीं दिया था।

श्रीमती गांधी ने जो रवैया अपनाया था उसमें सामाजिक स्तर पर प्रगति की अपेक्षा राजनीतिक लाभ का ध्यान अधिक रखा गया था, हालाँकि इससे सबसे ज़्यादा फ़ायदा ख़ुद उन्हीं को हुआ, क्योंकि इस घटना से उनकी ऐसी धाक जमी कि १९६९ में पार्टी में उन्हें भरपूर समर्थन मिला और १९७१ और १९७२ के चुनावों में इतने अधिक वोट मिले।

बाद में चंद्रशेखर के साथ अपने व्यवहार में श्रीमती गांधी विचारधारा के सवालों पर हमेशा टालमटोल का रवैया अपनाती थीं। १९७१ में 'ग़रीबी हटाओ' के नारे के बल पर, जिसने किसी चीज़ को बाज़ार में बेचने की एक ज़बर्दस्त मुहिम का रूप धारण कर लिया था, जब जनता के बीच उनकी धाक पूरी तरह जम गयी, तो एक दिन उन्होंने चंद्रशेखर को बुलाया।

उन्होंने चंद्रशेखर से कहा, "हमें देश के लिए बहुत बड़े-बड़े काम करने हैं। अगर तुम साथ दो तो हम बहुत-कुछ कर सकते हैं। मुझे तुम्हारी मदद की ज़रूरत है।"

"ज़रूर, ख़ुशी से," चंद्रशेखर ने कहा, "मैं पार्टी का एक सदस्य हूँ। आप जो भी चाहें मैं करने को तैयार हूँ।"

इसके अलावा और ज़्यादा कुछ बात नहीं हुई।

कुछ समय बाद उन्होंने चंद्रशेखर को फिर बुलवाया।

"ग़रीबों के लिए कुछ करना ज़रूरी है," उन्होंने बड़ी हमदर्दी के साथ कहा, "हमने जनता से जो वादे किये हैं उन्हें हमें पूरा करना है। आप इसके लिए एक योजना क्यों नहीं बनाते?"

चंद्रशेखर ने समझा, वह सचमुच ऐसा करना चाहती हैं। उन्होंने उन सभी पहलुओं के बारे में एक बहुत लंबा-चौड़ा नोट तैयार करके उन्हें दे दिया, जिनके बारे में वह समझते थे कि फ़ौरन कुछ किया जा सकता है।

एक बार फिर श्रीमती गांधी ने उनसे कहा, "आप अगर हमारा हाथ बँटायें तो हम आगे बढ़ सकते हैं।"

उनके उस नोट पर उसके बाद और कोई कार्रवाई नहीं हुई।

चंद्रशेखर को कुछ झुँझलाहट भी हुई और कुछ परेशानी भी। लेकिन एक और राजनीतिक दोस्त यह सब-कुछ सुनकर हँस पड़े।

"तुम समझते हो कि वह सचमुच यह सब-कुछ करना चाहती थीं? वह तो सिर्फ़ यह जानना चाहती थीं कि तुम मंत्री बनना चाहते हो या नहीं। वह तुम्हें इस बात का मौक़ा दे रही थीं कि तुम अपने मुँह से यह बात कहो।"

चंद्रशेखर निराश होना तब से शुरू हुए जब उन्होंने देखा कि १९७१ के बाद उनका पूरा रवैया ही बदल गया है। उसी साल १० अप्रैल को जब उन्होंने इंडियन चैंबर्स ऑफ़ कॉमर्स में भाषण दिया, जिसमें उन्होंने निजी क्षेत्र के साथ मेल-जोल बढ़ाने की पैरवी की थी, तो बात ख़ासतौर पर साफ़ हो गयी।

उनका रुख बहुत नरम और सुलह-समझौते का था। श्रीमती गांधी ने कहा, "यह गुंजाइश तो हमेशा रहती है कि हमारे बीच इस बात पर ईमानदारी के साथ मतभेद हों कि कोई खास नीति समझदारी की नीति है या नहीं। लेकिन आपस की तू-तू मैं-मैं से हम बहुत आगे नहीं बढ़ सकते। सच्चे लोकतंत्रवादियों की तरह हमें एक ऐसे ढाँचे के भीतर रहकर काम करना है जिसे आम जनता का समर्थन प्राप्त हो।" उनका लहजा उस वक़्त भी इतना ही नरम था जब उन्होंने आगे चलकर अर्थ-व्यवस्था के असंतुलनों की और आर्थिक ढाँचे में सरकार की ओर से और ज़्यादा पैसा लगाये जाने की बात की, या उस समय भी जब उन्होंने उद्योगपतियों से अनुरोध किया कि "वे और अधिक रोज़गार के अवसर पैदा करने में सरकार का हाथ बँटायें।"[७]

अपनी पत्रिका यंग इंडियन में मई के एक अंक में चंद्रशेखर ने एक संपादकीय लेख में अपनी यह निराशा ठोस रूप से और साफ़-साफ़ शब्दों में व्यक्त की।

१९७२ तक वह सचमुच बिलकुल ही निराश हो चुके थे। जब गुजराल आवास-मंत्री थे उस वक़्त आवास-मंत्रालय में शहरी ज़मीन की हदबंदी[८] के टेढ़े सवाल के बारे में कमेटी के स्तर पर कई मीटिंगें हो चुकी थीं। फिर एक मीटिंग वित्त-मंत्री वाई० बी० चह्वाण के कमरे में रखी गयी जिसमें प्रधान मंत्री भी आनेवाली थीं। चह्वाण ने चंद्रशेखर को टेलीफ़ोन किया।

जवाब में चंद्रशेखर ने कहा, "मुझसे तो आप सादे कागज़ पर दस्तखत करा लीजिये। आप जो कम-से-कम कार्यक्रम बनाने का फ़ैसला करें मैं तो उसे भी मानने को तैयार हूँ।"

"आज बड़े उदार हो गये हो," चह्वाण ने हँसकर कहा।

"मैं जानता हूँ कि वह इस सिलसिले में कुछ करना ही नहीं चाहतीं।"

और हुआ भी यही। बहस के बाद मीटिंग में जब रिपोर्ट तैयार करने का

सवाल आया तो श्रीमती गांधी ने मुड़कर कहा, "इस सवाल के बारे में सरदार साहब (स्वर्ण सिंह)[९] के विचार बहुत पक्के हैं। पहले उनकी सलाह ले ली जाये।"

चंद्रशेखर बताते हैं, "बेचारे सरदारजी तो वहाँ मौजूद थे नहीं और न ही उन्होंने इस मामले में कोई दिलचस्पी ली थी। एक बार फिर श्रीमती गांधी ने इसका बहाना बनाया था।"

१९६९ में कांग्रेस पार्टी के अंदर वामपंथी धारा काफ़ी सुगठित थी और उसमें वे लोग थे जो कांग्रेस के अंदर ही बढ़े थे या सोशलिस्ट आंदोलन से आये थे—चंद्रशेखर, कृष्णकांत[१०], मोहन धारिया, केशवदेव मालवीय[११] और देवकांत बरुआ जैसे लोग—और फिर ऐसे लोग थे जो कुछ दिन भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में रहने के बाद आये थे—इस तरह के लोग जैसे नंदिनी सत्पथी, जो १९५२ में कांग्रेस में आयीं जब वह लगभग बीस-बाईस वर्ष की थीं, इंदरकुमार गुजराल, चंद्रजीत यादव, के० वी० रघुनाथ रेड्डी[१२], के० आर० गणेश[१३], नूरुल हसन[१४], या डी० पी० धर, जो मोहन कुमारमंगलम के साथ केंद्र की सत्ता में काफ़ी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। मोहन कुमारमंगलम वकील थे और कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धांतवेत्ता रह चुके थे। इन्दिरा कॉलेज के दिनों से मोहन कुमारमंगलम को जानती थीं और उन्होंने अपने मंत्रिमंडल में उन्हें इस्पात तथा खान-मंत्री बना दिया। बम्बई के चतुर और सफल वकील रजनी पटेल[१५] भी कम्युनिस्ट रह चुके थे, लेकिन वह भी इन्दिरा गांधी के निजी दोस्त थे जिन्हें वह बहुत समय से जानती थीं। जब वह कांग्रेस में आये तो अपने साथ बम्बई के बहुत-से बुद्धिजीवियों को भी लेकर आये। वह बम्बई प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष बन गये और १९७३ से विशेष निमंत्रण पर कांग्रेस वर्किंग कमेटी की मीटिंगों में जाने लगे।

सरकारी ढाँचे में सबसे ऊपर प्रधानमंत्री की सेक्रेटेरियट में उनके मुख्य प्राइवेट सेक्रेटरी की हैसियत से पी० एन० हकसर थे। जब वह इस पद पर नियुक्त हुए थे तो आशा की एक लहर दौड़ गयी थी कि मूलगामी सुधारों की एक सुगठित प्रगतिशील नीति बनायी जायेगी और उस पर अमल होगा।

यह ढाँचा हालाँकि इन्दिरा ने खुद बनाया था लेकिन इसका इतने अधिक सुचारु रूप से काम करना और उतना सुगठित होना उन्हें कुछ अच्छा नहीं लगता था।

उनके मन में अविश्वास की बुनियादी भावना इतनी गहरी थी कि किसी भी गरोह, चौकड़ी या गुट के लिए उन पर हावी हो जाना नामुमकिन था। वह इसका मौक़ा ही नहीं देती थीं, क्योंकि वह उसे एक होकर काम ही नहीं करने देती थीं। इसलिए उसके सत्ता पर अधिकार कर लेने की संभावना फ़ौरन ख़त्म हो जाती थी। साथ ही उसकी वजह से कोई सुगठित टोली भी नहीं बन पाती थी और टोली के रूप में मिलकर काम करने की भावना भी नहीं पैदा हो पाती थी। जब किसी कार्यक्रम या नीति पर अमल करने का सवाल उठता था तो यह कमज़ोरी एक बहुत बड़ी बाधा बन जाती थी। नतीजा यह होता था कि विचारधारा के आधार पर जितना लक्ष्य सामने रखा जाता था उतना कभी पूरा नहीं हो पाता था। वह चाहती यह थीं कि उनके साथ काम करने वाले संतुष्ट तो रहें पर साथ ही कमज़ोर भी रहें। उसके पीछे एक उद्देश्य तो निश्चित रूप से यह था कि सत्ता उनके हाथों में बनी रहे, लेकिन शायद एक दूसरा उद्देश्य यह भी था कि अपने मन को संतुष्ट रखने के लिए उनके लिए यह साबित करना ज़रूरी था कि अगर ऐसी नौबत आ ही जाये तो वह अकेले भी काम चला सकती हैं।

महाराष्ट्र से राज्यसभा के मुखर सदस्य वसंत साठे का कहना है, "१९७१ के चुनाव में भारी जीत के बाद इन्दिराजी शुद्धतः अपने बल पर न केवल कांग्रेस की बल्कि पूरे देश की नेता के रूप में उभरकर सामने आयीं। एक बात माननी होगी कि १९६६ में जब वह प्रधान मंत्री बनी थीं उस समय नेहरू की बेटी होने के अलावा उनके साथ कोई महानता नहीं जुड़ी हुई थी। उन्हें इतनी उन्नति करने के लिए खुद कोशिश करनी पड़ी। पहला साल तो उन्होंने प्रधान मंत्री की हैसियत से काम करने के लिए तैयार होने में बिता दिया। संसद में वह चुपचाप बैठी रहती थीं, और विपक्ष के सभी नेताओं, कांग्रेस के बड़े-बड़े दिग्गजों और लोहिया" जैसे लोगों की बातें सुनकर खून का घूंट पीकर रह जाती थीं, जो उन्हें 'गूंगी गुड़िया' कहते थे। लेकिन वह कभी पलटकर जवाब नहीं देती थीं।"

"आपका कहने का मतलब है कि उनमें बदला लेने की भावना बिलकुल नहीं थी?" मैंने साठे से पूछा।

कांग्रेस की मौजूदा अस्त-व्यस्त हालत के बारे में या उस औरत की अंदरूनी मजबूरियों के बारे में जिसने यह हालत पैदा कर दी, कोई सतही राय क़ायम कर लेने के प्रलोभन से बचते हुए उन्होंने स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा, "यह उनके स्वभाव का कोई बुनियादी पहलू नहीं है। उन्हीं लोगों को वह अपने रास्ते से हटा देती थीं जिन पर उन्हें भरोसा रहा हो और उन्होंने उनके साथ विश्वासघात किया हो, या उनकी कोई परवाह न की हो। या जब किसी ने यह जताने की कोशिश की कि वह उनके बहुत निकट है तो उसकी छुट्टी हुई। उन्हें इस बात से चिढ़ थी कि उनके बारे में यह समझा जाये कि कोई दूसरा आदमी उनके दिमाग़ में कोई विचार ठूंस सकता है या उन्हें अपनी मर्ज़ी से किसी ख़ास दिशा में चला सकता है। लेकिन वह बहुत वफ़ादार भी हैं और जो उनके प्रति वफ़ादार रहता है उसका हर तरह से बचाव करती हैं। जब कोई आदमी बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण होता है और ऐसा जताने की कोशिश करता है तो वह उसे धता बता देती हैं। लेकिन जब कोई छोटा आदमी उनके प्रति वफ़ादारी का सबूत देता है तो उसे पूरा संरक्षण देती हैं, जैसे यशपाल कपूर।"

साठे ने आगे चलकर यह मत भी व्यक्त किया कि १९७१ के बाद उनमें इतना आत्म-विश्वास पैदा हो गया कि आख़िरकार उन्होंने अपना सिक्का जमाना शुरू कर दिया और संगठन में तथा मंत्रिमंडल में उनके जो साथी "अपने बल पर यहाँ तक पहुँचे थे, बहुत बड़े लोग थे और नेहरू के साथी थे," उन्हें वह उचित दूरी पर रखती थीं। वह यह जताती थीं कि वह उन लोगों की बहुत इज़्ज़त करती हैं, लेकिन उन लोगों के मन में यह भावना पैदा होती थी कि वह उन्हें दूर रखने की कोशिश कर रही हैं। साठे को अपनी ही बात का खंडन करने का तनिक भी आभास नहीं हुआ जब उन्होंने अपनी बात ख़त्म करते हुए कहा, "वह कभी किसी को, ख़ासतौर पर चोटी के बड़े-बड़े लोगों को, अपना निकट विश्वासपात्र होने की स्थिति में नहीं आने देती थीं।"

अगर वह शुरू से ही किसी पर पूरी तरह भरोसा नहीं करती थीं तो किसी के उनके साथ विश्वासघात करने का सवाल ही कहाँ पैदा होता है?

न सिर्फ़ यह कि इन्दिरा गांधी खुद किसी पर पूरी तरह भरोसा नहीं करती थीं बल्कि वह किसी को इस बात का भी मौक़ा नहीं देती थीं कि वह उन पर पूरी तरह भरोसा करे। उन्होंने समानांतर राजनीति का एक सिद्धांत बना लिया था जिस पर उन्होंने इतनी निपुणता से अमल किया कि सब लोग हमेशा यही

सोचते रह जाते थे कि अब वह न जाने क्या करेंगी। १९६९ में उन्होंने वामपंथियों के उस गरोह में भी फूट डालने की कोशिश की जिनके समर्थन की बदौलत ही उनकी साख बनी थी कि वह ग़रीबों की मसीहा हैं। उदाहरण के लिए आर० के० सिन्हा[१७] के घर पर एक बार कांग्रेस के वामपंथियों की एक मीटिंग हुई थी जिसमें चंद्रशेखर से लेकर चंद्रजीत यादव तक सभी लोग मौजूद थे। कृष्णकांत, नंदिनी सत्पथी, मोहन धारिया, रघुनाथ रेड्डी, के० आर० गणेश, अमृत नहट्टा[१८], के० पी० उन्नीकृष्णन्[१९], चिंतामणी पाणिग्रही[२०], शशिभूषण[२१], और कितने ही और लोग थे। इन लोगों की दलील यह थी कि कांग्रेस की नयी वर्किंग कमेटी में देश की नयी मनोभावना प्रतिबिंबित होनी चाहिए और उसमें सोशलिस्ट फ़ोरम[२२] को समुचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। इस फ़ोरम की स्थापना जवाहरलाल नेहरू के ज़माने में कांग्रस के अंदर ही वामपंथी दबाव डालने वाले एक दल के रूप में की गयी थी।

जब श्रीमती गांधी को इसका पता चला तो उन्होंने चुपके से चंद्रजीत यादव, नंदिनी सत्पथी और रघुनाथ रेड्डी को अलग बुलाकर कहा, "मैं तुम लोगों को ले लूंगी, तुम बाक़ी सबको क्यों चाहते हो?" चंद्रजीत यादव को चंद्रशेखर की टक्कर पर खड़ा करके, जो मोटे तौर पर पूरी वामपंथी धारा का प्रतिनिधित्व करते थे, उन्होंने स्वयं सोशलिस्ट फ़ोरम के अंदर एक संकट पैदा कर दिया। यही वह वक़्त था जब राज्यसभा के कांग्रेसी सदस्य संत बख़्शसिंह ने, जो पहले कम्युनिस्ट रह चुके थे, कांग्रेसियों के एक गरोह को "भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का समर्थन करने वाले तत्त्व" कहना शुरू कर दिया था। उन्होंने पहले-पहल इस शब्दावली का प्रयोग इन 'तत्त्वों' और तथाकथित 'असली' कांग्रेसियों के बीच अंतर को उजागर करने के लिए किया था।

के० पी० उन्नीकृष्णन बताते हैं, "चंद्रशेखर को इसकी कुछ भनक मिल गयी थी, लेकिन हम लोग इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे।...श्रीमती गांधी ने सोचा था कि अगर दो वामपंथी गरोह हो जायें, दो दक्षिणपंथी गरोह हो जाय और दो बीच के रास्ते पर चलने वाले गरोह हो जायें तो खेल ज्यादा आसान हो जायेगा। मैं जगजीवनराम के बारे में हमेशा बहुगुणा से झगड़ा किया करता था क्योंकि हम लोग जगजीवनराम को दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया का प्रतीक समझते थे। हम लोग श्रीमती गांधी की उन चालों को, जिनकी बुनियाद विचारधारा के कोई सिद्धांत नहीं होते थे, विचारधारा के सिद्धांतों के अनुसार उचित ठहराने की कोशिश करते थे। हमने कभी यह सोचा भी नहीं था कि वह एक साथ इतने अलग-अलग स्तरों पर काम कर रही हैं।"

उन्नीकृष्णन्, जो इकतालीस वर्ष के हैं और अभी तक कुँआरे हैं, राममनोहर लोहिया की सोशलिस्ट पार्टी से १९६० में कांग्रेस में आये थे। उन्होंने लोहिया का साथ इसलिए छोड़ दिया था कि वह उनके नेहरू-विरोध से और हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के उनके उन्मादियों जैसे प्रचार से सहमत नहीं थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि लोकतंत्र के बिना समाजवाद लाना असंभव है, कि भारत में हर जन-आंदोलन का रूप इस देश की विविधता से निर्धारित होगा, और यह कि पार्टी के ढाँचे को अंदर से मज़बूत करके ही इस गुत्थी को सुलझाया जा सकता है। फ़रीदाबाद[२३] में जब इन लोगों ने कुछ सवालों पर एक ख़ास रवैया अपनाया था तो उसके पीछे यही उद्देश्य था।

उन्नीकृष्णन् कहते हैं, "लेकिन अब पिछली बातों पर नज़र डालने पर मैं

समझता हूँ कि श्रीमती गांधी को इन बातों में कोई दिलचस्पी ही नहीं थी। वह न वामपंथी हैं, न दक्षिणपंथी। वह किसी ढाँचे के साथ बँधकर नहीं रहना चाहती थीं, उन्होंने हर ढाँचे का फ़ायदा उठाया, जिसका नतीजा यह हुआ कि समस्याओं को सुलझाने के बजाय, और पार्टी को लोकतांत्रिक ढंग से बहस करके ऐसा करने का मौक़ा देने के बजाय, उन्होंने विचारधारा के स्तर पर उलझावों को और बढ़ने दिया। बुनियादी तौर पर हमें भरोसा था—हम यह समझते थे कि जो भी गड़बड़ी होती थी उसके लिए वह नहीं बल्कि कोई और ज़िम्मेदार होता था। कभी यशपाल कपूर, कभी उमाशंकर दीक्षित। जब नेहरू फ़ोरम[१४] बनाया गया तो हमने उन्हीं को दोषी ठहराया। हम यह भूल गये कि ये लोग तो केवल साधन मात्र थे। किसी-न-किसी साज़िश की—अमरीकी सी० आई० ए० की या रूसी के० जी० बी० की—और पार्टी के अंदर षड्यंत्रकारियों की हरदम चर्चा होती रहती थी। इन सब बातों को उस वक़्त हम लोग समझ ही नहीं सकते थे, अलावा उस प्रसंग में जो अब हुआ है, सारी सत्ता हथिया लेने की कोशिश के प्रसंग में। श्रीमती गांधी ने इसी उद्देश्य के लिए पार्टी को इस्तेमाल किया। संजय गांधी के उभरने के बाद यह एक निश्चित ढर्रा बन गया।"

इसी सवाल के बारे में चंद्रजीत यादव ने पुरानी घटनाओं को याद करते हुए कहा, "इस बात पर विश्वास करने के लिए पूरा आधार मौजूद है कि इन्दिराजी संजय को बढ़ावा देने के लिए कुछ तत्त्वों को इस्तेमाल करना चाहती थीं। मैं यह भी समझता हूँ कि वह यह सोचती थीं कि दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व हो सकता है। नेहरू फ़ोरम संजय की मुट्ठी में रहे और सोशलिस्ट फ़ोरम उनकी मुट्ठी में।"

मैंने पूछा, "तो यह उनकी महज़ एक वक़्ती तौर पर फ़ायदा उठाने की चाल थी?"

"हाँ, लेकिन यह चाल उनके काम नहीं आयी," चंद्रजीत यादव ने जवाब दिया।

घर के भेदी की दृष्टि से देखते हुए आर० के० धवन कहते हैं, "१९७१ के बाद से हकसर का बोलबाला था। जितने भी लोग हटाये गये वे ऐसे लोग थे जिन्होंने उनके इशारे पर चलने से इंकार किया—मिसाल के लिए, के० के० शाह[२५], भगवत झा आज़ाद[२६], दिनेशसिंह, बलिराम भगत[२७] और जगन्नाथ राव[२८]। वही सिद्धार्थशंकर रे और कुमारमंगलम को लाये।" धवन का कहना है, "सिर्फ़ कम्युनिस्ट विचारों के लोग लाये गये थे और संगठन पर क़ब्ज़ा कर लेने की पूरी कोशिश की जा रही थी।"

लेकिन हकसर कोई ऐसा काम नहीं कर रहे थे जो श्रीमती गांधी न चाहती रही हों। बहरहाल, उनको वही लायी थीं, और किसी भी देश के नेता का यह कहना शोभा नहीं देता कि उसका कोई सहयोगी, कोई साथी, कोई बाहरी आदमी या कोई बाहरी प्रभाव नीति के इतने ऊँचे स्तरों पर उससे स्वतंत्र रहकर काम कर रहा था। इसके अलावा, प्रधान मंत्री बनने के बाद से श्रीमती गांधी के काम करने के ढंग में कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती जिससे यह संकेत मिले कि उन्हें कोई दूसरा व्यक्ति अपने उद्देश्य के लिए इस्तेमाल कर सकता है। असल में बात इसकी उल्टी ही है। सच पूछा जाये तो जैसा कि चंद्रशेखर ने कहा है, "वह उन लोगों को इसलिए इस्तेमाल कर रही थीं कि दुनिया की नज़रों में वह वामपंथी लगें।" उस वक़्त लक्ष्य यह था कि जिसमें दक्षिणपंथी होने की ज़रा-सी भी गंध हो, या जिसके बारे में यह खतरा हो कि वह सत्ता पर अधिकार करने को अपना

लक्ष्य मानने वाले किसी भी सुगठित गरोह का अंग हो सकता है, उसे निकालकर फेंक दिया जाये।

मिसाल के लिए, किशोरलाल[1] एक मज़दूर नेता थे और बाद में वह दिल्ली कार्पोरेशन के कांग्रेसी सदस्य बन गये थे। उनके सिलसिले में जो कुछ किया गया उसमें हकसर का नहीं बल्कि सीधे श्रीमती गांधी का हाथ था। किशोरलाल दिल्ली में कांग्रेस की राजनीति के कर्त्ता-धर्त्ता चौधरी ब्रह्मप्रकाश के ख़ास आदमी थे। चौधरी ब्रह्मप्रकाश ने १९६७ में इन्दिरा गांधी के ख़िलाफ़ मोरारजी देसाई का समर्थन किया था और इसलिए उन्हें दक्षिणपंथी समझा जाता था। ब्रह्मप्रकाश ने राजनीति त्याग दी लेकिन किशोरलाल ने धीरे-धीरे अपने पाँव मज़बूती के साथ राजनीति के क्षेत्र में जमा लिये। श्रीमती गांधी ने मार्च १९७१ के आम चुनावों में दिल्ली के लिए चुनाव की रणनीति पर विचार करने के लिए हकसर के साथ किशोरलाल को भी बुलाया। लेकिन जब चुनाव के बाद सारे देश में कांग्रेस की असाधारण जीत हुई और दिल्ली में भी लोकसभा की सातों सीटें कांग्रेस ने जीत लीं तो दूसरे लोगों के साथ किशोरलाल भी श्रीमती गांधी को बधाई देने गये, उस समय उन्होंने जान-बूझकर और साफ़ जताकर उनकी तरफ़ से मुँह फेर लिया। दो महीने बाद जब दिल्ली कार्पोरेशन के लिए स्थानीय चुनाव हुए तो उन्होंने किशोरलाल के समर्थकों में से किसी को भी टिकट नहीं दिया। किशोर का कहना है, "खुद मुझे टिकट देने के फ़ैसले का ऐलान भी आख़िरी क्षण तक नहीं किया गया। ऐसा लगता था जैसे किसी को जान-बूझकर ज़लील किया जा रहा हो, इस तरह कि वह यह महसूस करने लगे कि वह कोई भिखारी है। इतना ही नहीं, अंदर-ही-अंदर चुपके-चुपके कांग्रेस के पूरे संगठन को मुझे हराने पर लगा दिया गया, मुझे, जबकि मैं खुद कांग्रेसी था।"

किशोरलाल तो जीत गये, लेकिन कांग्रेस हार गयी और उसने कार्पोरेशन में अपना बहुमत खो दिया। स्वाभाविक बात थी कि किशोरलाल कांग्रेसी विपक्ष के कार्यकारी नेता चुने गये। इसके बाद इन्दिरा गांधी की तरफ़ से उनकी जगह कोई दूसरा नेता खोजने के लिए जोड़-तोड़ शुरू हुई। किशोरलाल अड़ गये, और उन्होंने चंद्रजीत यादव को, जो उस वक़्त कांग्रेस के जनरल-सेक्रेटरी थे, इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि चुनाव गुप्त मतदान से हो। किशोरलाल जीत गये। इस बार जब वह अपनी नेता, प्रधान मंत्री से शिष्टता के नाते मिलने गये तो वह यह तय करके गये थे कि बात साफ़ ही कर लेंगे।

उन्होंने जाकर श्रीमती गांधी से पूछा, "इन्दिराजी, आपको मुझसे क्या शिकायत है? एक तो यह कि मैं ब्रह्मप्रकाश के साथ हूँ? दूसरे यह कि मैं तिकड़मबाज़ हूँ? तो जाँच करा लीजिये। नंदाजी[2] सत्रह मामलों की जाँच कर चुके हैं, अठारहवीं जाँच मेरे ख़िलाफ़ भी कर लें। लेकिन जहाँ तक चौधरी ब्रह्मप्रकाश का सवाल है, तो मैं सरहद[3] का रहने वाला हूँ, मैं उनके साथ था और उनके साथ रहूँगा। मैं किसी का एहसान कभी भूलता नहीं। मैं अपने दोस्तों का साथ आख़िर तक निभाता हूँ।"

"नहीं, नहीं," प्रधान मंत्री ने घबराकर कहा, "ऐसे लोगों को तो मैं पसंद करती हूँ।"

मैंने किशोरलाल से पूछा, "उसके बाद क्या आपकी तरफ़ उनका आम रवैया रूखेपन का हो गया?"

"नहीं, इस बात के लिए तो मैं उनकी तारीफ़ करूँगा, उसके बाद मेरे साथ

उनका रवैया कुछ बेहतर ही हो गया।"

मतलब यह है कि निजी स्तर पर श्रीमती गांधी ने भी जान लिया कि उनके साथ खिलवाड़ नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह मुँह पर साफ़ बात कहने की हिम्मत रखते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि राजनीतिक स्तर पर भी उन्होंने हार मान ली थी। उसके बाद पाँच साल तक लगातार उन्हें बाहर निकालने की कोशिशें की जाती रहीं, यहाँ तक कि उनके नेतृत्व के ख़िलाफ़ अविश्वास प्रस्ताव रखने को भी बढ़ावा दिया गया। आख़िरकार श्रीमती गांधी ने कार्पोरेशन के कांग्रेसी सदस्य सी० बी० गुप्ता से, जो उनके विश्वासपात्र थे, बहुत झुँझलाकर कहा, "आप बस उन्हें हटाने की बातें-भर करते रहते हैं, लेकिन हटाते नहीं।"

वामपंथी प्रवृत्ति को मज़बूत करने की कोशिश के दौरान उन्होंने महसूस किया कि यह ज़रूरत से ज़्यादा शक्तिशाली होती जा रही है। हालाँकि इस दलील की बुनियाद पर कि वह किसी भी तरह की दलबंदी के ख़िलाफ़ हैं उन्होंने १९७३ में ही दोनों फ़ोरम ख़त्म करवा दिये थे, लेकिन उसके फ़ौरन ही बाद कांग्रेस संसदीय दल की कार्यकारिणी की सदस्यता के लिए सीटों पर जो लड़ाई हुई वह साफ़-साफ़ दो अलग-अलग धाराओं को मानकर हुई थी। नेहरू फ़ोरम के नेता ए० पी० शर्मा[१२] कांग्रेस संसदीय दल के उप-नेता चुने गये, लेकिन इसके अलावा सोशलिस्ट फ़ोरम के लोगों को अच्छा-ख़ासा बहुमत मिल गया।

जून १९७३ में नंदिनी सत्पथी ने, जिनके बारे में यह कहा जाता था कि प्रधान मंत्री के साथ उनके संबंध इतने अच्छे थे कि वह उनके सोने के कमरे में बैठकर उनके साथ बात कर सकती थीं, उन्हें कांग्रेस पार्टी के संगठन की हालत के बारे में एक बहुत चिंता-भरा ख़त लिखा। उसमें उन्होंने अपना यह विचार व्यक्त किया था कि अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी (ए० आई० सी० सी०) बिलकुल निष्क्रिय और ग़ैर-राजनीतिक संस्था बनकर रह गयी थी और साथ ही इस पर आश्चर्य भी प्रकट किया था कि लोग आपस में तो हर तरह की चर्चा करते थे लेकिन श्रीमती गांधी के सामने कोई खुलकर बात नहीं करता था। ऐसा मालूम होता है कि घुन लगना शुरू हो गया था। लेकिन आगे चलकर नंदिनी सत्पथी ने जो कुछ कहा उसका मतलब तो लगभग यही था कि वह संगठन के ऊपर एक और सत्ता क़ायम करने की कोशिश कर रही थीं। उन्होंने सुझाव रखा कि एक छोटी-सी टोली "हकसर, डी० पी० चट्टोपाध्याय,[१३] के० आर० गणेश, रघुनाथ रेड्डी, एल० एन० मिश्र और कुलदीप नारंग[१४] की बना दी जाये जो आपके लिए संगठन से संबंध रखने वाले और राजनीतिक सवालों के बारे में कुछ लिखा-पढ़ी का और दफ़्तर का काम करे और आपके सामने उनके बारे में रिपोर्ट पेश करे।" उन्होंने अपने पत्र में यह भी लिखा कि ये सभी लोग चूँकि दिल्ली में रहते हैं इसलिए जब भी ज़रूरत हो तो रजनी पटेल, सिद्धार्थशंकर रे और दूसरे लोगों को भी इस टोली के काम में शामिल किया जा सकता है। उन्होंने प्रधान मंत्री को यह भी विश्वास दिलाने की कोशिश की कि इस टोली की कल्पना ए० आई० सी० सी० के, या किसी भी दूसरे संगठन के टक्कर पर एक समानांतर संस्था के रूप में नहीं की गयी है, और यह कि उसका काम सिर्फ़ उनकी मदद करना होगा। यह टोली संगठन से संबंध रखने वाली या किसी राजनीतिक समस्या या स्थिति का ठोस रूप से अध्ययन कर सकती है, उसका मूल्यांकन कर सकती है, और "जो भी हल वह उचित समझे आपके सामने रख सकती है।"

लेकिन व्यवहार में इसका मतलब यही था कि कार्यकारिणी से ऊपर एक ऐसी संस्था बना दी जाये जो ए० आई० सी० सी० के क्रियाशील होने से पहले ही कोई क़दम उठा सके। इस बात से श्रीमती गांधी डर गयीं और उन्हें इस टोली की नीयत पर शक होने लगा।

लेकिन ऐसा लगता है कि इन लोगों की कोशिशें इसके बाद भी इस रूप में जारी रहीं कि वे वामपथी झुकाव की बुनियाद पर अफ़सरों की नियुक्ति, उनके तबादले और उनके चुनाव के मामले में असर डालने की कोशिश करते रहे। आख़िरकार इसका नतीजा इतना तो निकला ही कि इन लोगों ने श्रीमती गांधी को इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वह शंकरदयाल शर्मा की जगह देवकांत बरुआ को कांग्रेस का अध्यक्ष नियुक्त कर दें। और, बरुआ के दिमाग़ में यह बात बिलकुल साफ़ थी कि वह अपने साथ काम करने के लिए किन लोगों को चाहते थे।

"दुर्गाप्रसाद धर को जनरल-सेक्रेटरी बनवा देने में तुम मेरी मदद करो," उन्होंने धवन से कहा। वह अच्छी तरह जानते थे कि इस बात का फ़ैसला भले ही प्रधान मंत्री के हाथ में हो पर धवन उसके लिए ज़मीन तो तैयार कर ही सकते थे।

श्रीमती गांधी ने देखा कि उनके समाजवाद का गुलाबीपन कुछ लाल होता जा रहा है, हालाँकि सीधे-सीधे कम्युनिस्ट गुट के प्रभाव में और वामपंथी झुकाव रखनेवाले कांग्रेसियों के प्रभाव में ज़मीन-आसमान का अंतर था।

इसके बारे में दिनेशसिंह की राय थी : "असल बात यह है कि अगर आपकी अपनी कोई विचारधारा न हो तो मैं समझता हूँ कि इस बात से कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ता कि आपके साथ किसका सह-अस्तित्व रहता है। उनकी योजना कुछ भी रही हो पर वह कभी स्पष्ट रूप में सामने नहीं आयी। मैं यह तो नहीं कहूँगा कि वह कम्युनिस्ट-विरोधी थीं। विरोधी होने का मतलब होता कि वह उनके ख़िलाफ़ कुछ करतीं।"

मैंने दिनेशसिंह से पूछा, "मतलब यह कि एक ऐसी नेता जिनका कोई ध्येय नहीं था? या कांग्रेस ही ध्येय था?"

"जब आप ताक़त अपने हाथ में समेटना चाहते हैं तो उद्देश्य होना ज़रूरी होता है। यह बात कभी खोलकर समझायी नहीं गयी। उन्होंने कभी साफ़-साफ़ बताया नहीं। कुमारमंगलम के सामने एक उद्देश्य था; वह श्रीमती गांधी को इस्तेमाल करना चाहते थे और सत्ता हथियाना चाहते थे।"

इमर्जेंसी से एक साल पहले श्रीमती गांधी ने एक बार फिर एक ठोस अमली कार्यक्रम के बारे में कुछ जोश पैदा करने की कोशिश की। कांग्रेस वर्किंग कमेटी की एक मीटिंग में उन्होंने अगले दिन बहस करने के लिए फ़ौरन एक रिपोर्ट तैयार करने को कहा। चंद्रशेखर, जो उस समय तक स्वयं वर्किंग कमेटी के सदस्य बन चुके थे, इसके बारे में बताते हैं, "हम लोगों ने सचमुच बड़ी मेहनत से काम किया। शाम को चार बजे तक हमने रिपोर्ट तैयार कर दी। जब पाँच बजे हम लोग मीटिंग में गये तो हमें ऐसा लगा कि उन्हें पहले से मालूम था कि रिपोर्ट में क्या है। जब एक-एक बात पर अलग-अलग बहस होने लगी तो नंदिनी सत्पथी या बहुगुणा, जिन्हें मुख्य मंत्री होने के नाते मीटिंग में भाग लेने के लिए विशेष रूप से निमंत्रित किया गया था, कोई-न-कोई एतराज़ करने लगे। मुझे सचमुच बहुत हँसी आयी। ज़ाहिर है कि उन्हें पहले से कह दिया गया था कि वे कोई झगड़ा

खड़ा कर दें। वह सीधे खुद कभी कुछ नहीं कहती थीं, हमेशा किसी दूसरे आदमी को इस्तेमाल करती थीं।"

तारकेश्वरी सिन्हा का कहना है, "जब सिद्धार्थशंकर रे और नंदिनी मुख्य मंत्री बन गये तो इस दल ने चंद्रशेखर जैसे सच्चे वामपंथियों के ख़िलाफ़ उनके कान ख़ूब भरे।"

इंदरकुमार गुजराल कहते हैं, "हकसर के असर की बदौलत तथाकथित वामपंथियों के हाथ में ताक़त आयी। लेकिन कांग्रेस की सबसे बड़ी बदनसीबी यह है कि वामपंथियों की कोई हस्ती नहीं है। उन्होंने कभी कोई हैसियत बनने ही नहीं दी।"

लेकिन वह न सिर्फ़ एक विचारधारात्मक दबाव महसूस करने लगी थीं—जिसे वह, जैसा कि चंद्रशेखर ने कहा, कभी भी सीधी टक्कर लेकर हल नहीं कर पायीं—बल्कि एक खतरा भी। इस ग्रुप ने, वह जो कुछ भी था, अपना असर बहुत दूर-दूर तक डालना शुरू कर दिया था। श्रीमती गांधी उन बातों के प्रति बहुत सतर्क हो गयी थीं जिन्हें वह इन लोगों की जोड़-तोड़ समझती थीं; उनको डर था कि ये लोग उन्हें ढकेलकर विचारधारा की दृष्टि से एक ऐसी चरम स्थिति तक पहुँचा देंगे जो उनके लिए असुविधाजनक होगा, फिर वे संगठन पर क़ब्ज़ा कर लेंगे और उन्हें निकालकर बाहर फेंक देंगे। यह वह कभी भी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थीं।

इस ख़तरे से बच निकलने के लिए उन्होंने सोशलिस्ट फ़ोरम और नेहरू फ़ोरम दोनों ही को ख़त्म करवा दिया; डी० पी० धर जनरल-सेक्रेटरी नहीं बनाये गये और अगर बरुआ और हकसर की कभी निभी नहीं तो इसका कारण पूरे भरोसे के साथ यही बताया जा सकता है कि श्रीमती गांधी की यह चाल थी कि स्वयं उनके समर्थकों के बीच आपस में फूट रहे।

ऐसा लगता है कि संजय के मामले में भी दोनों की राय एक नहीं थी, यह ऐसा सवाल था जिसकी वजह से बहुत-से दल १९७३ के बाद मिलकर एक हो गये थे। हकसर के घर पर एक मीटिंग हुई थी जिसमें उन्होंने संजय के लंदन में रहने के दिनों का उल्लेख किया था। उन्होंने कहा, "वहाँ वह मेरी निगरानी में रहता था और उस वक़्त भी मेरे पास शिकायतें आती रहती थीं।" बरुआ इस बात पर ग़ुस्से से यह कहकर चले गये, "मैं फ़ीरोज़ का दोस्त था। मैं उसके बेटे के ख़िलाफ़ कुछ नहीं सुन सकता।" बहुत बाद में जाकर १९७७ में बरुआ ने संजय के बारे में ऐसी भाषा में अपने विचार व्यक्त किये कि लगता था कि अंदर-ही-अंदर जो ग़ुस्सा बहुत दिन से उबल रहा था वह अचानक फूट निकला है। जब तक वह इस तरह नहीं बोले, तब तक यह निश्चित रहा कि बरुआ पर कृपादृष्टि बनी रही, और हकसर को जाना पड़ा।

"फिर सिद्धार्थशंकर रे उनके इतना क़रीब कैसे रह सके?" मैंने उनके एक निकट सहयोगी से पूछा।

"सिद्धार्थ बाबू दोहरी चाल चल रहे थे। वे लोग समझते थे कि उनका असर घटते जाने के लिए संजय ज़िम्मेदार है, लेकिन असल बात यह है कि वह खुद ताड़ गयी थीं कि इन लोगों के इरादे क्या हैं।"

क्या थे इन लोगों के इरादे?

पहली बात तो यह है कि ये लोग छः महीने पहले ही इमर्जेंसी लागू करवा देना चाहते थे। श्रीमती गांधी के नाम अपने ८ जनवरी के पत्र में सिद्धार्थशंकर

रे, रजनी पटेल और डी० के० बरुआ ने यह सुझाव दिया था कि परिस्थिति ऐसी हो गयी है कि कोई सख़्त क़दम उठाना ज़रूरी है और यह कि उन्हें उसी वक़्त इमर्जेंसी का ऐलान कर देने का बुनियादी क़दम उठाना चाहिए।

जस्टिस सिन्हा का फ़ैसला आने के दो महीने पहले, संसद के सेंट्रल हॉल में जहाँ से हर चीज़, गप और प्रस्तावों से लेकर विद्रोह तक की शुरुआत होती है—यह अफ़वाह गूँजने लगी कि फ़ैसला श्रीमती गांधी के ख़िलाफ़ होगा और यह कि बरुआ प्रधान मंत्री बन सकते हैं। यह अफ़वाह फैलते-फैलते प्रधान मंत्री की कोठी तक भी पहुँच गयी।

सीताराम केसरी ने, जिन्होंने यह अफ़वाह सुनी थी, कहा, "इसी की काट करने के लिए संजय को चढ़ाया गया।"

फिर १२ जून का दिन आया, फ़ैसले का दिन।

उस दिन सुबह कोई पक्की खबर आने से पहले ही उन्नीकृष्णन् को अंदेशा होने लगा कि शायद वही बात होने वाली है जिसे वह सबसे ज्यादा बुरा समझते थे।

उन्होंने बरुआ से कहा, "मैंने कुछ ख़तरनाक ख़बरें सुनी हैं।"

"नहीं, नहीं," बरुआ ने जवाब दिया, "सब ठीक-ठाक है। गोखले[15] और रजनी ने कहा है।"

दरअसल गोखले ने १० और ११ तारीख़ को धवन को बुलाकर यह पता लगाने के लिए कहा था कि उनके वकील एस०सी० खरे[16] कहाँ हैं। "उन्हें फ़ैसले के वक़्त अदालत में मौजूद रहना चाहिए। अगर कोई गड़बड़ी हो जाये तो वह फ़ौरन दिल्ली आकर सुप्रीम कोर्ट में अपील कर सकते हैं।" सिद्धार्थशंकर रे भी उस वक़्त कमरे में मौजूद थे जब गोखले ने यह बात कही थी।

धवन बताते हैं, "मैंने अपने वकील से संपर्क किया। मुझे ऐसा लगा कि गोखले साहब को इस बात का अंदेशा है कि फ़ैसला हम लोगों के ख़िलाफ़ होने वाला है। वह वकील के वहाँ मौजूद रहने पर बेहद ज़ोर दे रहे थे। मैंने अपनी यह भावना प्रधान मंत्री को नहीं बतायी। मैंने उनसे सिर्फ़ वही कहा जो गोखले साहब ने कहा था।"

इस पर उन्होंने कहा, "वह जो चाहते हैं वही करो, लेकिन अगर मैं मुक़द्दमा हार गयी तो मैं अपील नहीं करूँगी। इसका कोई इंतज़ाम किया है कि फ़ैसला आते ही उसकी ख़बर मिल जाये?"

"मैंने इलाहाबाद में जगपत दुबे[17] से कह दिया है। वह टेलीफ़ोन कर देंगे।"

लेकिन अफ़वाहें ज़ोरों पर थीं।

एक महीना पहले मई में जब मुहम्मद यूनुस अपने किसी दोस्त की बेटी की शादी में लखनऊ गये थे तो वहाँ एक कायस्थ[18] सज्जन ने उनसे कहा था, "साहब, सिन्हा मेरी बिरादरी के आदमी हैं, वह मैडम को ख़त्म कर देंगे। वह इतिहास में अपना नाम अमर कर देना चाहते हैं और मैं तो आपसे कहता हूँ कि उन्होंने यह कर दिया है।"

यूनुस कहते हैं, "मैंने वहाँ से लौटकर यह बात उनको (प्रधान मंत्री को) बतायी। इस पर उन्होंने कहा, 'मैंने यह बात दूसरों से भी सुनी है, लेकिन किया ही क्या जा सकता है?' "

सच तो यह है कि १२ जून १९७५ का दिन ही श्रीमती गांधी के लिए कुछ

मनहूस था। प्रधान मंत्री सफ़दरजंग रोड पर अपनी कोठी पर हमेशा की तरह सुबह छः बजे उठीं। वह नहा-धोकर, कपड़े बदलकर सुबह आठ बजे तक अपना काम-काज शुरू करने की तैयारी कर ही रही थीं कि इतने में साढ़े छः बजे उन्हें ख़बर मिली कि डी० पी० धर का देहांत हो गया है। वह बीमार थे और गोविंद-वल्लभ पंत अस्पताल में थे। बड़े नेताओं में से सबसे पहले वही वहाँ पहुँची थीं।

वहाँ से लौटकर वह नियमानुसार बग़लवाली १ अकबर रोड की कोठी में लोगों से मिलीं। साढ़े नौ बजे वहाँ से आकर वह दफ़्तर जाने की तैयारी कर रही थीं। कोई हलचल नहीं थी, कोई डर नहीं था, और आनेवाले फ़ैसले के बारे में किसी तरह की चिंता नहीं थी।

गोखले ने पौने दस बजे धवन को टेलीफ़ोन किया कि जैसे ही ख़बर आये उन्हें बता दिया जाये।

उस दिन की घटनाओं को याद करते हुए धवन बताते हैं, "दस बजकर दो मिनट पर शारदाप्रसाद ने रेक्स फ़ोन (सीधी लाइन) पर शेषन् को टेलीफ़ोन किया और उन्हें बताया कि श्रीमती गांधी का चुनाव रद्द कर दिया गया है। इसी बीच कोई टेलीप्रिंटर की ख़बर भी ले आया। प्रधान मंत्री अपने कमरे में थीं; राजीव भी वहीं था। सबसे पहले उसी को ख़बर दी गयी। अपनी माँ को यह ख़बर उसी ने सुनायी। संजय अपने कारख़ाने जा चुका था।"

जब सब लोग अंदर की तरफ़ जाने लगे तो धवन ने सिद्धार्थशंकर रे, गोखले और डी० के० बरुआ को आते देखा। वह सामने ही खड़ी थीं।

"सब ठीक-ठाक है न ?" सिद्धार्थ बाबू ने हमेशा की तरह बड़ी बेतकल्लुफ़ी से पूछा।

"हाँ," उन्होंने जवाब दिया, "उन्होंने मेरा चुनाव रद्द कर दिया है। अब मुझे क्या क़दम उठाना है ? क्या मुझे फ़ौरन इस्तीफ़ा देना पड़ेगा ?"

चारों अलग एक कमरे में जाकर सर जोड़कर बैठ गये।

"इल्ज़ाम क्या लगाये गये हैं ?" किसी ने ऊँचे स्वर में पूछा। सब लोग टेलीप्रिंटर की तरफ़ लपके जो कोठी के सामनेवाली बरसाती के पास वाले कमरे में लगा था। यशपाल कपूर बहुत घबराये हुए विभिन्न राज्यों में अपनी जान-पहचान के सभी लोगों को टेलीफ़ोन कर रहे थे और उनसे श्रीमती गांधी के पक्ष में बयान देने का अनुरोध कर रहे थे। सबसे पहले ए० पी० एच० एल० सी०[३९] के मुख्यमंत्री विलियम्स ए० सांगमा ने उनके नेतृत्व का समर्थन करते हुए बयान जारी किया। जब बरुआ ने उन्हें टेलीफ़ोन किया तो उन्होंने कहा, "हाँ, हाँ, कपूर ने मुझसे पहले ही बात कर ली है। मैंने बयान जारी भी कर दिया है।"

"क्या आप उस दिन उनसे मिले थे ?" मैंने यशपाल कपूर से पूछा।

"नहीं। निजी तौर पर मैं उनके इस्तीफ़ा देने के ख़िलाफ़ था। मुझको उनसे यह पूछने की ज़रूरत नहीं थी कि मैं क्या करूँ। मैं यों भी यही करता।"

यशपाल कपूर ने किया यह कि तूफ़ानी रफ़्तार के साथ प्रचार की एक ज़बर्दस्त मुहिम छेड़ दी। उन्होंने अपनी अभियान समिति[४०] के सदस्यों की मीटिंग बुलाकर सबको फ़ौरन काम में जुटा दिया। उसी दिन दोपहर के दो बजे तक उन्होंने एक बेहद ज़ोरदार पोस्टर तैयार करा दिया: "इनकी लड़ाई, हमारी लड़ाई।" उन्होंने तीसरे पहर तक अभियान समिति के दफ़्तर में ३०० वालंटियर, अध्यापक, दुकानदार, छात्र, गृहिणियाँ, वकील, संसद-सदस्य और लेखक जमा कर

लिये और उनके ज़रिये अगले ही कुछ दिनों में दो-दो हज़ार के बंडलों में छः लाख पर्चे बँटवा दिये।

यशपाल कपूर ने कहा, "मुझे नहीं याद पड़ता कि संजय ने उस दिन मुझसे कुछ कहा हो।"

लेकिन अगले दिन जब वह श्रीमती गांधी से मिलने गये तो उन्होंने उनको अलग ले जाकर कहा, "कपूर, लोगों को तुम्हारा यहाँ आना अच्छा नहीं लगता, इसलिए तुम अब यहाँ कम ही आया करो।"

इतनी-सी बात में सारा क़िस्सा तय हो गया। यशपाल की भूमिका के बारे में, खुद उनके बारे में, उनके काम करने के ढंग के बारे में, उनके चाल-चलन के बारे में, और उनकी ईमानदारी के बारे में भी लोग बहुत चिढ़े हुए थे। श्रीमती गांधी यह सब-कुछ बर्दाश्त करती आयी थीं, क्योंकि उनकी तरफ़ यशपाल कपूर की वफ़ादारी में किसी तरह का शक नहीं किया जा सकता था। आख़िरकार उनके ऊपर भी गाज गिरी। अब नयी व्यवस्था बनाने का वक़्त आ गया था।

"अच्छी बात है," यशपाल कपूर ने श्रीमती गांधी से कहा, "मुझे आपसे सिर्फ़ एक बात करनी है। उसके बाद मैं चला जाऊँगा।"

इसके बाद वह जो कुछ भी हो रहा था उसकी ख़बर देने प्रधान मंत्री की कोठी पर जाते रहे, लेकिन इस बात का ध्यान रखते थे कि बहुत ज़्यादा लोग वहाँ न हों—जैसे दोपहर को खाने के वक़्त या रात को। वह उनसे एक-दो मिनट बात करके चले आते थे। यह सब उनकी एकतरफ़ा कार्रवाई थी क्योंकि श्रीमती गांधी ने कभी उनसे कुछ करने को नहीं कहा था।

मैंने यशपाल कपूर से पूछा, "आपने उनसे पूछा नहीं कि ऐसी क्या बात हो गयी थी कि अचानक उनका रवैया बदल गया था या आप पर से उनका भरोसा उठ गया था?"

"नहीं," कपूर ने सरहद के सीधे-सादे, अंधी वफ़ादारी निभाने वाले पठान की तरह जवाब दिया। "मैंने उन्हें अफ़सर से भी बहुत ऊँचे स्तर पर स्वीकार किया था। मैंने उनसे कभी किसी बात की वजह नहीं पूछी।"

लेकिन यशपाल कपूर ने मुझे बताया कि श्रीमती गांधी को हालाँकि इस तरह की ख़बरें दी गयी थीं कि उन्होंने उनका मुक़द्दमा बिगाड़ दिया है, लेकिन इलाहाबाद हाई कोर्ट में लगातार दो दिन तक गवाही देने के बाद जब अखबारों में उनकी गवाही का ब्यौरा छपा तो सिद्धार्थशंकर रे और पालकीवाला[11] दोनों ही उनके कमरे में "मेरी कामयाबी पर बधाई" देने आये थे।

प्रधान मंत्री की कोठी में १२ जून को एक और आदमी को भी बहुत लताड़ा गया। वह थे हकसर, और लताड़ा किसने, खुद बरुआ ने। बरुआ लगातार यही कहे जा रहे थे कि हकसर की गवाही ने सारा खेल बिगाड़ दिया था। जिस वक़्त सिद्धार्थशंकर रे और गोखले के साथ बरुआ प्रधान मंत्री से मिलने गये और जब वह इस्तीफ़ा देने की बात कर रही थीं तो बरुआ की पहली प्रतिक्रिया कुछ इस तरह की बात कहने की हुई कि "बहरहाल, लोग इसे बहुत भलमनसाहत की बात समझेंगे। थोड़े ही दिन का सवाल होगा। हम लोग अपील करेंगे और मुझे यक़ीन है कि हम जीत जायेंगे।"

बरुआ वहाँ से वापस लौटने वाले सबसे पहले लोगों में थे। घर जाकर उन्होंने संसद के बहुत-से सदस्यों को बुलाया। वहाँ कांग्रेस के एक-दो जनरल-सेक्रेटरी भी मौजूद थे, लेकिन असम के कुछ सदस्य थे जिनसे उन्होंने कहा कि "बहुत मुमकिन

है कि मैं प्रधान मंत्री बन जाऊँ।"

उन्नीकृष्णन् बताते हैं, "हाँ, हम लोग बरुआ के घर गये थे। लेकिन वहाँ कोई मीटिंग हो ही नहीं सकती, लगातार बातचीत ही चलती रहती है। दरअसल, यह सुझाव मैंने ही दिया था कि श्रीमती गांधी को अपनी राय बदलने का मौक़ा नहीं दिया जाना चाहिए। मैं समझता था कि बिहार में जयप्रकाश का आंदोलन फ़ासिस्ट रुख़ अपनाता जा रहा था। मुझे बहुत गहरा शक था कि उसके पीछे सी० आई० ए० का हाथ था। मैंने इसे एक राजनीतिक चुनौती समझा। मैं समझता था कि उन्हें प्रधान मंत्री बने रहना चाहिए और हम लोगों को इसका समर्थन करने के लिए मीटिंग बुलानी चाहिए।"

उस दिन सुबह जब मुहम्मद यूनुस राजीव का टेलीफ़ोन आने के बाद १ सफ़दरजंग रोड पर पहुँचे तो बरामदे में ही श्रीमती गांधी से मुलाक़ात हो गयी। वह सिर्फ़ मुस्करा दीं। कुछ ही मिनट के अंदर उन्होंने देखा कि उनके मंत्रिमंडल के दूसरे मंत्री एक-एक करके चले आ रहे हैं। उनमें से ज़्यादातर बायीं तरफ़ वाले छोटे कमरे में जमा हो गये और एक-एक कुर्सी पर दो-दो आदमियों को बैठना पड़ा। यूनुस किताबों की अल्मारी पर बैठ गये। वकील लोग, सिद्धार्थशंकर रे, एच० आर० गोखले और ननी पालकीवाला, जिन्हें जल्दी-जल्दी बुलवा लिया गया था, दाहिनी तरफ़ वाले छोटे कमरे में बैठे सलाह-मशविरा कर रहे थे। श्रीमती गांधी एक कमरे से दूसरे कमरे में आ-जा रही थीं।

ज़्यादातर लोग चुप थे। कई पुराने नेताओं के मन में यक़ीनन यह बात उठ रही होगी कि उनमें से कोई भी प्रधान मंत्री बन सकता है।

पौने ग्यारह बजे फ़ैसले पर अमल कुछ दिन के लिए रोक दिये जाने का ऐलान आ गया। सिद्धार्थशंकर रे ने कमरे में आकर यह ऐलान पढ़कर सुनाया। अचानक तनाव कुछ कम हुआ। भारत के सभी चोटी के शासक, जो वहाँ जमा थे, अचानक दबी ज़बान में आपस में बातें करने लगे। यह बात सुनते तो वे सभी आये थे कि मुमकिन है कि फ़ैसला श्रीमती गांधी के ख़िलाफ़ हो, लेकिन इस पर यक़ीन किसी को नहीं होता था।

लगभग ग्यारह बजे जब यूनुस कमरे से बाहर जा रहे थे, श्रीमती गांधी ने उनके पास आकर कहा, "मैं समझती हूँ कि मुझे इस्तीफ़ा दे देना चाहिए।"

"ऐसी बात मत कीजिये," यूनुस ने कहा।

जब श्रीमती गांधी ने यही बात स्वर्णसिंह से कही तो उन्होंने इससे सीधा-सादा नतीजा यही निकाला कि वह ख़ुद इस्तीफ़ा देकर उन्हें प्रधान मंत्री बनाना चाहती हैं। उन्होंने कुछ कहा नहीं, लेकिन सीधे घर जाकर जालंधर से टेलीफ़ोन मिलाकर अपने दोस्तों को बताया कि हो सकता है वही अगले प्रधान मंत्री बन जायें।

इसी बीच संजय अपने कारख़ाने से जल्दी-जल्दी वापस आ गया था और अपनी माँ की तरह "तीर की तरह एक कमरे से दूसरे कमरे में" आ-जा रहा था।

कहा जाता है कि संजय ने अपनी माँ से कहा, "स्टे-ऑर्डर तो मिल ही गया है। हमें उसके बारे में सोचना चाहिए। आपको इस्तीफ़ा देने की क्या ज़रूरत है?"

धवन का कहना है कि वहाँ जितने लोग आये थे सभी ने यही कहा, "उनके इस्तीफ़ा देने का कोई सवाल ही नहीं है।"

स्टे-ऑर्डर मिल जाने के बाद धवन दूसरे ही काम में लगे हुए थे। वह एक

मसविदा[१२] शॉर्टहैंड में लिख रहे थे। यह मसविदा बड़े-बड़े नेताओं के लिए तैयार किया जा रहा था, जिन्हें श्रीमती गांधी के प्रधान मंत्री बने रहने के समर्थन में एक बयान जारी करना था। यह मसविदा खाने के कमरे में तैयार किया जा रहा था, जो उन दो छोटे कमरों से कुछ दूर था जहाँ बाक़ी लोग जमा थे, और जो मंत्री आता था वह उसके बारे में अपने सुझाव देता था।

लेकिन चह्वाण का कहीं पता नहीं था। ऐसे मौक़े पर उनके मौजूद न रहने के पीछे क्या रहस्य हो सकता है, इसके बारे में कानाफूसी हो रही थी। क्या वह कोई योजना बना रहे थे ? क्या वह अपने लिए रास्ता खुला रहने देना चाहते थे ? क्या वह चाहते थे कि श्रीमती गांधी इस्तीफ़ा दे दें ? इतने वरसों तक उन्होंने लगातार उनका साथ दिया था—एक बार को छोड़कर, १० जुलाई १९६९ को बंगलौर में कांग्रेस वर्किंग कमेटी की मीटिंग में, जब उन्होंने श्रीमती गांधी की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ राष्ट्रपति के चुनाव के लिए संजीव रेड्डी को उम्मीदवार बनाने के पक्ष में वोट दिया था। क्या इस वक़्त चह्वाण के वहाँ मौजूद न रहने का मतलब यह था कि अब वह उनका साथ देने को तैयार नहीं थे ? श्रीमती गांधी के मन में कुछ शक पैदा होने लगा।

दरअसल, चह्वाण डी० पी० धर के शव को उसी दिन शाम के हवाई जहाज़ से श्रीनगर उनके घर ले जाने का इंतज़ाम करा रहे थे, और उससे पहले उसे दिल्ली में दर्शनार्थ रखा जाना था। चह्वाण ५ रेसकोर्स रोड पर अपनी कोठी पर १० बजे लौटकर आये, और पहुँचते ही किसी ने उन्हें ख़बर दी कि श्रीमती गांधी का चुनाव रद्द कर दिया गया है। वह वहीं बैठ गये। उनकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि इसके क्या-क्या नतीजे हो सकते थे। उन्होंने यह ज़रूरी नहीं समझा कि वह शोक प्रकट करने के लिए फ़ौरन श्रीमती गांधी के पास जायें। उन्हें सोचने के लिए कुछ वक़्त चाहिए था। आख़िरकार साढ़े ग्यारह बजे उन्होंने सफ़दरजंग रोड जाकर यह मालूम करने का फ़ैसला किया कि क्या हो रहा है। वहाँ पहुँचने पर उन्हें अंदाज़ा हुआ कि उनके वहाँ मौजूद न रहने की वजह से क्या-क्या अटकलें लगायी जा रही थीं।

लेकिन जब वह खाने के कमरे में पहुँचे उस वक़्त तक बयान का मसविदा लगभग तैयार हो चुका था। लेकिन इन्दरकुमार गुजराल ने उसे देखकर कहा कि वह 'बेहद बे-जान' है, और फिर से नया मसविदा तैयार किया। इसके बाद सबने धवन के सामने उस बयान पर दस्तख़त किये। सबसे पहले दस्तख़त करने वालों में जगजीवनराम और चह्वाण थे।

यूनुस उस दिन की घटनाओं को याद करके बताते हैं, "दोपहर तक नक़्शा बिल्कुल साफ़ उभर आया था। वह इस्तीफ़ा नहीं दे रही थीं।"

संजय बाहर से देखने में बहुत शांत था, लेकिन उसके अंदर एक आग धधक रही थी। आज ही के दिन तो राजनीतिक मुहिम चलाने के उसके अनुभव की पूरी जानकारी मिलने वाली थी। मैं समझती हूँ कि वह महसूस कर रहा था कि अपनी माँ के प्रति उसका यह कर्त्तव्य था कि वह इस कठिन घड़ी में उनकी हिम्मत बढ़ाये और उन सब दिनों का कर्ज़ चुका दे जब उन्हें उसके मारुति के कारख़ाने की वजह से इतनी मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। उसने पक्का इरादा कर लिया था कि वह उनके पक्ष में इतने बड़े पैमाने पर समर्थन जुटा देगा कि किसी के दिमाग़ में इस बात के बारे में कोई शक न रह जाये कि जनता क्या चाहती है। उधर यशपाल कपूर प्रचार की अपनी मुहिम हमेशा की तरह पूरी मुस्तैदी के

साथ चला रहे थे, इधर संजय ने जनता को संगठित करने का बीड़ा उठा लिया। उसने सारे शहर का चक्कर लगाया और सारा शहर १ सफ़दरजंग रोड की तरफ़ उमड़ पड़ा। जिस तरह अकबर रोड, कृष्णमेनन मार्ग, तीन मूर्ति मार्ग, रेस कोर्स रोड और सफ़दरजंग रोड आकर प्रधान मंत्री की कोठी के पास वाले गोल चौराहे पर आकर मिलती हैं, उसी तरह दिल्ली से और दिल्ली के बाहर से लोग हर तरफ़ से आकर वहाँ इकट्ठा हो गये। अगले कुछ हफ़्तों तक वहाँ जिस तरह की मीटिंगों का सिलसिला चलता रहा उसमें से पहली मीटिंग में दोपहर के दो बजे तक कांग्रेस के लगभग २,००० वालंटियर गला फाड़-फाड़कर नारे लगा रहे थे। प्रधान मंत्री—जो अभी तक प्रधान मंत्री थीं—थोड़ी देर बोलीं, जिस तरह वह इसके बाद भी कई मौक़ों पर बोलीं। संजय शांत भाव से देखता रहता, और जब अख़बारवालों ने उसे घेरकर फ़ैसले के बारे में उसकी राय पूछी तो उसने अनायास ही उसके भावनात्मक पहलू के बजाय उसके तकनीकी पहलू के बारे में सोचा और कहा: "अफ़सर ने (यशपाल कपूर ने) कहा कि उसने इस्तीफ़ा दे दिया था। अब यह अदालत की मर्ज़ी थी कि इस बात को माने या रद्द कर दे।"

अकेला यही दिन नहीं था जब श्रीमती गांधी ने अपने बेटे को अपने संरक्षक के रूप में पाया। उस दिन से २५ जून तक उसने जो कुछ किया, जनमत में उसने जो हलचल पैदा कर दी, उसी जन-समर्थन के दबाव की वजह से एक विवादास्पद रवैया एक अकाट्य सत्य में बदल गया—सत्ता पर अधिकार का उनका दावा। दोपहर तक कांग्रेस के नेता बयानों पर दस्तख़त कर चुके थे, अपीलें जारी कर चुके थे, श्रीमती गांधी में अपना पूरा विश्वास व्यक्त कर चुके थे और उसी दिन शाम को एक मीटिंग में इस सबकी पुष्टि भी कर चुके थे। उनके पद पर जो तात्कालिक ख़तरा मँडरा रहा था वह टल ही नहीं गया था, बल्कि वह बिलकुल ख़त्म हो गया था। जो संकेत मिलते थे उनमें बस कहीं-कहीं यह उम्मीद झलकती थी कि शायद वह अपने-आप ही पद छोड़ दें, लेकिन उन्हें इस्तीफ़ा देने पर मजबूर करने का कभी किसी का कोई इरादा नहीं था। अगर उनके मन में यह बात बैठ जाती कि उनके लिए इस्तीफ़ा दे देना ही उचित है तो कोई उन्हें रोक नहीं सकता था। मैं समझती हूँ कि बीच-बीच में वह जो इस्तीफ़ा देने की बात करती थीं वह सिर्फ़ इसलिए कि वह थाह लेना चाहती थीं कि उनके साथी क्या महसूस करते हैं। उस दिन उनमें से जिसकी जैसी प्रतिक्रिया रही, बाद में उन्होंने उसी के हिसाब से उनके साथ बरताव किया।

लेकिन श्रीमती गांधी को इस बात का गुमान तक नहीं था कि नरम स्वभाव वाले सरदार स्वर्णसिंह उनके ख़िलाफ़ जाकर और उन्हें नुक़सान पहुँचाकर अपने पक्ष में लोगों का समर्थन जुटायेंगे। उनके दिल में यह तमन्ना इस ग़लतफ़हमी की वजह से पैदा हुई थी कि वह इस्तीफ़ा दे देंगी। श्रीमती गांधी ने उन्हें इस बात के लिए कभी माफ़ नहीं किया। लेकिन वह बरुआ के बारे में ज़्यादा चौकस थीं क्योंकि उनकी हरकतों के पीछे एक वामपंथी चाल थी; श्रीमती गांधी को यह अंदेशा था कि अगर उचित समय पर कोई विद्रोह हुआ तो बरुआ उसका केंद्र बन सकते हैं। जगजीवनराम पर भी श्रीमती गांधी को भरोसा नहीं था।

उस दिन शाम को पार्लियामेंट के सेंट्रल हॉल में सिर्फ़ एक ही बात पर बहस हो रही थी।

"अगर वह निहायत शराफ़त के साथ हट जायें तो हर्ज ही क्या है? बस एक

आदमी उनकी जगह ले सकता है और वह हैं बाबूजी या फिर चुनाव करा लें।"

जगजीवनराम के समर्थकों को पूरा यक़ीन था कि वह जीत जायेंगे। उन लोगों ने लोगों को इसके लिए राज़ी करने की मुहिम भी छेड़ दी थी, लेकिन वे काफ़ी लोगों को अपने पक्ष में नहीं जुटा पाये। अगले दिन तक चारों तरफ़ यही नारा लगाया जा रहा था **'अदालत का फ़ैसला कुछ हो, श्रीमती गांधी प्रधान मंत्री रहेंगी।'** लेकिन कुछ समय के लिए या स्थायी दूसरे टिकाऊ हल ढूंढ़ने की कोशिश की जा रही थी। आख़िरी फ़ैसले के लिए मामले को सुप्रीम कोर्ट के सामने पेश करने के लिए जब तक सुप्रीम कोर्ट कुछ और दिन की मोहलत की मंजूरी दे, तब तक के लिए श्रीमती गांधी अपने पद पर बनी रहें, सुप्रीम कोर्ट का फ़ैसला आने तक वह कुछ समय के लिए अपने पद से हट जायें, या श्रीमती गांधी अपने पद से बिल्कुल ही हट जायें ? जैसा कि लगभग आठ साल पहले १९६७ में हुआ था, तरह-तरह के सुझाव रखे जाते थे लेकिन सभी कांग्रेस संगठन की ऐसी दो चट्टानों से टकराकर चकनाचूर हो जाते थे, जो कि स्थायी दिखायी देती थीं। एक तो ऐसे लोगों की कमी जिनमें से नया नेता चुना जाये और दूसरे आत्म-विश्वास की कमी। जगजीवनराम ने कहा था कि वह पहल नहीं करेंगे, लेकिन चंद्रशेखर का साथ दे सकते हैं। चंद्रशेखर इस दुविधा में थे कि राजनीतिक दृष्टि से यह उचित होगा या नहीं। वामपंथी धारा में, बहुत बड़ी हद तक श्रीमती गांधी की वजह से, और उनकी आशंकाओं के बावजूद, फूट थी।

साठे ने बताया, "उस वक़्त हम लोग समझते थे कि पार्टी में फूट पड़ जायेगी। हममें से कोई भी यह नहीं मानता था कि फ़ैसले में कोई दम है।"

"एक बार जब पंडितजी (जवाहरलाल नेहरू) इस्तीफ़ा देना चाहते थे, तो सारे कांग्रेसी बौखला उठे थे, क्योंकि वे समझते थे कि उनके बिना कांग्रेस कुछ भी नहीं रह जायेगी," यूनुस ने पुरानी घटनाओं को याद करते हुए कहा, "उस वक़्त उनके इस्तीफ़ा देने का मतलब होता एक ऐसे फ़ैसले के सामने सर झुका देना जिसे हर आदमी ग़लत समझता था।"

लेकिन धवन की तरह, जिन्होंने कहा कि "उस दिन जो भी (प्रधान मंत्री की कोठी पर) आया उसने यही कहा कि उन्हें इस्तीफ़ा नहीं देना चाहिए," चंद्रशेखर ने कहा कि "उस दिन जो भी वहाँ गया वह यही महसूस कर रहा था कि उन्हें इस्तीफ़ा दे देना चाहिए, वे लोग भी जो कह रहे थे कि उन्हें इस्तीफ़ा नहीं देना चाहिए।"

फिर उन लोगों ने अपनी बात खुलकर कही क्यों नहीं ?

शायद इसके बारे में सबसे सही राय दिल्ली के एक पुराने कांग्रेसी नेता ने दी, जिन्होंने १९१९ में पहली बार कांग्रेस में आने के वक़्त से राष्ट्रीय राजनीतिक मंच के बहुत-से उतार-चढ़ाव देखे हैं। उनके भुलक्कड़पन की वजह से लोग उनका बहुत मज़ाक़ उड़ाते हैं, लेकिन इसके बावजूद वह इतने लोकप्रिय रहे हैं कि तिहत्तर साल की उम्र में वह दिल्ली प्रशासन के मुख्य कार्यकारी पार्षद चुने गये, जो पद राज्य के मुख्य मंत्री के पद के बराबर होता है। जिस दिन फ़ैसला सुनाया गया उस दिन राधारमण[1] श्रीनगर में थे। यह ख़बर सुनकर उनका आचरण भी बाक़ी लोगों जैसा ही था।

"मुझे सुबह ११ बजे रेडियो पर ख़बर सुनकर इसका पता चला। सबसे पहले तो मेरे दिल को एक धक्का-सा लगा। मैं यह फ़ैसला नहीं कर पाया कि उनके लिए इस्तीफ़ा दे देना बेहतर होगा या अपने पद पर बने रहना। मैं सोच में

पड़ा हुआ था।"

इसके बावजूद उन्होंने टेलीफ़ोन पर दिल्ली एक संदेश भेजा जिसमें कहा गया था : "इस नाज़ुक घड़ी में श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व के बिना देश का काम नहीं चल सकता।" दूसरे कांग्रेसियों की तरह उन्हें भी सोचने के लिए वक़्त चाहिए था। लेकिन दिल्ली पहुँचने पर उन्हीं की तरह वह भी उन मीटिंगों की लहर में बह गये जो श्रीमती गांधी के उन ख़ुशामदियों ने, जो सिर्फ़ सत्ता की छाया में पनप सकते थे, और उनके प्रति सच्चा उत्साह रखनेवालों ने लोगों को दूर-दूर से लाकर जुटायी थीं, और इन सभी लोगों की एक ही रट थी : "रहना है, रहना है।"

"इसलिए सोचने-विचारने का वक़्त तो बीत चुका था," राधारमण ने बड़ी निराशा के साथ कंधे बिचकाकर कहा। "उस वक़्त लोगों की जो राय थी और जो राय बनायी गयी थी उसकी हवा में आधे लोग तो यक़ीनन बह गये। बाक़ी लोगों को पार्टी के टुकड़े-टुकड़े हो जाने की चिंता लगी हुई थी। बहरहाल, लोक-तंत्र और है क्या ? अगर अस्सी फ़ीसदी लोग एक तरह से सोचने लगें तो बाक़ी बीस फ़ीसदी क्या करें ? या तो वे छोड़कर चले जायें या फिर दबी ज़बान से अपनी बात कहें।"

पुराने ज़माने के सभी लोगों की तरह 'दादा', जैसा कि राजनीतिक क्षेत्र के लोग, पत्रकार, उनके मित्र, सभी उनको कहते हैं, भी बहुत भावुक आदमी हैं। उनको पूरा यक़ीन था कि अगर श्रीमती गांधी ने जगजीवनराम से कुछ समय के लिए प्रधान मंत्री के पद का भार सँभाल लेने को कहा होता तो "वह पूरी तरह उनके वश में हो जाते और उनके चरणों में लोटने लगते।"

अपनी बात जारी रखते हुए उन्होंने कहा, "लेकिन उनको किसी पर भरोसा नहीं था। अगर उन्हें ख़ुद अपने मंत्रियों पर, या उन पर भरोसा नहीं था, तो फिर तो...।"

"नहीं," एक और कांग्रेसी पी० एन० सिंह ने, जो उम्र में उनसे बहुत छोटे लेकिन ज़्यादा यथार्थनिष्ठ आदमी हैं, उनकी बात करते हुए कहा, "अगर उस वक़्त उन्होंने सत्ता की बागडोर अपने हाथों से छोड़ दी होती तो फिर वह कभी वापस नहीं आ सकती थीं। उनका अंदाज़ा बिलकुल ठीक था। कोई भी उन्हें वापस न आने देता।"

कर्णसिंह[४४], जो उस समय श्रीमती गांधी के मंत्रिमंडल में स्वास्थ्य और परिवार नियोजन के मंत्री थे, और पहले कश्मीर के महाराजा रह चुके हैं, छियालिस वर्ष के, देखने में बहुत ख़ूबसूरत और विचारों से बहुत आदर्शवादी आदमी हैं। वह संस्कृत के विद्वान, कवि और गायक हैं। आज़ादी के बाद वह पहले आदमी थे जिन्होंने अपनी इच्छा से देसी रजवाड़ों को मिलने वाला गुज़ारा-भत्ता लेना बंद कर दिया था, हालाँकि उन्हें इस मद से जितनी रक़म मिलती थी उतनी कम ही लोगों को मिलती थी। उनके पीछे चूँकि इतने विश्वासपूर्ण और निःस्वार्थ राजनीतिक जीवन की पृष्ठभूमि थी, इसलिए शायद ऐसा समझना उचित ही था कि वह एक ऐसे कांग्रेसी थे जो खुले दिल से राय दे सकते थे। उन्होंने श्रीमती गांधी को पत्र लिखकर सुझाव दिया, "आप अपनी तरफ़ से इस्तीफ़ा देने की बात कह दीजिये। फ़ैसला राष्ट्रपति को करने दीजिये।"

उन्होंने यह भी बताया, "हममें से बहुत-से लोग यही महसूस करते थे। सवाल यह नहीं था कि क़ानून की नज़र से क्या बात सही थी। राजनीति में

ज़्यादा महत्त्व इस बात का होता है कि राजनीतिक दृष्टि से, बल्कि नैतिक दृष्टि से क्या ठीक है। १२ जून का दिन उनके जीवन में सचमुच एक अशुभ दिन था। उससे सारा परिवर्तन समझ में आ जाता है, जैसे बंदूक की नली ज़रा-सी घूम जाने से गोली बिलकुल ही दूसरी तरफ़ चली जाती है। उपनिषदों में कहा गया है कि हर आदमी के सामने हमेशा दो रास्ते होते हैं, और हमेशा इनमें से एक रास्ता चुनने का क्षण आता है। उनके इस्तीफ़ा न देने की वजह से ही उसके बाद की सारी घटनाएँ इस ढंग से हुईं।"

जब गुजराल ने चंद्रशेखर से १३ जून को प्रधान मंत्री के इस धर्मसंकट के बारे में उनकी राय जाननी चाही तो उन्होंने जवाब दिया: "श्रीमती गांधी के लोकतांत्रिक नेता रहने के दिन बीत गये। अब तो उन्हें डिक्टेटर बनकर रहना होगा।"

इन्दिरा गांधी ख़ुद अपने प्रचार-तंत्र का शिकार हो गयीं और विपक्ष की हालत उस शेर जैसी थी जिसके मुँह को ख़ून लग चुका हो। पहली बार श्रीमती गांधी ने यह ख़तरा देखा कि उनसे उनकी सत्ता ऐसी परिस्थितियों में छिन जाये जिनमें वह जनता के सामने वोट के लिए जाकर अपनी पार्टी का या विपक्ष का मुक़ाबला न कर सकें—जैसा कि उन्होंने १९६९ और १९७१ में किया था। और विपक्ष को भी बरसों तक निर्जन में भटकते रहने और शून्य में लड़ते रहने के बाद पहली बार सत्ता पर अधिकार करने की संभावना दिखायी दी थी। दोनों ही अधीर थे, एक चारों तरफ़ ख़तरों से घिरे होने के डर की वजह से जान की बाज़ी लगाकर मुक़ाबला कर रही थीं और दूसरे को आशा की लहर ने लगभग उन्मत्त कर दिया था। अपनी कोठी के बाहर एक मीटिंग में इन्दिरा गांधी ने कहा कि उनको बदनाम करने की जो मुहिम चलायी जा रही है उसे उन्होंने सिर्फ़ इसलिए बर्दाश्त किया क्योंकि वह सही रास्ते पर थीं। उन्होंने आम आदमी के हित में ये सारे झूठ और ये सारी गालियाँ बर्दाश्त की थीं। सवाल "इन्दिरा गांधी या कांग्रेस" को चुनने का नहीं था, जनता की सेवा करना उनका कर्त्तव्य था।

गुजरात की विधानसभा को भंग करा देने के बाद, जिसमें कांग्रेस का इतना विशाल बहुमत था कि १६८ में से १४० सदस्य उसके थे, संगठन कांग्रेस के नेता मोरारजी देसाई शानदार सफलता की लहर के सहारे ऊपर चढ़ते जा रहे थे। अहमदाबाद में उन्होंने थाह लेने के लिए एक दाँव फेंका। उन्होंने कहा कि अगर जनता आग्रह करेगी तब भी वह किसी भी हालत में गुजरात के मुख्य मंत्री बनने को राज़ी नहीं होंगे, लेकिन अगर जनता चाहे कि वह प्रधान मंत्री बन जायें तो इसके लिए वह तैयार हैं...।"

संगठन के जनरल-सेक्रेटरी और श्रीमती गांधी की सरकार के एक मंत्री, दोनों ही हैसियतों से उनके बहुत निकट रहकर काम करने के अपने अनुभव से निष्कर्ष निकालते हुए चंद्रजीत यादव कहते हैं, "इन्दिराजी के व्यक्तित्व में दो रवैयों का संगम है। लोकतंत्र में वह बुनियादी तौर पर विश्वास करती हैं, लेकिन वह उसके नकारात्मक पहलुओं के बारे में भी कोई हल खोजना चाहती थीं—ज़रूरत से ज़्यादा छूट और ग़ैर-ज़िम्मेदारी से भरी आलोचना जो प्रगति में बाधा डालती है। उनके विचार स्पष्ट नहीं थे, इस गुत्थी को कैसे सुलझाया जाये इसके बारे में उनके मन में हमेशा दुविधा रहती थी।"

विपक्ष ने १९७४ के बाद जो कुछ किया उसकी वजह से उनके लिए अपना

रास्ता चुन लेना यक़ीनन बहुत आसान हो गया।

गुजरात का आंदोलन उस वक़्त शुरू हुआ जब दो बार अकाल पड़ चुका था और अन्न की स्थिति बहुत गंभीर थी, लेकिन बढ़ती हुई क़ीमतों के ख़िलाफ़ हिंसापूर्ण प्रदर्शनों का नेतृत्व छात्रों ने किया। उन्होंने नवनिर्माण समिति बनायी और विपक्ष की पार्टियों के समर्थन से 'गुजरात बंद' का संगठन किया। विपक्ष की पार्टियाँ बड़ी ख़ुशी से इस आंदोलन में शामिल हो गयीं क्योंकि इसमें उन्हें शासक दल से मोर्चा लेने का एक आदर्श अवसर दिखायी दिया। छात्र तो केवल इतना चाहते थे कि चिमनभाई पटेल[४१] का मंत्रिमंडल इस्तीफ़ा दे, लेकिन विपक्ष की पार्टियाँ विधान सभा को ही भंग कर देने की माँग करने लगीं। इस आंदोलन की वजह से चारों ओर इतनी अराजकता फैल गयी कि चिमनभाई पटेल को गद्दी छोड़नी पड़ी और ९ फ़रवरी १९७४ को वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू हो गया। इसके बाद आंदोलन की राजनीति का एक उन्माद-भरा चित्र सामने आया। विपक्ष की पार्टियों के विधायकों से इस्तीफ़ा देने को कहा गया और कांग्रेस के विधायकों पर इसके लिए दबाव डाला गया। विधानसभा भंग कराने के लिए अनिश्चित काल के लिए अनशन करके मोरारजी देसाई ने नैतिक दबाव डालकर मजबूर कर देने का पहलू पैदा कर दिया।

जब प्रधान मंत्री ने यह माँग मान ली और विधानसभा १५ मार्च को भंग कर दी गयी तो जयप्रकाश नारायण ने महसूस किया, जैसा कि उन्होंने कहा भी, कि उनको अपना लक्ष्य प्राप्त करने का उचित साधन मिल गया था। "मैंने सहमति की राजनीति चलाने की कोशिश में दो वर्ष बेकार नष्ट किये। उसका कोई नतीजा नहीं निकला।...उसके बाद मैंने देखा कि गुजरात के छात्रों ने जनता के समर्थन से राजनीतिक परिवर्तन लाने में सफलता प्राप्त की है और मैं समझ गया कि यही सही रास्ता है।"[४७]

जयप्रकाश नारायण ने बिहार को भी ऐसे ही आंदोलन का क्षेत्र बनाया, जहाँ के छात्रों ने भी ज़िंदगी की बुनियादी ज़रूरत की चीज़ें न मिलने के आधार पर एक विरोध-आंदोलन पहले से ही संगठित कर रखा था। गुजरात की तरह ही विपक्ष की जो पार्टियाँ इस आंदोलन में शामिल हुईं वे थीं—भारतीय जनसंघ और उसके जुझारू कार्यकर्त्ता, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद संगठन कांग्रेस, सोशलिस्ट पार्टी, चरमपंथी राजनीति को अपनाने वाले नक्सलवादी और आनंदमार्गियों जैसे धार्मिक संप्रदाय। लेकिन यहाँ सत्ता की खींचातानी ज़्यादा प्रबल थी और विपक्ष की पार्टियों के विधायक भी इस्तीफ़ा देने के सुझाव के बारे में एकमत नहीं थे। कुल ३१८ विधायकों में से केवल बयालीस ऐसे थे जिन्होंने अपनी मर्ज़ी से सत्ता का लोभ त्याग दिया।

लेकिन धीरे-धीरे उस साल के दौरान जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रांति की कल्पना के आधार पर, और तीन ठोस माँगों की बुनियाद पर, आंदोलन बढ़ता गया। यह माँगें थीं—चुनाव और शिक्षा की व्यवस्थाओं में सुधार और भ्रष्टाचार का ख़ात्मा। जयप्रकाश नारायण ने कहा, "एक ही मिसाल ले लीजिये, चुनाव के ख़र्च का सवाल, जो राजनीति में भयानक भ्रष्टाचार का स्रोत है। काला बाज़ार चलाने वालों से चोरी की कमाई का करोड़ों रुपया जमा किया जाता है। इसका कोई हिसाब नहीं दिया जाता। कांग्रेस पार्टी के हिसाब में यह रक़म कहीं दर्ज नहीं की जाती। किसी को यह भी पता नहीं चलता कि यह पैसा कैसे ख़र्च होता है और कौन ख़र्च करता है।"[४८] जयप्रकाश नारायण चाहते थे कि

चुनाव का खर्च कम किया जाये. ताकि ग़रीब उम्मीदवार को, एक मामूली किसान को, एक ग़रीब पार्टी के मामूली कार्यकर्त्ता को, सत्ता की सीढ़ी पर चढ़ने का मौक़ा मिल सके। उन्होंने कहा कि उन्हें उम्मीद थी कि उनके पास "इन्दिरा जी का ख़त या तार आयेगा कि मेरा जैसा आदमी भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए तैयार है तो वह मुझे पूरा सहयोग देने को तैयार हैं।"[९]

लेकिन जयप्रकाश नारायण श्रीमती इन्दिरा गांधी से मिले तो उनकी समझ में नहीं आया कि क्या नतीजा निकालें। उन्होंने चंद्रशेखर से पूछा था, जो हमेशा बड़े तपाक से मिलते थे, कि हर उम्मीदवार को चुनाव पर कितना पैसा ख़र्च करना पड़ता है।

"सत्तर हज़ार," चंद्रशेखर ने कहा था।

"नहीं," इन्दिरा गांधी ने जयप्रकाश नारायण से कहा, "३०,००० रु० से ज़्यादा नहीं खर्च होता।"

उन्होंने एक बार फिर चंद्रशेखर से पूछा, उन्होंने एक बार फिर कहा कि ७०,००० ही खर्च होता है। जयप्रकाश नारायण ने दोनों हाथों से अपना सर पकड़ लिया और अस्फुट स्वर में बोले, "उन्होंने मुझसे सरासर झूठ बोला।"

इस घटना को दोहराते हुए चंद्रशेखर ने कहा, "इसकी कोई जरूरत भी नहीं थी। ए० आई० सी० सी० का कोई भी सदस्य बता देता कि कितना पैसा ख़र्च होता है।"

बहरहाल इन्दिरा गांधी को यों भी जयप्रकाश नारायण के साथ सुलह-समझौते की बातचीत में कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। जब बिहार की विधान-सभा के सवाल का हल निकालने की बात आयी तो उन्होंने जगजीवनराम को भी अपनी बातचीत में शामिल कर लिया। उन दिनों की बातों को याद करते हुए चंद्रशेखर, जो शुरू से ही आपसी बातचीत की पैरवी करते आये थे, बताते हैं कि "इन्दिरा गांधी तो जयप्रकाश नारायण को बहुत शुबहे की नज़र से देखती थीं और लगातार अपना रवैया बदलती रहती थीं, लेकिन जगजीवनराम के दिमाग़ में यह बात शुरू से ही बिलकुल साफ़ थी कि समझौते की बातचीत होनी चाहिए लेकिन जब बातचीत टूट गयी तो उसका दोष उनके मत्थे मढ़ दिया गया।" आम लोगों के सामने यह बात इस रूप में रखी गयी कि जगजीवनराम अपनी इस ज़िद पर अड़े रहे कि विधान-सभा कुछ समय के लिए स्थगित करके फिर से सक्रिय की जा सकती है, जबकि जयप्रकाश नारायण यह चाहते थे कि वह भंग कर दी जाये और नये चुनाव हों।

जयप्रकाश नारायण ने वापस जाकर एक इंटरव्यू में प्रधान मंत्री के साथ अपनी बातचीत के बारे में बताया : "मैंने सुधार के कई सुझाव रखे थे, वरना मुझे अंदेशा था कि हालत ऐसी हो जायेगी कि चारों तरफ़ तबाही मच जायेगी; लेकिन मुझे बड़ी निराशा हुई।" उन्होंने कहा कि इसका नतीजा यह हुआ कि दो बातें उनके मन में पक्की तौर पर बैठ गयीं, "एक यह कि यह आंदोलन मेरे जीवन में निर्णायक महत्त्व रखता है और दूसरे यह कि आम जनता को शासन सत्ता क ख़िलाफ़ विद्रोह करना होगा... ।"[१०]

प्रधान मंत्री अब भी चुपचाप बैठी थीं।

मार्च १९७४ में सोशलिस्ट पार्टी के जार्ज फ़र्नांडीज़[११] ने नेशनल फ़ेडरेशन ऑफ़ इंडियन रेलवेमैन को छोड़कर सभी ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों को लेकर रेलवे कर्मचारियों के संघर्ष के लिए एक राष्ट्रीय समन्वय समिति बनायी। लक्ष्य

यह था कि एक ऐसी रेल-हड़ताल संगठित की जाये जो "भारत के पूरे इतिहास को बदल दे और किसी भी समय रेल-यातायात को ठप करके इन्दिरा गांधी की सरकार को गिरा दे।"[५२] फ़र्नांडीज़ ने स्वयं ही इस बात की एक बहुत भयानक तस्वीर खींची थी कि इस तरह की हड़ताल का देश के अर्थतंत्र पर क्या असर पड़ सकता है।

"भारतीय रेलों की सात दिन की हड़ताल—देश का हर वह बिजलीघर जहाँ कोयला इस्तेमाल होता है, बंद हो जायेगा। भारतीय रेलों की दस दिन की हड़ताल—भारत में इस्पात का हर कारख़ाना बंद हो जायेगा और देश के उद्योग अगले साल भर के लिए ठप हो जायेंगे। एक बार जब इस्पात के कारखाने की भट्ठी ठंडी हो जाती है तो उसे फिर से सुलगाने में नौ महीने लग जाते हैं। भारतीय रेलों की पंद्रह दिन की हड़ताल—देश भूखों मरने लगेगा।"[५३]

जब मई १९७४ में हड़ताल हुई तो सरकार की दमन शक्ति को अंतिम सीमा तक इस्तेमाल करके उसे बड़ी बेरहमी के साथ कुचल दिया गया। चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गयी। एक ही रास्ता था कि सारी माँगें मान ली जायें, लेकिन दुर्भाग्यवश, और जैसा कि हमेशा होता है, बेचारा (रेलवे) मज़दूर दो युद्धरत शक्तियों के बीच फँसकर बुरी तरह दोहरी मार का शिकार हो रहा था। मुसीबतों, तकलीफ़ों और बेरहमी की दर्दनाक घटनाएँ सामने आ रही थीं। मिसाल के लिए, पुलिस एक मज़दूर को पकड़कर ले गयी और बाक़ी पुलिस वालों ने, जो वहाँ रह गये थे, उसकी पत्नी के साथ बलात्कार किया। जब उसे पता चला कि उसके ज़ारज संतान होने वाली है तो उसने जेल से अपने पति की रिहाई से पहले बच्चा गिरवाने की कोशिश की, लेकिन कोई डॉक्टर उसे हाथ लगाने को तैयार नहीं था। अंत में उसने आत्महत्या कर ली।

यह बहुत भयानक बात थी कि सामान्य स्थिति के दौरान, लोगों के हड़ताल करने के अधिकार को कुचलने के लिए क़ानून और सुव्यवस्था क़ायम रखने के नाम पर ऐसा किया गया; यह इस बात का भी संकेत था कि असामान्य परि-स्थितियों में क्या हो सकता है। अच्छे शासन की पहचान है कि वह क्रूरता के बिना अनुशासन लाये; ऐसा लगता है कि कहीं भी कोई शासन ऐसा करने में सफल नहीं हुआ है। लेकिन तीन कारणों से इन्दिरा गांधी पर किसी तरह की आँच नहीं आने पायी: उनकी सत्ता को कोई ठेस नहीं पहुँची थी, उनकी साख अब भी बहुत ऊँची थी और उस वक़्त तक, बहरहाल, अन्दर-ही-अन्दर लोगों के मन में यह इच्छा प्रबल होती जा रही थी कि देश के जीवन में विभिन्न मोर्चों पर कोई सख़्त क़दम उठाया जाना चाहिए।

इसके अलावा इन्दिरा गांधी यह ख़तरा भी नहीं मोल ले सकती थीं कि देश के अर्थतंत्र को, जिस पर यों ही पहले से बहुत बड़ा बोझ था, इतना गहरा आघात पहुँचे जैसाकि हड़ताल से निश्चित रूप से पहुँचता। गुजरात और बिहार में आंदोलन की लहर और आम विरोध के जयप्रकाश नारायण के नारे को देखते हुए यह भावना भी पैदा होती जा रही थी कि अगर और कुछ नहीं तो केवल अच्छे प्रशासन का ही यह तक़ाज़ा है कि श्रीमती गांधी की सरकार ज़्यादा सख़्ती से काम ले।

लेकिन उचित ढांचे के बिना कुशल प्रशासन भी उतनी ही निरर्थक बात है जितनी सम्पूर्ण क्रांति। श्रीमती गांधी ने उस वक़्त यह महसूस नहीं किया कि "एक बीस-सूत्री कार्यक्रम को सफलतापूर्वक पूरा करने" के लिए जनता को अपने

पक्ष में करना होगा; उधर जयप्रकाश नारायण ने भी इतना कहने के अलावा और कुछ नहीं किया कि अगर "गांधीजी कहते थे कि राष्ट्र के लिए एक क़दम काफ़ी है, तो हमारे लिए भी एक क़दम काफ़ी है। मैं गांधी तो नहीं हूँ लेकिन मैं भी यह नहीं चाहता कि बहुत बड़ा कार्यक्रम सामने रखूँ जिसे पूरा करने में बहुत समय लग जाये।"[१४] टक्कर होना अनिवार्य था। इन्दिरा गांधी ने जयप्रकाश नारायण की किसी भी माँग के बारे में बातचीत करने से इंकार कर दिया, और उसके जवाब में उन्होंने भी चुनाव में अपनी क़िस्मत आज़माने के लिए अगले चुनाव तक इंतज़ार करने से इंकार कर दिया, जो डेढ़ साल बाद होने वाले थे।

जयप्रकाश नारायण की बग़ावत की बुनियाद यह थी कि अगर संसद या विधानसभा के लिए चुने गये सदस्य जनता का विश्वास खो दें तो उनकी अवधि पूरी होने से पहले ही जनता को उन्हें वापस बुला लेने का अधिकार है। श्रीमती गांधी महसूस करती थीं कि उनके साथ कोई काम की बातचीत नहीं हो सकती क्योंकि वह समझती थीं कि जयप्रकाश नारायण क्रांति की आग को जनता के हित में नहीं बल्कि लोकतंत्र की संस्थाओं के ख़िलाफ़ भड़का रहे हैं। जयप्रकाश नारायण की दलील यह थी कि चुनाव की व्यवस्था की भी जड़ काट दी गयी है। बहुत पहले १९७३ में ही उन्होंने युवा पीढ़ी से 'यूथ फ़ॉर डिमॉक्रेसी' आंदोलन छेड़ने का अनुरोध किया था, लेकिन इसके साथ ही यह भी कहा था कि "स्वतंत्रता के बाद से जनता के लिए और लोकतंत्र की पूरी प्रक्रिया के लिए चुनाव अधिकाधिक निरर्थक होते जा रहे हैं।"[१५] श्रीमती गांधी ने कहा कि जनता इस बात को ख़ुद समझ सकती है कि हमारे मतदाताओं में इतनी प्रौढ़ता है कि उन्होंने तीन राज्यों में, जहाँ उन्होंने चाहा, विपक्ष की सरकारें बनवायीं, और उन्हें अपने इस अधिकार को इस्तेमाल करने से रोकने की कोई भी कोशिश नहीं की गयी है। इसके अलावा, आम चुनाव नियमित रूप से होते रहे हैं और अख़बारों को पूरी स्वतंत्रता है, उन पर किसी तरह का नियंत्रण नहीं है।

जहाँ तक श्रीमती गांधी का सवाल था, वह अब भी कोई सख़्त कार्रवाई करना ज़रूरी नहीं समझती थीं।

जयप्रकाश नारायण १२ जून १९७५ तक उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, हैदराबाद, उड़ीसा, हरियाणा, मध्य प्रदेश, केरल, कर्नाटक और दिल्ली की चौबीस सार्वजनिक सभाओं में पुलिस वालों और फ़ौज के सिपाहियों को ललकार चुके थे कि वे "ग़ैर-क़ानूनी आदेशों का पालन न करें।" उन्होंने शुरू में तो यह बात घुमा-फिराकर पटना के गांधी मैदान की एक मीटिंग में ५ जून १९७४ को कही थी: "यह जनता का संघर्ष है। पुलिस वालों को भी बहुत कम तनख़्वाह मिलती है। उन्हें महीने में तीन या चार या पाँच सौ रुपये मिलते होंगे। लेकिन कुछ समय पहले के मुक़ाबले में अब रुपया बीस पैसे के बराबर रह गया है। उन लोगों को भी अपने परिवार का पेट पालना है, अपने बच्चों को पढ़ाना है, अपनी बेटियों की शादियाँ करना है। क्या वे इन बातों को नहीं समझते? वे हुक्म ज़रूर मानें। अगर कोई हिंसा या तोड़-फोड़ करे तो वे उसे ज़रूर गिरफ़्तार करें। लेकिन उन्हें लोगों पर अंधाधुंध गोली नहीं चलाना चाहिए।"[१६] १८ जून तक उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया था कि अगर शासक पार्टी के आदेश जनता को संविधान में दिये गये अधिकारों के ख़िलाफ़ हों तो उन्हें उन आदेशों को पूरा करने में अपने विवेक से काम लेना चाहिए।

जयप्रकाश नारायण ने यह नहीं बताया कि कोई सिपाही यह फ़ैसला किस

वक़्त और कैसे करे कि कोई आदेश संविधान के अनुकूल है या नहीं। इस सुझाव का मतलब यह था कि शासन के अलग-अलग साधनों की अपनी अलग एक अधिकार-सत्ता हो जायेगी जो नीति-निर्धारक कार्यपालिका की सत्ता से स्वतंत्र होगी। अगर ऐसा हो जाता तो इसका कोई भरोसा नहीं था कि यह नयी अधिकार-सत्ता संविधान की रक्षा करने की आड़ में कार्यपालिका की सत्ता का तख़्ता नहीं उलट देगी।

क्या जयप्रकाश को भारतीय मतदाता की क्षमता पर इतना भरोसा नहीं था कि वह किसी पार्टी की उस कार्यपालिका को सत्ता से हटा देगा जो उसके हित के ख़िलाफ़ काम कर रही हो? राज्यसत्ता के प्रभाव और पैसे की ताक़त के लगातार बढ़ते हुए तंत्र के बावजूद मतदाताओं ने १९६७ में भारत के आधे राज्यों में कांग्रेस को हटा दिया था और जब वे विपक्ष की मिली-जुली सरकारों से भी निराश हो गये तो फिर कांग्रेस को वापस ले आये थे; और जहाँ उन्होंने चाहा वहाँ विपक्ष की सरकारें चलने भी दीं—केरल में, तमिलनाडु में और बाद में गुजरात में। उनमें काफ़ी समझ-बूझ थी कि केन्द्रीय पार्टी की हैसियत से तो उन्होंने कांग्रेस का समर्थन किया, लेकिन प्रदेशों के चुनावों में उसे उखाड़ फेंका।

इस बात की कोई वजह समझ में नहीं आती कि जयप्रकाश नारायण ने जनता को इस बात के लिए क्यों नहीं उभारा कि वह अपने हितों को एक जगह इकट्ठा करें, अपनी सारी शिकायतों को एक जगह जमा करें, सब लोग मिलकर एक मज़बूत ताक़त बन जायें और १९७६ में जब चुनाव हों तो वोट के बल पर कांग्रेस को हटा दें। उन्होंने कांग्रेस और इन्दिरा गांधी के विकल्प के रूप में कोई ठोस व्यावहारिक कार्यक्रम भी नहीं रखा। या तो उनको अपने-आप पर और जनता पर इतना भरोसा नहीं था, या फिर इतना धीरज नहीं था कि चुनाव की लड़ाई में राष्ट्र का नेतृत्व कर सकें। लेकिन उनका अपना एक दृष्टिकोण ज़रूर था, जो एक ऐसे देश की राजनीतिक स्थिति से ही उभरा था जिसमें एक ही पार्टी ने लगातार उनतीस साल तक शासन किया था, और इतने दिनों तक सत्ता की बागडोर सँभाले रहने की बदौलत उसमें न केवल स्थायित्व आ गया था बल्कि बहुत-सी बुराइयाँ भी पैदा हो गयी थीं। वह अधीर होकर पूछते, "भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी और ग़रीबी के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए जनता क्या कर सकती है, युवक क्या करें? अगले चुनाव तक चुपचाप इंतज़ार करते रहें? लेकिन अगर इसी बीच हालत बर्दाश्त से बाहर हो जाये तो फिर जनता क्या करे? हाथ-पर-हाथ धरे बैठी रहे और चुपचाप अपनी मुसीबतें बर्दाश्त करती रहे? यह लोकतंत्र की वह तस्वीर होगी जो श्रीमती गांधी के दिमाग़ में है: क़ब्रिस्तान की शांति।"

अगर जयप्रकाश नारायण ने एक परिपक्व होते हुए लोकतंत्र की दूसरी, कम तेज़ रफ़्तार से चलने वाली कार्यनीति अपनायी होती तो इन्दिरा गांधी कुछ भी नहीं कर सकती थीं। १९७४ में वह कमज़ोर थीं। एक पुराने कांग्रेसी ने विश्लेषण करते हुए बताया: "खेती की ज़मीन की हदबंदी, संपत्ति के अधिकारों की व्यवस्था में हेर-फेर, सार्वजनिक क्षेत्र का विकास, टैक्स की दर—ये सब ऐसे सवाल थे जिनका निहित स्वार्थ वाले सम्पन्न वर्गों पर ऐसा प्रभाव पड़ रहा था कि उन्होंने महसूस किया कि अगर उन्होंने उसी वक़्त हमला न किया तो मौक़ा उनके हाथ से निकल जायेगा। इसके साथ ही बढ़ती हुई क़ीमतों की वजह से ग़रीब लोगों में भी असंतोष पैदा हो रहा था।"

आर्थिक क्षेत्र में किये जाने वाले उपायों के सिलसिले में श्रीमती गांधी ने

जितनी भी टालमटोल की, जिसका हवाला ए० एम० खुसरो[७७] पहले दे चुके हैं, लेकिन "एक मामले में उन्होंने कोई झिझक नहीं दिखायी, और वह यह था कि १९७३ के अन्त में और १९७४ के पूरे साल के दौरान मुद्रा-स्फीति को क़ाबू में रखने की नीतियों के मामले में उन्होंने बहुत दृढ़ नेतृत्व प्रदान किया।" अचानक उन्होंने लोगों की राय जमा की (डॉ० वी० के० आर० वी० राव[७८] के ज़रिये, जिन्होंने पाँच दूसरे अर्थशास्त्रियों के साथ मिलकर, जिनमें ख़ुसरो भी एक थे, **मुद्रा-स्फीति और आर्थिक संकट**[७९] नामक एक किताब लिखी थी), कैबिनेट की मीटिंगें कीं, विश्लेषण में स्वयं सक्रिय रूप से भाग लिया और रिज़र्व बैंक, वित्त-मंत्रालय तथा सरकार के दूसरे संगठनों के लिए नीति सम्बन्धित मार्ग-दर्शक निर्देश तैयार किये।

डॉ० ख़ुसरो ने सचमुच इसकी धाराप्रवाह प्रशंसा की : "एक बार तो नीति में आश्चर्यजनक दृढ़ता और सुसंगति आ गयी। उस समय उद्देश्य था चीज़ों की माँग को क़ाबू में रखना, क्योंकि उस साल फ़सल खराब होने की वजह से चीज़ों की सप्लाई बढ़ायी नहीं जा सकती थी। इसलिए हमने ऋण देने पर अंकुश लगाया, ब्याज की दर बढ़ा दी गयी—इस तरह व्यापारियों की ऋण की माँग को सीमित कर दिया गया, केन्द्रीय सरकार के ख़र्च में बहुत कटौती की गयी, राज्यों को रिज़र्व बैंक से पेशगी रक़म देने का सिलसिला बंद कर दिया गया, अतिरिक्त वेतन तथा मज़दूरी सरकार के पास रोक रखने के आध्यादेश जारी किये गये. मुनाफ़े में कटौती के अध्यादेश जारी किये गये, इस्पात की दोहरी क़ीमतें निर्धारित की गयीं और माँग को सीमित रखने के लिए और भी कितने ही उपाय किये गये। नतीजा यह हुआ कि क़ीमतों में आश्चर्यजनक ठहराव आ गया, क़ीमतों में पच्चीस प्रतिशत की रफ़्तार से होने वाली वृद्धि बिलकुल रुक गयी और क़ीमतें स्थिर हो गयीं। इनसे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित दूसरी नीतियाँ भी अपनायी गयीं, जैसे काले धन पर हमला, छिपा धन निकलवाने के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी दौलत बता देने की योजना और ज़ख़ीरेबाज़ों और तस्करों के ख़िलाफ़ कड़ी कार्रवाई।"

मैंने पूछा, "इन सब बातों को मिलाकर क्या आप यह नहीं कहेंगे कि ये नीति के क्षेत्र में बहुत बड़े नये क़दम थे ?"

"नहीं, दरअसल ऐसा नहीं है। नेहरू के दौर के शुरू में जो ढर्रा बनाया गया था उसी को अपनाया जा रहा था।"

प्रधान मंत्री के मुख्य प्राइवेट-सेक्रेटरी का इसके बारे में यह मत नहीं था। पी०एन० धर ने कहा कि श्रीमती गांधी को "अर्थतंत्र को पश्चिमी देशों के ढंग पर बंधन से मुक्त कर देना पड़ा।" उन्होंने इस बात की पुष्टि की कि छः अर्थशास्त्रियों के दल ने जिन नीतियों का सुझाव दिया था उनके लिए यह ज़रूरी था कि वे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के साथ सम्बन्ध रखने की आवश्यकताओं को पूरा कर सके ताकि कोई वित्तीय सहायता या ऋण दिये जाने से पहले अर्थ-व्यवस्था का स्थायित्व सुनिश्चित हो। जेरेमिआह नोवाक के अनुसार, "भारत को सहायता देने वाले पश्चिमी देशों का गँठजोड़, कुछ हद तक डैनिएल मोयनिहान के उकसाने की वजह से, इस बात पर अड़ गया कि श्रीमती गांधी अपनी अर्ध-समाजवादी नीतियों को त्याग दें (कम्युनिस्ट भी उनकी १९७४ से पहले की नीतियों को 'अर्ध-समाजवादी' कहते थे) और अधिक 'पश्चिमी ढंग की नीतियाँ' अपनायें—ऐसी नीतियाँ जो इस गँठजोड़ के सदस्यों के स्वभाव के अधिक अनुकूल हों क्योंकि वे सभी पश्चिमी प्रवृत्ति के हैं।"[८०]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने १ मई १९७४ को कहा कि वह इस बात पर सहमत हो गया है कि "मुद्रा-स्फीति की रफ़्तार को कम करने, भुगतान के संतुलन को और अपनी पूरी अर्थ-व्यवस्था को आयात मूल्यों में हाल में होने वाली वृद्धियों के अनुरूप ढालने और आर्थिक विकास की संतोषजनक रफ़्तार प्राप्त करने के उद्देश्य से बनाये गये कार्यक्रमों को सहारा देने के लिए" भारत सरकार २३ करोड़ ५० लाख एस० डी० आर० (स्पेशल ड्राइंग राइट्स—धन प्राप्त करने के विशेष अधिकार, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से विभिन्न देशों को दी जाने वाली धन-राशि की इकाई है—अनु०) ख़रीद सकती है।" उन छः अर्थशास्त्रियों में से एक सी० एच० हनुमंतराव[११] के अनुसार, वी० के० आर० वी० राव और पी० एन० धर ने मिलकर जो आर्थिक सुझाव तैयार कराये थे उनका उद्देश्य वास्तव में भारत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के साथ बातचीत करने का आधार तैयार करना था।

नोवाक का तर्क यह है कि अप्रैल १९७४ में श्रीमती गांधी ने बंगलौर में अपने भाषण में अर्थतंत्र को स्थायित्व प्रदान करने के कुछ सुझावों की जो घोषणा की थी "वह एक शुरुआत तो थी लेकिन बाद में उन पर कोई कार्रवाई नहीं की गयी।" उसके बाद जो विभिन्न कल्याणकारी उपाय किये गये उनका निहित स्वार्थ वाले सम्पन्न वर्गों की ओर से ज़बर्दस्त विरोध किया गया और यह कि तस्करों तथा ज़ख़ीरेबाज़ों जैसे समाज-विरोधी तत्वों के ख़िलाफ़ जो मुक़द्दमे दायर किये गये थे उन्हें अदालतों ने क़ानूनी बारीकियों की बुनियाद पर इस तरह खटाई में डलवा दिया कि श्रीमती गांधी को इमर्जेंसी का सहारा लेना पड़ा ताकि वह भारत के आर्थिक पुनरुत्थान का कार्यक्रम पूरा कर सकें।

मुहम्मद यूनुस कहते हैं, "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की बात तो मैं नहीं जानता लेकिन उस वक़्त जो क़ानून थे उनकी मदद से हाजी मस्तान[१२] को कोई भी क़ाबू में नहीं कर सकता था। अगर क़ानूनों को नहीं बदला जा सकता था तो इमर्जेंसी लागू करना ज़रूरी था। मुझे इमर्जेंसी के दौरान भारत के भूतपूर्व चीफ़ जस्टिस सीकरी[१३] के साथ एक बातचीत की याद आती है। किसी ने उनसे पूछा कि आर्थिक अपराधियों से निबटने का क्या कोई दूसरा रास्ता हो सकता था। उन्होंने कहा था, 'कोई नहीं, आप उनको पकड़ ही नहीं सकते थे। क़ानून इसकी इजाज़त ही नहीं देता था। वह दूसरे ही दिन रिट दायर करके या स्टे-ऑर्डर लेकर छूट सकते थे।'"

जैसा कि नोवाक कहते हैं, यह अलग सवाल है कि अर्थतंत्र को तेज़ी से अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के बताये हुए रास्ते पर आगे बढ़ाने के लिए श्रीमती गांधी को मजबूर होकर यह क़दम उठाना पड़ा या नहीं। नोवाक ने सुप्रीम कोर्ट में चुनाव के मुक़द्दमे में श्रीमती गांधी की तरफ़ से सफ़ाई के वकील अशोक सेन का हवाला दिया है कि उन्होंने कहा कि "अदालत में जो मुक़द्दमा चल रहा था वही श्रीमती गांधी के दिमाग़ में सबसे ज़्यादा छाया हुआ था, लेकिन कुछ दूसरी बातें भी थीं जिनकी वजह से उन्हें पूरा यक़ीन हो गया कि इमर्जेंसी लागू करना ज़रूरी है।"[१४]

वाई० बी० चह्वाण, जो भारत के वित्त-मंत्री की हैसियत से इन अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ बातचीत करते थे, यह महसूस करते हैं कि क़र्ज़ देते समय दुनिया के किसी भी हिस्से का कोई भी मुद्रा-संबंधी संगठन अपने कुछ सुझाव रखता है और कुछ आश्वासन चाहता है। लेकिन सच तो यह है कि विकासशील देशों को

ब्याज की सुविधाजनक दर पर क़र्ज़ देने के सवाल पर और उन्हें धन प्राप्त करने के विशेष अधिकार (एस० डी० आर०) के बारे में इन संस्थाओं के ख़िलाफ़ बाक़ायदा एक जिहाद चलाया गया। चह्वाण ने कहा, "भारत में सबसे बड़ी समस्या बढ़ती हुई क़ीमतों की थी। क़ीमतें १९७४ में संसद के मानसून अधिवेशन के बाद ही गिरने लगी थीं, जब हमने पूरक बजट पेश किया था, जबरी बचत योजना लागू की थी और छः अर्थशास्त्रियों ने एक समवेत आर्थिक कार्यक्रम रखा था। मुझे याद है कि जब मैं ८ या ९ अक्तूबर को विदेश-यात्रा से लौटा तो हवाई अड्डे पर ही मुझे जो ख़बर दी गयी वह यह थी कि क़ीमतें गिर गयी हैं।" वह नहीं समझते कि इमर्जेंसी लागू किये जाने का अंतर्राष्ट्रीय दबाव के साथ कोई संबंध है। उन्होंने बहुत दावे के साथ कहा, "श्रीमती गांधी के बारे में और चाहे जो कुछ कहा जाये, लेकिन वह किसी भी तरह के दबाव में आने वाली नहीं हैं।"

सच तो यह है कि अगर कड़ी कार्रवाई करने की बात सोचने का कोई वक़्त था तो वह मई १९७४ में था, जब तीन बातें पूरे ज़ोरों पर काम कर रही थीं—रेलवे हड़ताल का ख़तरा, जयप्रकाश नारायण के आंदोलन का ख़तरा, और अर्थ-तंत्र को सुधारने के बारे में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सुझाव जिन्हें एक तरह की धमकी भी कहा जा सकता है। लेकिन इन तीनों ख़तरों के मिल जाने से भी उनकी निजी साख के लिए कोई खतरा पैदा नहीं होता था। और जब तक इस तरह का कोई ख़तरा पैदा न होता तब तक उनका व्यवहार बिलकुल सामान्य रहता।

सच पूछा जाये तो १२ जून १९७५ तक इन्दिरा गांधी ने उस आख़िरी हद तक अपने को क़ाबू में रखा जिसकी कि आप किसी भी लोकतंत्रवादी नेता से आशा कर सकते हैं।

उस समय भारत में जिस तरह का समाज था उससे ज़्यादा स्वतंत्र समाज की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। खुलेआम, घरों में बैठकर, अख़बारों में और किसी गाँव या शहर में सरे-बाज़ार राजनीतिक नेताओं या सरकारी अफ़सरों को बे-रोकटोक गालियाँ दी जा सकती थीं। एक तरफ़ बाँगलादेश की लड़ाई के बाद वाले स्वर्ण-युग में इन्दिरा गांधी को देवी के समान पूजा जाने लगा था क्योंकि उस वक़्त हर हिंदुस्तानी गर्व से अपना सर ऊँचा करके चल सकता था, लेकिन दो साल तक लगातार अकाल पड़ने की वजह से जब अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी और क़ीमतें चढ़ने लगीं तो उन्हीं पर गालियों की बौछार होने लगी। अगर उन्होंने अपनी सत्ता के आधार पर जो विकल्प उनके सामने थे उनका फ़ायदा अपनी पार्टी के अंदर या देश के बाहर उठाने की कोशिश की तो उनको राजनीति में अनैतिक आचरण के लिए लताड़ा गया। उस समय देश में ८३५ अख़बार और १३९२५ पत्रिकाएँ थीं जिन्हें इस बात की पूरी आज़ादी थी कि जिसे चाहें गाली दें, जिस पर चाहें कीचड़ उछालें, जिसकी चाहें तारीफ़ करें, या जिसे चाहें आसमान पर चढ़ा दें। मानहानि के क़ानून ऐसे हैं और अदालत की कार्रवाई इतनी लंबी और महँगी है कि ज़बानी गाली या छपी हुई गाली के लिए कोई किसी पर आसानी से मानहानि का दावा दायर नहीं कर सकता।

इस बात के बावजूद कि श्रीमती गांधी के मन में देश की अदालतों की भूमिका के बारे में कुछ संशय थे—जिसके बारे में वह कितनी ही बार यह दलील दे चुकी थीं कि उनकी भूमिका को बदलते हुए समाज के तक़ाज़ों के साथ मेल खाना चाहिए—और अप्रैल १९७३ में सुप्रीम कोर्ट के तीन जजों का हक़[५] मारकर चीफ़ जस्टिस की नियुक्ति की वजह से श्रीमती गांधी पर क़ानून की अनुल्लंघनीय पवित्रता

को क़ायम न रखने का जो कलंक लगाया गया था उसके बावजूद उन्होंने क़ानून की मर्यादा का इतना सम्मान किया कि वह अपने ख़िलाफ़ मुक़द्दमे में दस घंटे तक गवाही देने के लिए इलाहाबाद हाईकोर्ट में हाज़िर हुईं।

यों तो इसके बारे में **न्यूयार्क टाइम्स** ने जो संपादकीय लिखा था उसमें दूसरी बातों की बुनियाद पर उनकी आलोचना की थी पर इस पहलू के बारे में उसने लिखा था : "जिस अदालत ने उन्हें अब चुनाव के क़ानून तोड़ने का दोषी ठहराया है, उसके सामने ख़ुद अपनी सफ़ाई में पेश होकर श्रीमती गांधी ने इस सिद्धांत को पूरी तरह मान लिया है कि एक स्वतंत्र समाज में कोई भी क़ानून से परे नहीं है। अगर सुप्रीम कोर्ट ने भी, जिसके सामने वह अपील करेंगी, इस अदालत के फ़ैसले को उचित ठहरा दिया तो इसी सिद्धांत के अनुसार प्रधान मंत्री इस फ़ैसले को मानने पर बाध्य हो जायेंगी, जिसका तक़ाज़ा यह होगा कि वह अपने पद से इस्तीफ़ा दे दें।"

इस सबसे बढ़कर, उन्होंने ख़ुद लगातार जनता के बीच भाषण देने की एक ज़बर्दस्त मुहिम चलायी, जिसने आम जनता को यह महसूस करने की प्रेरणा दी कि उसका महत्त्व क्या है, उसमें अपने अधिकारों की चेतना पैदा की और उसके मन में यह बेचैनी पैदा की कि हालत जैसी है वैसी नहीं रह सकती। हम चंद्रशेखर की इस बात से सहमत हो सकते हैं कि इन्दिरा गांधी कभी भी उस यथास्थिति से खुली टक्कर लेने की शुरुआत करने को तैयार नहीं थीं। या हम कर्नाटक के मुख्य मंत्री देवराज अर्स[६६] की भी बात मानने को तैयार हैं जिन्होंने कहा था : "१९७१ में जब इन्दिराजी के नेतृत्व में पार्टी चुनाव के मैदान में उतरी उस वक़्त उसकी साख थी। एक तरफ़ सिंडीकेट था, दूसरी तरफ़ प्रगतिशील थे। हमने उस वक़्त दस-सूत्री कार्यक्रम[६७] अपनाया था। लोग यह विश्वास करते थे कि कांग्रेस परिवर्तन लाने का साधन है, कि अमीरों और ग़रीबों के बीच जो अंतर है उसे वह दूर करेगी, और सभी को सामाजिक न्याय मिलेगा। १९७२ के चुनावों के बाद हमने दस-सूत्री कार्यक्रम को और मज़बूत किया, लेकिन जो असली सूत्र थे वे कभी सामने आये ही नहीं—वे तो इमर्जेंसी के दौरान ही सामने आये। शायद इसके बीच के दौर में केन्द्र ने इसकी ज़रूरत नहीं समझी। हम निश्चित हो गये, हमने जो वादे किये थे उनकी ओर हमने पूरी तरह ध्यान नहीं दिया। हम इतने वर्षों तक आख़िर चुप क्यों रहे? हमने समाजवाद को अपनाया है। यह बहुत कठिन मार्ग है। हम अब बहुत दिन तक यह दोरुख़ी चाल नहीं चल सकते। हम यह नहीं कर सकते कि अमीर के भी साथ रहें और ग़रीब के भी साथ रहें। अब तक इसका मतलब यह रहा है कि हम दोनों को एक ही पलड़े में रखते आये हैं।"[६८]

लेकिन इन्दिरा गांधी तमाम वक़्त, और बड़े विस्तार के साथ, हर शहर और हर गाँव में, भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसी की चर्चा करती रहीं। भले ही यह सच है कि वह इस कार्यक्रम को उसकी तर्कसंगत परिणति तक नहीं ले जाना चाहती थीं और सामाजिक ढाँचे को नहीं बदलना चाहती थीं, लेकिन उन्होंने भारत के ग़रीब लोगों के विशाल समुदाय को यह महसूस करा दिया कि भविष्य को सँवारने में उनका भी कुछ दाँव पर लगा हुआ है। यह बात कि बाद में चलकर इसी अनपढ़ समुदाय ने न केवल इन्दिरा गांधी का बल्कि मज़बूती से जमे हुए उनके शासन का एक ऐसे वक़्त पर तख़्ता उलट दिया जब उसकी सत्ता के आगे सभी थर-थर काँपते थे, इस बात का सबूत है कि इमर्जेंसी से पहले उनके दस वर्ष के शासन ने लोगों को राजनीतिक रूप से सजग करने में इतना योगदान किया था

कि उन्होंने साहस तथा विवेक के इस उन्मादपूर्ण प्रयोग को आज़माने की अपनी क्षमता का परिचय दिया।

एक गरीब आदमी के लिए इस बात का कितना महत्त्व होता है कि कोई उसकी बात करे, इसका अंदाज़ा मुझे उस समय हुआ जब मैंने एक घरेलू नौकर से उस समय जब वह जून के चुनाव में वोट देने जा रहा था यह पूछा कि वह किसे वोट देगा। उसने अस्फुट स्वर में उत्तर दिया "मैं क्या जानूं, आप ही बता दीजिये न ?" मुझे उसकी इस दुविधा पर बहुत आश्चर्य हुआ क्योंकि अभी तीन ही महीने पहले वह जनता पार्टी का बहुत जोशीला समर्थक था। मैंने पूछा, "क्यों, क्या हुआ ?" उसने बहुत निराश भाव से उत्तर दिया, "बात यह है कि ये लोग इतने दिन से सरकार चला रहे हैं। इनमें से किसी ने हम ग़रीब लोगों की बात भी नहीं की है।" उसने वोट जनता पार्टी को ही दिया, लेकिन टूटती हुई आस्था के साथ। इसके विपरीत श्रीमती गांधी ने 'दबे-कुचले लोगों को', ग़रीबों को और 'समाज के पिछड़े हुए हिस्सों को' बचाने के अपने दावे की ऐसी हवा बाँध रखी थी कि उनके प्रति इन लोगों की आस्था कई वर्ष बाद इमर्जेंसी के अत्याचारों के बाद ही जाकर टूटी।

वह कम्युनिस्ट पार्टी को भी रास्ते पर लगाये रखने में सफल रहीं। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की दिल्ली राज्य कौंसिल के सेक्रेटरी प्रेमसागर गुप्ता[१] ने कहा, "समाजवाद के लिए पहले यह ज़रूरी है कि बहुत विकसित स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था हो, जिसका मतलब है कि मशीनें बनायी जायें, और उन मशीनों से दूसरी मशीनें बनायी जायें, भारी और बुनियादी महत्त्व के उद्योगों में सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना हो—इसीलिए हमने नेहरू का समर्थन किया था। श्रीमती गांधी ने भी वही बुनियादी दिशाएँ अपनायीं। १९६९ में बैंकों के राष्ट्रीयकरण से यह उम्मीद बँधी थी कि पूँजी की ताक़त की इजारेदारी की बुनियाद पर चोट पड़ेगी, लेकिन शर्त यह थी कि ऋण देने की नीति बदली जाये। रजवाड़ों का गुज़ारा-भत्ता बंद हो जाने से दूसरों के बल पर पनपने वाली सामंती व्यवस्था की बुनियादों को आघात पहुँचा। वह अदालतों के अधिकारों को बदलने के लिए संविधान में संशोधन करना चाहती थीं, ताकि सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की व्याख्या प्रगतिशील ढंग से की जा सके। ये ऐसी नीतियाँ थीं जो हमारी राय में सही थीं। उन्होंने एक सामंती समाज को पूँजीवादी समाज में बदलने की कोशिश करने के लिए तो आवश्यक क़दम उठाये, पर उन्होंने पूँजीवाद से समाजवाद की ओर अगला क़दम कभी नहीं उठाया।"

उस वक़्त तक इन्दिरा गांधी की राजनीतिक चेतना इतनी तेज़ और संवेदनशील थी कि वह जनता के तेवर में छोटे-से परिवर्तन को फ़ौरन भाँप लेती थीं—यही वजह है कि कांग्रेसी लोग बार-बार बड़ी प्रशंसा के भाव से यह कहते हुए पाये जाते थे कि "इन्दिरा जी का हाथ जनता की नब्ज़ पर है।" वह जानती थीं कि भारत में सत्ता अपने हाथों में रखने के लिए वामपंथी रूप धारण करके ही जनता का समर्थन प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि उन्होंने इतना ध्यान देकर अपना यह रूप लोगों के सामने रखने की कोशिश की।

शायद इन्दिरा गांधी ख़ुद भी नहीं जानती थीं कि वह एक ऐसा दानव खड़ा कर रही हैं जिसे वह क़ाबू में नहीं रख पायेंगी। शायद वह सोचती भी रही हों कि वह उसे क़ाबू में रख सकेंगी और समय-समय पर शांत रखने के लिए उसे बहलाती रहेंगी और उसके मन में आशाएँ ही नहीं बल्कि कुछ भ्रम भी बनाये

रखेंगी। इससे हम यही नतीजा निकालने पर मजबूर हैं कि जो सिद्धांत एक आदर्श सामाजिक-लोकतंत्रवादी का पथ-प्रदर्शन करते हैं उन पर वह उस समय तक सहर्ष चलने को तैयार थीं जब तक कि कोई उन्हें अपनी मर्ज़ी से चलने दे; उनका दूसरा चेहरा तभी सामने आता था जब उन्हें कोई चिंता घेर लेती थी।

१२ जून के बाद उन्होंने महसूस किया कि उन पर चारों ओर से हमला किया जा रहा है, जो दिन-ब-दिन उनके निकट आता जा रहा है। सबसे पहले तो उन्हें हमेशा से इस बात का आभास था कि भारत एक-न-एक दिन अंतर्राष्ट्रीय ताक़तों की खींचातानी का शिकार हो जायेगा और उनको उसका निशाना बनाया जायेगा। अंत में जब वह हार गयीं तो उन्होंने इस बात को स्पष्ट कर दिया। उन्होंने कांग्रेस में अपने साथियों से कहा, "जो कुछ हुआ है उसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है। मैं आप लोगों को हमेशा चेतावनी देती आयी थी कि कुछ ऐसी ताक़तें हैं जो हमें काम नहीं करने देंगी, और अगर वे हमें नष्ट न भी कर पायें लेकिन कमज़ोर तो कर ही देंगी। कभी-कभी यह बात बहुत स्पष्ट नहीं होती है, और हमेशा ही बहुत गूढ़ रहती है। शायद यह अनिवार्य ही था कि वे सफल हो जायें। अगर इसमें हमने भी उनकी कुछ मदद की हो तो मुझे मालूम नहीं।"[७०]

इसके अलावा देश में विपक्ष की भी पार्टियाँ थीं, जिनका नेतृत्व जयप्रकाश नारायण जैसा प्रतिष्ठावान आदमी कर रहा था। ये पार्टियाँ आपस में एक ताक़तवर राजनीतिक दल का रूप धारण करती जा रही थीं, जिसके बारे में वह महसूस करती थीं कि उसका एकमात्र उद्देश्य उन्हें हटाना है। इन पार्टियों की विचारधारा एक-दूसरे से उतनी ही अलग थी जितनी कि उनकी वर्ग-संरचना, फिर भी गुजरात में उन्होंने मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता मोर्चे के रूप में एकताबद्ध होकर मई में कांग्रेस को चुनाव में हरा दिया था। यह इस बात का काफ़ी स्पष्ट प्रमाण था कि अगर आम चुनाव भी हो तो भी विपक्ष के जीतने की संभावना उतनी ही है जितनी कि शासक दल के जीतने की, शर्त केवल यह है कि वह जनता को अपने चारों ओर जुटा सके। लेकिन उनमें उचित समय तक इंतज़ार करने का आत्म-विश्वास पैदा करने के बजाय गुजरात के चुनाव ने विपक्ष की सत्ता की प्यास को और भड़का दिया।

इसमें जितनी भी पार्टियाँ शामिल थीं उन्होंने पहले ही से फ़ैसला कर लिया था कि वे विधानसभा, चुनाव, आंदोलन और रचनात्मक कार्य के मोर्चों पर भरपूर दबाव डालेंगी। सोशलिस्ट पार्टी के अध्यक्ष जार्ज फ़र्नांडीज़ का यह मत था कि "संसदीय प्रणाली की अंदर से सुधार करने और नवोत्थान की क्षमता चूंकि बेहद सीमित होती जा रही है इसलिए संविधान की परिधि के बाहर कोई कार्रवाई और जनता की पहलक़दमी नितांत आवश्यक हो गयी है।"[७१] भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के ई० एम० एस० नंबूदिरीपाद[७२] ने कहा कि "मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी और दूसरी वामपंथी पार्टियाँ इस बात को समझती हैं कि हमारे देश के सामने जो समस्याएँ हैं उन्हें केवल चुनावों से और संसदीय मंच पर काम करके नहीं हल किया जा सकता। ठीक यही वजह है कि वे इस सिद्धांत को नहीं मानते कि हर समस्या को केवल संविधान में बताये गये तरीक़ों से हल किया जाना चाहिए।"[७३] फिर भारतीय जनसंघ के अटलबिहारी वाजपेयी[७४] की वक्तृता की प्रबल धारा थी—"सत्तारूढ़ नेतृत्व संसदीय प्रणाली को अपनी दूषित योजनाओं की रक्षा करने के लिए केवल एक आड़ की तरह इस्तेमाल कर रहा है। इसका ज़वाब केवल संसदीय स्तर तक सीमित नहीं रह सकता। यह

लड़ाई सड़कों पर, संसद के सदनों में और विधानसभाओं में, सत्ता के गलियारों में, शासनसत्ता के सभी महत्त्वपूर्ण केंद्रों में लड़नी होगी।"[७]

इसके बाद चरम-बिंदु आ गया। भारतीय जनसंघ, संगठन कांग्रेस, सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय लोकदल, क्रांतिकारी समाजवादी पार्टी (आर० एस० पी०), अकाली दल और उन दूसरे मनोनीत नेताओं की राष्ट्रीय समन्वय समिति ने, जो नवंबर १९७४ में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में मिलकर एक हो गये थे, सोशलिस्ट पार्टी के सुझाव के अनुसार "अधिक-से-अधिक छः सप्ताह के अंदर आरंभ हो जानेवाले राष्ट्रव्यापी सविनय अवज्ञा आंदोलन" की योजना की ब्यौरे की बातों पर विचार करने के लिए अगले वर्ष अप्रैल में अपनी एक और मीटिंग बुलायी। इस योजना में "जनता को इस महान संग्राम के लिए तैयार करने के लिए" और "खुले आम गिरफ़्तार होकर संघर्ष छेड़ने के लिए" शीर्षस्थ नेताओं के देशव्यापी दौरों का कार्यक्रम शामिल था। २१ जून १९७५ को जयप्रकाश नारायण ने सशस्त्र सेनाओं का आह्वान किया कि वे इस संघर्ष को 'अपना संघर्ष' समझें।

बहुत पहले, जून १९७४ में ही **पायनियर** अख़बार ने अपने एक संपादकीय लेख में टिप्पणी की थी : "सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण सचमुच बारूद से खेल रहे हैं। मंत्रिमंडल को गिराने के लिए, विधायकों का घेराव करने के लिए, पुलिस-दल के आम लोगों में सरकार के प्रति विद्रोह की भावना फैलाने और राज्य को 'टैक्स बंद' के तूफ़ानी अभियान में फँसा देने के जिस आंदोलन की वह अगुवाई कर रहे हैं, उसके फलस्वरूप बहुत व्यापक पैमाने पर उससे बहुत पहले ही, जितनी कि आशंका है, हिंसा का दौर शुरू हो सकता है। कहने को तो उनका उद्देश्य सरकार की सारी बुराइयों को दूर करना है लेकिन वह जिन तरीक़ों की पैरवी कर रहे हैं वे अनुचित दबाव डालने वाले और अ-लोकतांत्रिक तरीक़े हैं।" फिर भी साल भर बाद जब सोशलिस्ट पार्टी ने अपनी सविनय अवज्ञा की योजना सामने रखी तो **पायनियर** ने स्वीकार किया कि "राजनीतिक पार्टियों का ध्यान संघर्ष की ओर से हटकर चुनाव की तैयारियों पर केंद्रित होता जा रहा है," जिसमें यह आशय निहित था कि आंदोलन धीरे-धीरे ख़त्म होता जा रहा है।

इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जब इलाहाबाद हाईकोर्ट का फ़ैसला आया, तो विपक्ष ने आंदोलन के वेग को और तेज़ करने के लिए उसका फ़ायदा एक मुँहमाँगे वरदान के रूप में उठाया। जब प्रधान मंत्री की कोठी के सामने पहली मीटिंग हुई जिसमें इन्दिरा गांधी के पक्ष में नारे लगाने का सिलसिला शुरू हुआ, उसी समय विपक्ष के नेताओं की एक टोली ने राष्ट्रपति भवन के सामने धरना दिया और उनके इस्तीफ़े की माँग करते हुए नारे लगाये। २२ जून तक भारतीय लोकदल, भारतीय जनसंघ, संगठन कांग्रेस, सोशलिस्ट पार्टी और अकाली दल के प्रतिनिधियों की दस सदस्यों की एक समिति संघर्ष की योजना तैयार करने के लिए बना दी गयी। जनसंघ के अध्यक्ष नानाजी देशमुख[८] ने एक प्रस्तावित कार्यक्रम का सुझाव रखा जिसमें हर जगह आंदोलन समितियाँ स्थापित करने, जनता का उत्साह जगाने और उसे संगठित करने के लिए सभी राज्यों में नेताओं के व्यापक दौरों, चंदा जमा करने, प्रचार साहित्य प्रकाशित करने, प्रधान मंत्री के इस्तीफ़े की माँग करने के लिए 'दिल्ली बंद' संगठित करने, अगर वह इस्तीफ़ा न दें तो उनकी कोठी के सामने अनिश्चित काल के लिए धरना देने और दिल्ली में जुलूसों, प्रदर्शनों और घेरावों के ज़रिये इन्दिरा गांधी के ख़िलाफ़ एक ज़बर्दस्त हवा बाँध देने की योजना बनायी गयी थी। २५ जून की सुबह मोरारजी देसाई

की अध्यक्षता में एक लोक संघर्ष समिति बनायी गयी जिसके सेक्रेटरी नानाजी देशमुख और कोषाध्यक्ष अशोक मेहता थे। इसका लक्ष्य २९ जून से ५ जुलाई १९७५ तक एक लोक शिक्षण सप्ताह संगठित करना था। यह काम फ़ौरन रैलियों, मीटिंगों और आकाशवाणी के केंद्रों के बाहर आंदोलनों के रूप में और प्रधान मंत्री के इस्तीफ़े की माँग करते हुए रोज़ उनकी कोठी के सामने सत्याग्रहियों की टोलियों के प्रदर्शनों के रूप में शुरू कर देने की योजना थी।

मैं समझती हूँ कि विपक्ष का यह माँग करना बिलकुल उचित था कि श्रीमती गांधी इस्तीफ़ा दें। विपक्ष का तो काम ही विरोध करना होता है। दूसरे, हलचल पैदा करने के लिए आंदोलन की व्यापकता कुछ भी रही हो, उसकी योजना अहिंसा की सीमाओं के भीतर बनायी गयी थी। कोई कार्रवाई तभी की जा सकती थी जब इन जुलूसों, प्रदर्शनों और धरनों के फलस्वरूप हिंसा भड़क उठती। वरना, जैसा कि जयप्रकाश नारायण ने कहा, कोई भी लोकतांत्रिक समाज ऐसा नहीं हुआ है जिसमें जनता ने "अपनी दुर्दशा को बदलने के लिए पूरी तरह और केवल चुनावों का सहारा लिया हो। हड़तालें, विरोध-प्रदर्शन, मोर्चे, बैठकी और धरने, आदि सभी जगह होते हैं...।" तीसरे, अगर कहीं हिंसा हुई भी थी तो उससे इमर्जेंसी लागू किये बिना भी निबटा जा सकता था। चौथे, अगर कोई कड़ी कार्रवाई करने की ज़रूरत थी भी, तो वह केवल बिहार में ही हो सकती थी, जो आंदोलन का केंद्र था। इसलिए केवल बिहार राज्य में इमर्जेंसी लागू की जा सकती थी। पाँचवें, अगर बिहार में आंदोलन सचमुच आम जनता के स्तर तक पहुँच चुका था, जैसा कि जयप्रकाश नारायण कहते थे, तो उसका गला घोंटने में यों भी कोई तुक नहीं थी।

छठे, अगर दमन के कुछ उपाय करना ज़रूरी भी था, तो ये उपाय उस समय किये जाने चाहिए थे जबकि यह आंदोलन अपने पूरे ज़ोर पर था, न कि जब उसकी लहर उतर रही थी। जिस प्रधान मंत्री का चुनाव भ्रष्ट तरीक़े अपनाने की बुनियाद पर रद्द कर दिया गया हो, भले ही वह बहुत मामूली क़ानूनी बारीकी का सवाल रहा हो, उसके इस्तीफ़े के लिए आंदोलन चलाना कोई राजद्रोह नहीं है; और न ही इसका अर्थ यह है कि विपक्ष उस पूरे जन-समर्थन को रद्द कर देने की माँग कर रहा था जिसकी बदौलत कांग्रेस को लोक सभा के चुनाव में ३६१ सीटें मिली थीं। हद-से-हद कांग्रेस अपना कोई नया नेता चुन सकती थी।

अगर यह भी दलील दी जाये कि श्रीमती गांधी को इलाहाबाद हाईकोर्ट के फ़ैसले के बाद भी स्टे-ऑर्डर की बुनियाद पर प्रधान मंत्री बने रहने का पूरा अधिकार था, और यह कि विपक्ष को उस स्टे-ऑर्डर का सम्मान करना चाहिए था और कोई आक्रामक कार्रवाई नहीं करनी चाहिए थी, तब भी असल बात तो यह है कि इस मामले में सुप्रीम कोर्ट का फ़ैसला ही निर्णायक हो सकता था। विपक्ष की ओर से संगठित किये गये धरने, घेराव और प्रदर्शन भी उतने ही उचित थे जितनी कि श्रीमती गांधी के समर्थकों की ओर से संगठित की गयी मीटिंगें, जुलूस और प्रदर्शन। यह हथियारों की नहीं, एक-दूसरे को थका देने की लड़ाई थी।

अगर श्रीमती गांधी को हाईकोर्ट के फ़ैसले के बाद यह आभास न होता कि अब उनकी इज़्ज़त कम हो गयी है, तो विपक्ष के हथकंडों की वजह से क़ानून और सुव्यवस्था के लिए ख़तरा पैदा हो जाने की जो संभावना सामने आयी थी उससे वह अपनी उस पूरी सत्ता तथा शक्ति की भावना के साथ निबट सकती थीं

जो उनमें अपनी पहले वाली अजेय स्थिति के कारण पैदा हुई थी। सुप्रीम कोर्ट से कुछ शर्तों के साथ ही स्टे-ऑर्डर मिलने की वजह से परिस्थिति और भी विगड़ गयी थी, जिसमें यह अपमानजनक शर्त भी जुड़ी हुई थी कि वह संसद की कार्रवाई में न भाग ले सकती हैं और न वोट दे सकती हैं। जैसा कि मैं बता चुकी हूँ, १९७४ में उन्होंने इमर्जेंसी का सहारा लिये विना इससे भी अधिक गंभीर परिस्थितियों पर क़ाबू पा लिया था। १९७५ में भी वह ऐसा ही कर सकती थीं। लेकिन अब उनकी हालत ऐसी नहीं थी कि कोई उनका वाल बाँका न कर सके।

शांत स्वभाव वाले सिख नेता गुरदयालसिंह ढिल्लों[77] ने, जो अपनी काली दाढ़ी बहुत कसकर बाँधते हैं, और अपनी छोटी-सी तोंद को बड़ी सफ़ाई से छिपा लेते हैं, अपना अनुभव बताते हुए कहा, "लोकसभा के अध्यक्ष और मंत्री की हैसियत से मैं पूरे घटनाक्रम को बड़े ध्यान से देखता रहा हूँ, और मैं यह समझता हूँ कि हमारी सरकार ज़रूरत से ज़्यादा उदार और ज़रूरत से ज़्यादा नरम थी। मैं बहुत-से लोगों से, विदेशों के बड़े-बड़े लोगों और मंत्रियों से, मिला हूँ जिन्होंने मुझसे और श्रीमती गांधी से यह सवाल किया है कि वह इस अराजकता को कव तक वर्दाश्त करेंगी। लेकिन," उन्होंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, "सवाल यह है कि इमर्जेंसी लागू करने के लिए हमें विपक्ष ने मजबूर किया या हमने ख़ुद अपने आपको इमर्जेंसी का सहारा लेने के लिए मजबूर कर दिया?"

जिस चीज़ ने इन्दिरा गांधी को इमर्जेंसी का सहारा लेने पर मजबूर कर दिया वह थी उनकी यह भावना कि वह सुरक्षित नहीं हैं।

जैसा कि चह्वाण ने कहा था, वह उन लोगों में से नहीं हैं जो अंतर्राष्ट्रीय दवाव से प्रभावित हो जायें। यह मानना अधिक तर्कसंगत होगा कि एक ऐसे विपक्ष के दवाव में आ जाने का सवाल तो और भी कम पैदा होता है, जो उस वक़्त तक अपने-आपको एक पार्टी के रूप में नहीं ढाल पाया था। उनके सामने कारगर क़दम उठाने के जो रास्ते खुले हुए थे वे हाईकोर्ट के फ़ैसले की वजह से वंद हो गये। वह कार्य-कुशल तो रह सकती थीं लेकिन अपने नाम पर कलंक लगने के वाद वह मनमानी नहीं कर सकती थीं। सुप्रीम कोर्ट से कुछ शर्तों के साथ स्टे-ऑर्डर मिलने के वाद उन्होंने अपने पद पर वने रहने को उचित ठहराने की चाहे जितनी कोशिश की हो। पर वह यह जानती थीं कि उनकी साख उठ चुकी है और यह कि पार्टी के अंदर अव उनकी स्थिति कभी भी वैसी नहीं रह सकती जैसी कि पहले थी। उन्होंने इस वात को स्वयं भी बहुत गहराई से महसूस किया होगा, जभी तो, जैसा कि चंद्रजीत यादव उस समय की घटनाओं को याद करते हुए कहते हैं, "इस्तीफ़ा देने के सवाल पर उनके मन में दुविधा थी।"

लेकिन उनके लिए इस्तीफ़ा देने का उचित समय १२ जून का दिन नहीं था। उचित समय था २४ ज़ून का दिन, जिस दिन सुप्रीम कोर्ट ने कुछ शर्तों के साथ उन्हें स्टे-ऑर्डर दिया था। ऐसा करने से न केवल उनके प्रति उनके साथियों का सम्मान और जन-साधारण की निष्ठा बनी रहती, वल्कि विपक्ष का सारा ज़ोर भी खत्म हो गया होता। उन्होंने विपक्ष से उसका एकमात्र ध्येय—'इन्दिरा हटाओ'—छीन लिया होता। उन सभी का उनको हटाने का प्रयास वह एकमात्र कारण था जो उन्हें एक मज़बूत, एकतावद्ध और प्रभावशाली विपक्ष के रूप में ढल जाने के लिए प्रेरित कर रहा था। अगर वह दाँव-पेंच के रूप में भी यह क़दम उठातीं तो उससे उन्हें फ़ायदा होता। श्रीमती गांधी का कहना था कि

विपक्ष जिस ढंग से काम कर रहा था उसका उद्देश्य सरकार को और अर्थतंत्र को ठप कर देना था, और इसलिए कोई कड़ी कार्रवाई करना ज़रूरी हो गया था। लेकिन अगर इस तरह का आंदोलन शांतिपूर्ण रहते हुए भी सरकार का काम-काज ठप कर देने में सफल हो जाये तो इसका मतलब तो यही है कि सरकार यह मान ले कि वह परिस्थिति पर क़ाबू पाने में असमर्थ है और इस्तीफ़ा दे दे।

उस मौक़े पर इन्दिरा गांधी के सामने सत्ता निश्चित रूप से अपने हाथ में रखने के लिए दो ही रास्ते थे। एक तो यह कि वह इस्तीफ़ा दे देतीं, नया चुनाव करवातीं, जनता का फ़ैसला अपने पक्ष में हासिल करतीं और भरपूर लोकतांत्रिक समर्थन के साथ पहले की तरह ही फिर सत्ता अपने हाथ में सँभाल लेतीं। या फिर वह इमर्जेंसी लागू कर देतीं। उस समय तक वह हमेशा जनता के पास जाती रही थीं। इस मौक़े पर वह क्यों नहीं गयीं? सबसे पहली बात तो यह कि कुछ शर्तों के साथ स्टे-ऑर्डर मिलने की वजह से उनके नाम पर बट्टा लग चुका था। दूसरे, इस बात का कोई आश्वासन नहीं था कि अपने अंतिम निर्णय में सुप्रीम-कोर्ट उनके चुनाव को वैध ठहरा ही देगा। तीसरे, अगर उनको पार्टी के अंदर अपनी साख के बारे में पूरा भरोसा होता तो वह यह ख़तरा भी मोल ले सकती थीं।

उस समय इन्दिरा गांधी को स्वयं अपनी पार्टी के अंदर से सबसे बड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा। १२ जून के बाद उनकी चिंता का कारण विपक्ष नहीं था। चिंता का कारण थी कांग्रेस।

कांग्रेस के अंदर एक वामपंथी गरोह था और कुछ लोग थे जो सत्ता अपने हाथ में लेना चाहते थे। आख़िरकार यह देखकर कि उनकी साख बहुत कम हो गयी है, कांग्रेस के अंदर बड़े-बड़े नेताओं ने उनको बिलकुल ही ख़त्म कर देने के लिए दाँव-पेंच शुरू कर दिये। उनकी हालत उन टिड्डों जैसी थी जो अपनी ही नस्ल पर हमला करते हैं। जैसे ही उनके प्रतिपक्षी को चोट लग जाती है या वह घायल हो जाता है, वे उसके मरने से पहले ही उसे खाना शुरू कर देते हैं। वह इन चालों को अच्छी तरह जानती थीं। कांग्रेस के अंदर उनके कुछ वामपंथी दोस्त भी उन पर काफ़ी दबाव डाल रहे थे, जो चाहते थे कि इमर्जेंसी जनवरी १९७५ में ही लागू कर दी जाये। श्रीमती गांधी ने इन लोगों पर विश्वास करना छोड़ दिया था। उनका बेटा ही अब उनका सच्चा साथी था जिसने बार-बार उन्हें इन लोगों के बारे में चेतावनी देकर उनकी भावनाओं की पुष्टि की थी। वह उनसे कहा करता था, "आख़िरकार ये लोग आपका तख़्ता उलट देंगे, और आपकी समझ में यह बात आती नहीं है...।" जिन उद्देश्यों को लेकर श्रीमती गांधी काम करती थीं उनकी बुनियाद अगर ज़रा भी किसी विचारधारा पर होती तो जयप्रकाश नारायण उनके साथ होते क्योंकि वह भी यही महसूस करते थे।

जयप्रकाश ने जेल से लिखा, "एक वक़्त ऐसा भी आ सकता है जब रूसी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और कांग्रेस के अंदर छिपे हुए विभीषणों के ज़रिये श्रीमती गांधी का सारा रस निचोड़ लेने के बाद उन्हें इतिहास के घूरे पर फेंक देंगे...।"[८]

शशिभूषण का कहना है, "जयप्रकाश नारायण तो पेशेवर और वैज्ञानिक कम्युनिस्ट-विरोधी हैं। यही हाल संजय का है, जैसा कि उसने अपनी हरकतों से साबित कर दिया है।"

लेकिन हमेशा की तरह इस मामले में भी मैं चंद्रशेखर की राय को ही ठीक

समझती हूँ। वह बुद्धिसंगत वात करते हैं, ठंडे दिमाग़ से सोचते हैं और चीज़ों का विश्लेषण करते हैं। वह चरमपंथी नहीं हैं कि किसी व्यक्ति के लिए अपने समर्थन या किसी समस्या के प्रति विरोध की भावना के प्रवाह में वह जायें।

जिस गरोह से श्रीमती गांधी को डर था उसके वारे में चंद्रशेखर ने कहा, "ऐसा लगता है कि वे वामपंथी हैं और उनके दिमाग़ में वामपंथियों के सत्ता पर अधिकार करने के वारे में कुछ धुँधले-धुँधले विचार हैं। मैं नहीं जानता कि वे किस तरह का मार्क्सवाद समझते हैं, क्योंकि मार्क्स ने तो कहा था कि पहले जनता को तैयार किया जाना चाहिए।" चंद्रशेखर ने उन्हें अस्पष्ट-सी 'रोमांटिक क्रांति' के भक्त कहकर कोई अधिक महत्त्व देने से इंकार कर दिया।

इन्दिरा गांधी का यह सोचना उचित ही था कि हर दिशा से अल्पकालीन और दीर्घकालीन चालें चली जाती रही थीं, और इस मौक़े पर तो उनको मैदान से विलकुल ही हटा देने के लिए ये चालें और तेज़ हो गयी थीं। वात वस इतनी है कि अगर उन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया होता तो वह इस अपमान से वच जातीं कि उन्हें उसी शक्ति ने—जनता ने—मैदान से हटा दिया जिसके सहारे वह यहाँ तक पहुँची थीं।

आर० के० धवन वताते हैं, "इमर्जेंसी के लिए कोई ख़ास तैयारी नहीं की गयी थी। मंत्री, संसद के सदस्य, लोगों के दल और अलग-अलग लोग २३ और २४ जून को भी हमेशा की तरह प्रधान मंत्री की कोठी पर आये और उन्होंने परिस्थिति के वारे में कुछ आम टिप्पणियाँ कीं। उन्होंने कहा, 'मैडम वहुत गड़वड़ी मची हुई है। कुछ करना होगा।'" २४ तारीख़ को देवकांत वरुआ और सिद्धार्थशंकर ने साफ़-साफ़ शब्दों में अपनी राय दी कि कोई सख़्त क़दम उठाया जाना चाहिए। उसी दिन तीसरे पहर इलाहावाद हाईकोर्ट के फ़ैसले को विना किसी शर्त के मुल्तवी रखने के वारे में श्रीमती गांधी की अपील पर सुप्रीम कोर्ट का फ़ैसला आया।

अवकाशकालीन जज श्री वी० आर० कृष्ण अय्यर[61] का शव्दजाल भी उनके दोटूक निर्णय को छिपा नहीं सका। माननीय जज महोदय ने अपने फ़ैसले में कहा, "न्याय के गौरवान्वित कक्षों को कुछ मात्रा में तो इस महान सत्य से अवगत होना ही चाहिए कि मानव-इतिहास के व्यापक विस्तार का मार्गदर्शन ऐसी सामाजिक शक्तियाँ करती हैं जो क्षणिक कोलाहल अथवा क़ानून की वारीकियों के उतार-चढ़ावों की परिधि से वाहर हैं। जीवन का क्षेत्र क़ानून के क्षेत्र से अधिक व्यापक है।" और उन्होंने श्रीमती गांधी को आंशिक रूप से अपराधी ठहराया। वह प्रधान मंत्री के पद पर वनी रह सकती थीं और इलाहावाद हाईकोर्ट के फ़ैसले के ख़िलाफ़ सुप्रीम कोर्ट में उनकी अपील का फ़ैसला हो जाने तक वह जिस समय तक प्रधान मंत्री या मंत्री रहें वह संसद में इस हैसियत से अपना काम-काज करती रह सकती थीं। परंतु लोकसभा के सदस्य की हैसियत से इन्दिरा गांधी को वोट देने, सदन की कार्रवाई में भाग लेने, या अपना वेतन भी लेने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था।

प्रधानमंत्री की कोठी में एक वार फिर स्तव्ध सन्नाटा छा गया। नेता गंभीर मुद्रा धारण किये चुपचाप श्रीमती गांधी के कमरे में इस तरह जाते मानो शोक प्रकट करने आये हों, लेकिन वहाँ से मुस्कराते हुए वाहर निकलते। जब वह वाहर निकलकर आम लोगों से वातें करतीं तो उनके चेहरे खिल उठते। १२ जून की

तरह आज संशय का वातावरण नहीं था। बरुआ ने उस समय कहा था, "छोटी लड़ाई में हम भले ही हार गये हों पर युद्ध हमने जीत लिया है।" और फिर १८ जून को कांग्रेस संसदीय दल की मीटिंग में उन्होंने अपना वह प्रख्यात वयान दिया था : "इंडिया इज़ इन्दिरा, इन्दिरा इज़ इंडिया।"" (भारत इन्दिरा है, इन्दिरा ही भारत है।) चह्वाण भी पीछे रहने वाले नहीं थे, लेकिन उनकी बात लोगों की ज़बान पर इतनी नहीं चढ़ी। उन्होंने कहा, "उनके साथ जो कुछ होगा वह भारत के साथ होगा, और भारत के साथ जो कुछ होगा वह उनके साथ होगा।" यह फ़ैसला कि अगर कुछ शर्तों के साथ भी स्टे-ऑर्डर मिले तब भी वह प्रधान मंत्री के पद पर बनी रहें, उनके वरिष्ठ साथियों ने बहुत पहले १५ जून को ही कर दिया था। उन्होंने विपक्ष की इन धमकियों पर भी अच्छी तरह सोच-विचार कर लिया था कि वह संसद में गतिरोध पैदा कर देगा और उन्होंने फ़ैसला किया था कि संसद का अधिवेशन सुप्रीम कोर्ट का फ़ैसला आने के बाद किया जा सकता है, जिसके बारे में आशा की जाती थी कि उसमें छः सप्ताह से अधिक का समय नहीं लगेगा।

दिखावटी चिकनी-चुपड़ी बातों की आड़ में कांग्रेस के अंदर श्रीमती गांधी के खिलाफ़ जो चालें चली जा रही थीं वे सभी २५ जून तक विफल हो चुकी थीं। जस्टिस अय्यर के फ़ैसले पर विपक्ष फूला नहीं समा रहा था। विपक्ष के दलों की कार्यकारिणी समितियों की संयुक्त मीटिंग में बड़ी कटुता के साथ कहा गया : "श्रीमती गांधी की साख धूल में मिल चुकी है। उनकी लोकसभा की सदस्यता सीमित रह गयी है। उनका वोट देने का अधिकार फ़िलहाल छीन लिया गया है। वह किस तरह की प्रधान मंत्री हो सकती हैं ?" इसके विपरीत भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने ज़ोरदार पैरवी की कि "उन्हें दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादियों की धौंस-धमकियों के आगे आत्म-समर्पण नहीं करना चाहिए—और प्रधान मंत्री के पद पर बने रहना चाहिए।"

अगर विपक्ष युद्ध के लिए कमर कसकर मैदान में उतर चुका था, तो कांग्रेस के अंदर भी कुछ बातों की आलोचना हो रही थी, जिस तरह रैलियाँ संगठित की जाती थीं, जिस तरह सरकारी परिवहन का इस्तेमाल किया जाता था, और जिस भोंडे ढंग से भीड़ों का प्रदर्शन किया जाता था। तारकेश्वरी सिन्हा ने कहा, "मैं उनके बहुत निकट नहीं थी। मैं अभी कांग्रेस में दुबारा आयी ही थी। मैं समझती थी कि अभी मुझे पीछे ही रहना चाहिए, बहुत आगे आने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। सभी लोग जानते थे कि मैं श्रीमती गांधी की विरोधी रही थी। फिर भी उनकी कोठी के बाहर औरतों को भाँगड़ा नाच वग़ैरह करते हुए देखकर मुझे भी उनके बारे में कुछ कहने का साहस हुआ। मैंने श्रीमती गांधी से कहा, 'ये सब बहुत बेतुकी बातें हैं। हम लोग आपकी क़द्र करते हैं। यह देखना आपके सेक्रेटेरियट की ज़िम्मेदारी है कि कोई ऐसी बात न हो जो आपकी मर्यादा के खिलाफ़ हो।' मैंने सोचा इससे ज़्यादा कुछ कहना मेरी ढिठाई समझी जायेगी। लेकिन असलियत यह थी कि इन्दिरा गांधी को इन रैलियों को देखकर न सिर्फ़ ख़ुशी होती थी बल्कि जिस तरह उनके बेटे ने उनको संगठित करने में मदद दी थी उसके लिए वह उसकी तारीफ़ भी करती थीं। उन्होंने सोचा कि जनता की इच्छा, जो इतने स्पष्ट रूप से उनके पक्ष में व्यक्त हुई थी, उनका विरोध करनेवालों को कुछ सबक़ सिखा देगी। जिस तरह ये सार्वजनिक प्रदर्शन संगठित किये जा रहे थे उनके बारे में अगर वह स्वयं संवेदनशील होतीं तो वह निश्चय ही गृह-मंत्रालय के

सचिव निर्मलकुमार मुखर्जी[१] के ख़िलाफ़ इतनी जल्दी और इतनी सख़्ती से कार्रवाई न करतीं।

उनके निकटतम सहयोगी धवन का कहना है कि "२५ जून की सुबह तक इमर्जेंसी शब्द का ज़िक्र तक नहीं आया था।" लेकिन जिस तरह २२ जून को ही एन० के० मुखर्जी को उनके महत्त्वपूर्ण पद से हटाकर पर्यटन तथा नागरिक उड्डयन-मंत्रालय में भेज दिया गया था, उससे पता चलता है कि काफ़ी पहले ही कुछ गंभीर क़दम उठाने का फ़ैसला कर लिया गया था। संजय का इस सबमें बहुत हाथ था और इमर्जेंसी के दौरान लोगों को दंड देने का जो तरीक़ा अपनाया गया वह बहुत ऊँचे-ऊँचे सरकारी अफ़सरों के सिलसिले में बहुत पहले ही शुरू कर दिया गया था। जिस बात ने फ़ौरन यह क़दम उठाने के लिए उकसावा दिया वह यह थी कि गृह-मंत्री ब्रह्मानंद रेड्डी ने गृह-मंत्रालय के सचिव को टेलीफ़ोन किया कि प्रधान मंत्री के समर्थन में मीटिंगें करने के लिए लोगों को सफ़दरजंग रोड के चौराहे तक पहुँचाने के लिए जिस तरह नयी दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी और दिल्ली राज्य परिवहन निगम की तरफ़ से बसों की सुविधा दी जा रही थी उसकी लोगों में इतनी आलोचना हो रही है कि यह बात बेहद शर्मनाक होती जा रही है। रेड्डी ने सुझाव दिया कि गृह-मंत्रालय के सचिव इसे रोकने के लिए कुछ क़दम उठायें।

मुखर्जी ने फ़ौरन गृह-मंत्रालय के उन पाँच सबसे बड़े अफ़सरों की मीटिंग बुलायी जो आमतौर पर इस तरह के मामलों को निबटाते हैं—एडिशनल सेक्रेटरी टी० सी० ए० श्रीनिवासवर्धन[२], केंद्रीय जाँच ब्यूरो (सी० बी० आई०) के प्रधान अनंत जयराम, ख़ुफ़िया विभाग के डायरेक्टर डी० सेन और गृह-मंत्रालय के विशेष सेक्रेटरी, सीमा सुरक्षा दल के भूतपूर्व डायरेक्टर-जनरल, के० एफ़० रुस्तमजी। मुखर्जी ने इन लोगों की राय लेने के लिए गृह-मंत्री का सुझाव मीटिंग में पेश किया। लगभग सभी इस बात से सहमत थे कि जिस तरह इन प्रदर्शनों का बंदोबस्त किया जा रहा था वह सचमुच शर्मनाक था, लेकिन यह मामला पूरी तरह दिल्ली प्रशासन के अधिकार-क्षेत्र में था, इसलिए सबसे अच्छा यही होगा कि इस मामले को लेफ़्टिनेंटगवर्नर किशनचंद निबटायें। अकेले सेन ही ऐसे आदमी थे जिन्होंने कोई साफ़ बात नहीं की, वह बस हूं-हाँ करते रहे।

इस स्थिति के साथ एक और बहुत ही दिलचस्प बात भी जुड़ी हुई है। जहाँ तक प्रधान मंत्री या संजय गांधी पर प्रभाव का सवाल था, गृह-मंत्री रेड्डी अपने राज्य-मंत्री ओम मेहता से बहुत पीछे रह गये थे। मुखर्जी और रुस्तमजी दोनों ही ने यह भावना व्यक्त की कि अगर गृह-मंत्री का आदेश लेफ़्टिनट-गवर्नर तक पहुँचा दिया गया तो वह निश्चित रूप से उसे पूरा नहीं करेंगे। मीटिंग में सभी इस सुझाव पर सहमत हो गये कि यह विचार गृह-मंत्री तक पहुँचा दिया जाये, और उनके लिए उचित यही होगा कि वह गृह-मंत्रालय के राज्य-मंत्री से कहें कि वह लेफ़्टिनेंट-गवर्नर से बात कर लें, क्योंकि वे ऐसा महसूस करते थे कि अगर यह बात लेफ़्टिनेंट-गवर्नर को समझा दी जाये कि इन बसों और लारियों को इस्तेमाल करना सरकार और प्रधान मंत्री के हित में नहीं है तो किशनचंद मान जायेंगे। इसलिए यह बात गृह-मंत्री तक पहुँचा दी गयी। ओम मेहता ने लेफ़्टिनेंट-गवर्नर से बात की और गाड़ियों का इस्तेमाल बंद कर दिया गया।

उस वक़्त तक गृह-मंत्री और उनके मंत्रालय के उन पाँच अफ़सरों के अलावा किसी को भी इस बात का पता नहीं था कि इस तरह की मीटिंग हुई है। फिर

भी प्रधान मंत्री और संजय गांधी के कानों तक उस बहस की एक-एक बात पहुँचा दी गयी कि किसने क्या कहा था। उस समय यह उम्मीद की जाती थी कि मुखर्जी के बाद श्रीनिवासवर्धन गृह-मंत्रालय के सेक्रेटरी बना दिये जायेंगे और बी० डी० पाँडे के बाद, जो रिटायर होने वाले थे, सबसे पुराने आई० सी० एस० अफ़सर होने के नाते मुखर्जी कैबिनेट-सेक्रेटरी बना दिये जायेंगे। डी० सेन की उन दोनों में से किसी के साथ भी नहीं बनती थी, और शायद वह समझते थे कि उन लोगों के अपना-अपना नया पद सँभाल लेने के बाद वह भी ज़्यादा दिन तक खुफ़िया विभाग के प्रधान नहीं रह पायेंगे। अनुमान यह लगाया गया कि संजय और प्रधान मंत्री को ख़ुश करके अपनी जगह पक्की कर लेना ही उन्होंने सबसे अच्छा समझा।

स्पष्टत:, ऐसी ही भावना से प्रेरित होकर लेफ़्टिनेंट-गवर्नर किशनचंद ने दोनों ही से शिकायत कर दी कि राष्ट्रपति भवन के बाहर जो धरने दिये जा रहे हैं उनसे निबटने में वह बिलकुल लाचार हैं। कहा जाता है कि उन्होंने झुँझलाकर कहा, "मैं क्या करूँ, गृह-मंत्रालय के सेक्रेटरी सुनते ही नहीं। मुखर्जी कहते हैं कि इन लोगों को हटाने से क्या फ़ायदा; प्रधान मंत्री की कोठी के बाहर भी तो हर वक़्त भीड़ जमा रहती है। वह कहते हैं कि ये लोग (विपक्ष के लोग) वहाँ बहुत समय तक नहीं रहेंगे, और फिर राष्ट्रपति भी तो आजकल यहाँ नहीं हैं।"

इन धरनों में हिस्सा लेने वालों को हटाने के लिए लेफ़्टिनेंट-गवर्नर को गृह-मंत्रालय से सलाह-मशविरा करने की कोई ज़रूरत नहीं थी। यह उनके अधिकार-क्षेत्र में था। लेकिन विपक्ष के प्रमुख नेताओं के खिलाफ कोई कार्रवाई करने से पहले वह हमेशा या तो गृह-मंत्रालय से सलाह कर लेते थे या उनको सूचना दे देते थे। मालूम नहीं लेफ़्टिनेंट-गवर्नर ने गृह-मंत्रालय के सेक्रेटरी से बात की थी या नहीं, लेकिन ऐसा लगता है कि उन्होंने उसी दिन शाम को संजय गांधी को इस बात की सूचना ज़रूर दे दी थी कि गृह-मंत्रालय के सेक्रेटरी या तो टालमटोल कर रहे थे या वह कोई कार्रवाई करने को तैयार नहीं थे। रातोंरात २१ तारीख को राजस्थान के चीफ़ सेक्रेटरी एस० एल० खुराना दिल्ली बुलवाये गये। २२ तारीख को वह गृह-मंत्रालय के सेक्रेटरी नियुक्त कर दिये गये, एन० के० मुखर्जी पयटन-मंत्रालय में भेज दिये गये, और उसके कुछ ही समय बाद श्रीनिवासवर्धन ग्वालियर में राजस्व बोर्ड के अध्यक्ष बनाकर मध्य प्रदेश वापस भेज दिये गये, जहाँ से वह केंद्र में आये थे।

२५ तारीख को ११ बजे सुबह जब सिद्धार्थशंकर रे प्रधान मंत्री से मिले तो श्रीमती गांधी ने देश की हालत के बारे में उन्हें रिपोर्टों का एक पुलिंदा दिखाया। रे ने कहा, "प्रधान मंत्री का मूल्यांकन भी यही था कि कुछ करना ही पड़ेगा।"

उस वक़्त तो वह चले आये, लेकिन शाम को ४ बजे वह बहुत-सी किताबें और भारत का संविधान लेकर फिर वहाँ पहुँचे। उस वक़्त उन लोगों ने इमर्जेंसी के बारे में बातचीत की। "क्या क़ानून इसकी इजाज़त देता है?" प्रधान मंत्री ने रे से पूछा। उन्होंने जवाब दिया, "हाँ, क़ानून दूसरी इमर्जेंसी की इजाज़त देता है।"[4] इसके बाद वे दोनों राष्ट्रपति के पास गये; वह भी बहुत-सी रिपोर्टें देख चुके थे। वह पंद्रह मिनट में राज़ी हो गये। धवन का कहना है कि प्रधान मंत्री की कोठी पर उस वक़्त सिर्फ़ पी० एन० धर और गृह-मंत्रालय के सेक्रेटरी थे। इमर्जेंसी लागू करने का सुझाव देते हुए राष्ट्रपति के पास भेजने के लिए पत्र का मसविदा तैयार करना था। पत्र की दो लाइनें तैयार होती थीं; और फिर श्रीमती गांधी उन्हें पढ़ लेती थीं। उस दिन की इस घटना के बारे में सिद्धार्थशंकर रे का कहना

है कि "इसमें इतनी देर इसलिए लग रही थी कि हर पाँच मिनट के बाद संजय दूसरे कमरे से अंदर आकर कहता था, ज़रा एक मिनट के लिए आइये, और वह बाहर चली जाती थीं।" उस समय जो मुख्य मंत्री राजधानी में थे, या जो अपने-अपने राज्यों की राजधानियों में थे, उन्हें संजय टेलीफ़ोन कर रहा था, और हर बार वह अपनी माँ को उनसे बात करने के लिए बुला ले जाता था।

उस दिन शाम को साढ़े छः बजे तक कुछ उत्तरी राज्यों में चुने हुए घरों और दफ़्तरों में जल्दी-जल्दी टेलीफ़ोन किये जा रहे थे। हर जगह नमूना लगभग एक जैसा ही था। चीफ़ सेक्रेटरी, गृह-विभाग के सेक्रेटरी और पुलिस के इंस्पेक्टर-जनरल के घर पर टेलीफ़ोन की घंटी बजती—"मुख्य मंत्री ने आपको एक बहुत ज़रूरी मीटिंग के लिए बुलाया है।" मुख्य मंत्री के दफ़्तर में पूरी तरह गोपनीयता का वातावरण रहता। "देश में इमर्जेंसी लागू की जा रही है और विपक्ष के सभी लोगों को गिरफ़्तार कर लेना है। हर डिवीज़न के डी० आई० जी० को वायरलेस पर संदेश भेज दिया जाये कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्यों को और जनसंघ के ख़ास-ख़ास लोगों को पकड़ लिया जाये। अख़बारों को इसकी ख़बर न लगने पाये। सेंसरशिप लागू कर दी जाये। इन गिरफ़्तारियों के बारे में कोई भी ख़बर न छपने दी जाये।"

"यह सब क्यों हो रहा है, साहब?" कोई अफ़सर पूछता।

"क्योंकि ऐसी हालत पैदा हो गयी है जबकि सरकार की सभी संस्थाओं के लिए ख़तरा पैदा हो गया है और बड़े पैमाने पर विद्रोह भड़क उठने वाला है। अगर लोगों को गिरफ़्तार न किया गया तो हम लोग परिस्थिति को क़ाबू में नहीं रख पायेंगे। हर ज़िले के कलेक्टर और सुपरिंटेंडेंट-पुलिस को हिदायत भेज दी जाये कि वह अपने शहर में रहें और छुट्टी लेकर कहीं न जायें।"

भारत के हर ज़िले में फ़ौरन वायरलेस से संदेश भेज दिया गया। पुलिस विभिन्न अख़बारों के प्रेसों में गयी और कहीं-कहीं तो जो ख़बरें आयी थीं उनकी गैलियाँ तक नष्ट कर दीं ताकि सुबह कोई अख़बार न छपने पाये। संपादकों ने टेलीफ़ोन करना शुरू किया। सबसे ऊपर के तीन-चार अफ़सरों को छोड़कर न पुलिस को पता था, न प्रशासन में किसी को पता था कि क्या हो रहा है। ज़िलों में या राज्यों की राजधानियों में जिन लोगों का भी इन कार्रवाइयों से संबंध था उनमें से कोई भी उस रात नहीं सोया।

प्रधान मंत्री की कोठी से राष्ट्रपति के पास पत्र का जो मसविदा भेजा जाने वाला था वह बिलकुल तैयार हो चुका था। उसके बाद गृह-मंत्री ब्रह्मानंद रेड्डी ने उस पर हस्ताक्षर किये। रात को ११ बजकर २० मिनट पर राष्ट्रपति ने अपनी मंज़ूरी दे दी और इमर्जेंसी" लागू हो गयी।

केंद्रीय मंत्रिमंडल के सदस्यों को भी नहीं मालूम था। मिसाल के लिए, उस दिन चह्वाण बहुत रात गये तक काम करते रहे। उस दिन शाम को रामलीला मैदान में विपक्ष की विशाल रैली में जयप्रकाश नारायण और दूसरे लोगों ने जो भाषण दिये थे, उनका ब्यौरा टेलीप्रिंटर पर आ रहा था; वह उसी को पढ़ रहे थे। उन्हें ठीक से तो नहीं मालूम था कि जयप्रकाश नारायण ने क्या कहा था, लेकिन जितना भी पता चल सका था वह काफ़ी ख़तरनाक मालूम हो रहा था। उन्हें बड़ी बेचैनी-सी होने लगी। सुबह साढ़े चार बजे टेलीफ़ोन की घंटी बजी। एक अनजानी आवाज़ ने कहा: "क्या मैं श्री चह्वाण से बात कर सकता हूँ?"

"मैं चह्वाण बोल रहा हूँ।"

"मैं सिर्फ़ यह जानना चाहता था कि आप घर पर हैं या नहीं," उस आवाज़ ने कहा और टेलीफ़ोन नीचे रख दिया।

उसके बाद चह्वाण को नींद नहीं आयी। सुबह ५ बजे गृह-मंत्रालय के सेक्रेटरी का टेलीफ़ोन आया और उन्होंने कहा कि सुबह ६ बजे कैबिनेट की मीटिंग होगी। इसके थोड़ी ही देर बाद एक और टेलीफ़ोन आया, इस बार उनके किसी दोस्त का, जिसमें जयप्रकाश नारायण की गिरफ़्तारी की सूचना दी गयी। इसके कुछ ही मिनट बाद मोरारजी की गिरफ़्तारी के बारे में टेलीफ़ोन आया। फिर चंद्रशेखर के बारे में। सुबह ६ बजे जिस वक़्त चह्वाण प्रधान मंत्री की कोठी पर पहुँचे, उन्हें गिरफ़्तारियों के बारे में तोमालूम हो चुका था—उससे ज़्यादा और कुछ नहीं।

जब श्रीमती गांधी ने अपनी सरकार के मंत्रियों को देखा, जिन्हें इस तरह बे-वक़्त आधी नींद से जगवाकर जल्दी-जल्दी वहाँ बुलाया गया था, तो उस समय वह स्वाभाविक रूप से बहुत गंभीर थीं। उन्हें उन लोगों पर इतना भरोसा नहीं था कि जो क़दम उन्होंने उठाया था उसके बारे में पहले उनसे सलाह कर लेतीं। उन्हें यह समझाने में दस-पंद्रह मिनट लगे कि उन्होंने किस वजह से देश में इमर्जेंसी लागू कर दी है। स्वर्णसिंह ने श्रीमती गांधी को नहीं बल्कि गृह-मंत्रालय के सचिव को संबोधित करके बहुत नरमी के साथ पूछा कि क्या इसके बिना काम नहीं चल सकता था। कोई और नहीं बोला। उनके मन में सन्नाटा छा गया था। उस वक़्त चह्वाण टकटकी बाँधे उस औरत को देख रहे थे जिसने इस दौर के संघर्षों और उतार-चढ़ावों के बीच उनका नेतृत्व किया था, जिसके साथ कई बार उनका टकराव भी हुआ था पर जिसके प्रति वे निष्ठावान भी रहे थे, उस वक़्त उन्हें ऐसा लगा कि जसे किसी ने अचानक उन्हें "अंधकार की एक अंतहीन सुरंग में ढकेल दिया हो...।"

उन्हें कुछ भी पता नहीं था कि उससे पिछली शाम को प्रधान मंत्री की कोठी पर क्या कुछ होता रहा था—कौन-कौन वहाँ मौजूद था और किस तरह फ़ैसला लिया गया था। लेकिन उस सारी हलचल के बीच संजय के व्यवहार से उन लोगों को, जो उस वक़्त वहाँ मौजूद थे, इस बात का संकेत मिल गया था कि क्या होने वाला है। वह मुख्य मंत्रियों को यह हिदायत भेजने की कोशिश कर रहा था, कम-से-कम उत्तरी राज्यों के उन मुख्य मंत्रियों को जिन्हें वह अच्छी तरह जानता था, कि वे हाईकोर्टों पर ताला डलवा दें और अख़बारों के दफ़्तरों की बिजली कटवा दें। रे का कहना है कि उन्होंने बड़ी सख़्ती के साथ इस बात पर विरोध प्रकट किया, दोनों के बीच काफ़ी झड़प हुई, और संजय चीख़कर कहने लगा : "आपको क्या मालूम कि देश का शासन कैसे चलाया जाता है...!"

टिप्पणियाँ

१. देशबंधु चित्तरंजन दास का देहान्त १९२५ में ५४ वर्ष की अवस्था में हुआ था। वह वकील थे और इन्दिरा के दादा मोतीलाल नेहरू के दोस्त थे। देशबंधु ने कांग्रेस के गया अधिवेशन की अंध्यक्षता की थी, जिसमें सरकार में शामिल होने के सवाल पर पार्टी में फूट पड़ गयी थी, देशबंधु और मोतीलाल नेहरू ने स्वराज पार्टी बनायी, जिसमें 'परिवर्तन न। चाहने वालों' की बजाय 'परिवर्तन के समर्थक' थे।

२. पचास-वर्षीया, रूपवती माया रे ने इंग्लैंड में शिक्षा पायी थी। उनके बोलने के ढंग में गहरा विलायती अन्दाज़ है, लेकिन इसके वावजूद भारत से उनका लगाव भी उतना ही गहरा है। स्थायी रूप से वह वकालत और सामाजिक कार्य में व्यस्त रहती हैं। राजनीति के वारे में वह कहती हैं, "मेरे पास हर वह चीज़ है जो मैं चाहती हूँ। मुझे उन चीज़ों का कोई लोभ नहीं है जिनकी वजह से दूसरे लोग राजनीति में आते हैं—प्रतिष्ठा और पैसा। मेरे पास वह पहले ही से है।" पिछले मार्च में पश्चिम बंगाल सहित पूरे उत्तरी भारत में जिस आँधी में कांग्रेस उड़ गयी उसमें उन्हें भी अपनी लोकसभा की सीट से हाथ धोना पड़ा।

३. "दुर्गाप्रसाद धर का जन्म एक सामंती परिवार में हुआ था और वह शाही मिजाज़ के आदमी थे, उन पर मार्क्स और नेहरू का प्रभाव था। उनका विशाल मित्रमंडल उन्हें प्यार से 'डी० पी०' कहता था। एक प्रशासक, कूट-नीतिज्ञ, समझौते की बातचीत, राजनीति और संसदीय कार्य में अत्यन्त शिष्ट तथा कुशल व्यक्ति के रूप में उन्होंने ख्याति पायी।" सत्तावन वर्ष की आयु में, जव वह सोवियत संघ में भारत के राजदूत थे और उनका पद मंत्री के पद के वरावर माना जाता था, १२ जून १९७५ को जव नयी दिल्ली में उनका देहान्त हुआ तो उनको श्रद्धांजलि अर्पित करते समय उनका वर्णन इन शब्दों में किया गया था।

एक कश्मीरी होने के नाते उन्होंने उन सभी आंदोलनों में भाग लिया था जिनके कारण कश्मीर भारतीय राजनीतिक घटनाक्रम का इतना महत्त्व-पूर्ण केन्द्र-विन्दु वन गया। जव श्रीमती गांधी ने पहली बार उन्हें राजदूत बनाकर मास्को भेजा, उस समय तक वह कश्मीर के हर मंत्रिमंडल में मंत्री रह चुके थे। वाद में वह केन्द्रीय योजना-मंत्री बनाये गये। १९३८ में नेहरू के साथ संपर्क डी० पी० के लिए एक निर्णायक मोड़ था।

४. दिल्ली में १५ नवम्वर को भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की जनरल कौंसिल के छप्पनवें अधिवेशन में इन्दिरा गांधी के भाषण से।

५. मोहन मानिकचन्द धारिया का जन्म १९२५ में नाटे (महाराष्ट्र) में हुआ था। वहुत छोटी उम्र में ही उन्हें ट्रेड यूनियन आंदोलन से दिलचस्पी हो गयी। वहुत वाद में जाकर १९६१ में वह कांग्रेस में शामिल हुए। वह वकील हैं। अर्थतंत्र के वारे में अपने दृढ़ विचारों के कारण वह एक युवा तुर्क वन गये और १९७१ में वह श्रीमती गांधी की सरकार में योजना राज्य-मंत्री वने। उन्होंने एक वार (वहुत वाद में) एक इंटरव्यू के दौरान मुझसे कहा था कि श्रीमती गांधी को किसी ठोस आर्थिक परिवर्तन में दिलचस्पी नहीं थी, और वह उन्हें जो नोट तैयार करके भेजते थे उन पर कभी कोई कार्रवाई नहीं की गयी। उनके अन्दर चाहे जितनी आग भरी हो, पर देखने में मोहन धारिया वहुत मृदु स्वभाव के लगते हैं।

६. टी० वी० कुन्ही कृष्णन्, चह्वाण ऐंड द ट्रबुल्ड डिकेड, (चह्वाण और संकट-ग्रस्त दशाब्दी), पृष्ठ १९४-९५। लेखक ने यह वात वहुत स्पष्ट रूप से कही है: "मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और मैसूर की कांग्रेसी सरकारों को रजवाड़ों से काफ़ी समर्थन मिल रहा था। श्रीमती गांधी इस सवाल पर हठ-धर्मी का रवैया अपनाकर रजवाड़ों का समर्थन खो देने को तैयार नहीं थीं। वह यह भी सोचती थीं कि रजवाड़ों का गुज़ारा-भत्ता बंद कर देने से स्वयं

अपने देश में और विदेशों में सरकार के दिये हुए वचन पर से लोगों का विश्वास उठ जायेगा। गुज़ारा-भत्ता फ़ौरन बंद कर देने के बारे में कुछ कांग्रेसी संसद-सदस्यों ने जो लिखित माँग रखी थी उससे वह और भी खीझ उठीं।"

७. नयी दिल्ली में १० अप्रैल १९७१ को फ़ेडरेशन ऑफ़ इंडियन चैंबर्स ऑफ़ कामर्स एंड इंडस्ट्री के चौवालीसवें वार्षिक अधिवेशन में इन्दिरा गांधी का उद्घाटन भाषण।

८. शहरी ज़मीन (हदबंदी तथा नियमन) अधिनियम १९७६, अंततः १७ फ़रवरी १९७६ को ग्यारह राज्यों तथा संघ क्षेत्रों में और वाद में छः और राज्यों में लागू हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य "शहरी ज़मीन का समाजीकरण कर देने की नीति को क्रियान्वित करना" है परन्तु इस क़ानून को लागू करने कि ज़िम्मेदारी हर राज्य पर है। क्रियान्वयन की प्रगति की समीक्षा करने के लिए राज्यों तथा केन्द्र के प्रतिनिधियों की एक केन्द्रीय समन्वय समिति वना दी गयी थी। कठिनाइयाँ दूर करने में सहायता देने के लिए केन्द्र ने कुछ मार्गदर्शक निर्देश जारी किये थे, जिनके वारे में उसने शीघ्र ही यह वात स्पष्ट कर दी थी कि "अधिनियम के प्रावधानों की परिधि के वाहर उनकी कोई क़ानूनी हैसियत नहीं है।"

९. मेरा ख़याल है कि यह वात पाकिस्तान के भूतपूर्व प्रधान मंत्री जुल्फ़िक़ार अली भुट्टो ने कही थी कि समझौते की वातचीत करने में उन्होंने अव तक सरदार स्वर्णसिंह से चतुर आदमी नहीं देखा, क्योंकि वह वड़ी नरमी से इस तरह वातचीत करते हैं कि उससे भ्रम होता है कि वह दूसरे पक्ष के साथ कुछ रिआयत करने को तैयार हैं, जिसमें वह ख़ुद किसी वात के लिए वचनवद्ध नहीं होते लेकिन दूसरे पक्ष को उम्मीद बँध जाती है।

श्रीमती इन्दिरा गांधी ने स्वर्णसिंह को १९६६ में रक्षा-मंत्री और फिर १९७० में विदेश-मंत्री वनाया। इमर्जेंसी के वाद उन्हें मंत्रिमंडल से हटा दिया गया क्योंकि उनके अनुशासित मन में भी महत्त्वाकांक्षा की लहरें उठने लगी थीं। वाद में कांग्रेस के प्रेसिडेंट ने जव संविधान में संशोधनों का सुझाव देने के लिए कमेटी वनायी तो वह उसके अध्यक्ष नियुक्त किये गये। संविधान में जो विवादग्रस्त संशोधन किये गये उनकी सिफ़ारिशें इसी कमेटी ने तैयार की थीं। उन्होंने एक इंटरव्यू में मुझसे कहा, "समाज की आवश्यकता को व्यक्ति के अधिकार से वढ़कर माना जाना चाहिए, यही इन प्रस्तावित परिवर्तनों का आधारभूत सिद्धांत है।" सरदार स्वर्णसिंह सत्तर वर्ष के हैं।

१०. कृष्णकांत पचास वर्ष के हैं। वह अमृतसर के रहने वाले, १९६६ से राज्यसभा के सदस्य और इस समय जनता पार्टी में हैं। वह कभी मंत्री नहीं रहे, लेकिन धारिया, चन्द्रशेखर तथा दूसरे लोगों के साथ मिलकर उन्होंने एक दल वनाया। वह छोटे क़द के हैं और चश्मा लगाते हैं। देखने में वह विलकुल उस सीधे-सादे किसान जैसे लगते हैं जो शहरी वन गया हो। वह भूमि-सुधार के विषय की विशेष जानकारी रखते हैं। पाँच वर्ष पहले उन्होंने एक इंटरव्यू में मुझसे जो वात कही थी वह लगभग एक भविष्यवाणी सिद्ध हुई: "कोई भी नौकरशाही शासनतंत्र कभी भी कोई भूमि-सुधार लागू नहीं कर सकता।"

११. केशवदेव मालवीय तिहत्तर वर्ष के हैं। वह कांग्रेस में एक अपेक्षाकृत पुराने समाजवादी हैं। उन्हें केन्द्रीय सरकार में जवाहरलाल नेहरू लाये थे।

१९६३ में केशवदेव मालवीय का सितारा डूब गया और १९७४ तक वह राजनीति से लगभग निर्वासित-से रहे, जब श्रीमती गांधी ने दुबारा उन्हें तेल तथा रसायन-मंत्री की हैसियत से अपने मंत्रिमंडल में स्थान दिया। वह बहुत छोटे डील-डौल के आदमी हैं, लेकिन मार्च के चुनाव में कांग्रेस के खिलाफ़ विद्रोह का शिकार हो जाने के समय तक उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ छोटी नहीं थीं।

१२. तिरेपन-वर्षीय के० वी० रघुनाथ रेड्डी वेल्लौर (आंध्र प्रदेश) के रहने वाले हैं और वह शांति सम्मेलन के रास्ते, विद्वत्ता के क्षेत्र के अपने सम्पर्कों के ज़रिये एक वकील की हैसियत से राजनीति में आये। १९६२ से वह लगातार संसद के सदस्य रहे हैं। पहले वह १९६७ में औद्योगिक विकास तथा कंपनी मामलों के राज्य-मंत्री बने और अन्ततः १९७३ में श्रम तथा पुनर्वास-मंत्री बनाये गये।

१३. के० आर० गणेश उन लोगों में से हैं जिन पर इमर्जेंसी के शीघ्र ही बाद कुठाराघात हुआ। वह १९७१ से १९७५ तक तेल तथा रसायन-मंत्रालय में राज्य-मंत्री थे। उन्होंने राजस्व तथा बैंकिंग के राज्य-मंत्री की हैसियत से तस्करों और ज़खीरेबाज़ों के खिलाफ़ जो मुहिम चलायी थी वह इमर्जेंसी के ज़माने का एक शानदार कारनामा था। उनका जन्म १९२२ में पोर्ट ब्लेयर में हुआ था; अभी उनकी उम्र इतनी थोड़ी है कि वह फिर राजनीति के मैदान में लौटकर आ सकते हैं।

१४. छप्पन-वर्षीय इतिहासकार नूरुल हसन १९७२ में शिक्षा, समाज कल्याण तथा संस्कृति के राज्य-मंत्री की हैसियत से राजनीति के क्षेत्र में आये। पहले कम्युनिस्ट रह चुकने के बावजूद रामपुर के नवाब-घराने से उन्होंने सम्बन्ध स्थापित करने में कोई संकोच अनुभव नहीं किया (नवाब की बहन से उनकी शादी हुई थी), और न ही विद्या के क्षेत्र से उनका पुराना सम्बन्ध उन्हें सत्ता की राजनीति के प्रलोभनों का शिकार होने से रोक सका। फिर भी स्वयं उनके कथनानुसार अपनी पिछली बुद्धिजीवी वृत्ति की याद उन्हें बहुत सताती थी। उन्होंने मुझसे कहा कि इमर्जेंसी से पहले या उसके दौरान श्रीमती गांधी के गिर्द जो राजनीति चलती थी उसके बारे में उन्हें कोई जानकारी नहीं थी। सत्ता के पद पर इतने वर्षों तक रहने के बाद उनकी बौद्धिक प्रतिभा कुछ कुंठित हो गयी है और उनके डील-डौल को देखकर संतृप्ति की स्थूलता का आभास होता है।

१५. बासठ-वर्षीय रजनी पटेल बहुत नामी वकील हैं और वामपंथी राजनीति के प्रति गहरी रुचि रखते हैं। चौथे दशक में वह फ़ीरोज़ गांधी और इन्दिरा के साथ लंदन में थे। कांग्रेस में उन्होंने अचानक बड़ी धूमधाम के साथ एक प्रमुख स्थान प्राप्त किया। बम्बई प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से वह बम्बई शहर के चौधरी बन गये और १९७३ के बाद से वह विशेष आमंत्रण पर कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की मीटिंगों में नियमित रूप से भाग लेने लगे।

१६. राममनोहर लोहिया यदि अपने जीवन के अन्तिम तूफ़ानी दिनों को पार कर गये होते तो अब ६७ वर्ष के होते। मूलतः वह 'राजनारायण' थे, अन्तर केवल यह था कि वह अपने अक्खड़पन को और अपनी किसी भी सनक को उस हद तक नहीं ले जाते थे कि वह हास्यास्पद हो जाये। नौजवान पीढ़ी के

सोशलिस्टों के लिए वह भाई के समान थे। दिल्ली के कॉफ़ी-हाउसों में वह जिन हंगामी बहसों के बीच अपना दरबार लगाते थे वे प्रेरणाप्रद भले ही न होती हों पर उनमें उकसाने की क्षमता अवश्य होती थी। लोहिया कभी अपने जीवन की विद्रोही अवस्था से बाहर नहीं निकल पाये, जिसकी बहुत बड़ी वजह यह थी कि वह समझते थे कि भारत में अब भी बहुत-कुछ ऐसा है जिसके खिलाफ़ विद्रोह करने की ज़रूरत है। वह आदर्शवादी थे, इस हद तक कि लगभग हर चीज़ के प्रति निराश हो चुके थे। उन्होंने नेहरू को और नेहरू के परिवार को भी, कभी इस बात के लिए माफ़ नहीं किया कि वे सारे देश के और शुरू में स्वयं उनके हीरो क्यों बन गये। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी या प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के सदस्यों पर कभी उतनी गहरी छाप नहीं लगी, जितनी कि उन लोगों पर जो स्वयं लोहिया के व्यक्तित्व से प्रभावित थे। लोहिया-सोशलिस्टों का अपना अलग ही एक दल था।

१७. रामकृष्ण सिन्हा सत्तावन वर्ष के हैं। वह फ़ैज़ाबाद के रहने वाले हैं, लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़े और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी तथा सोशलिस्ट पार्टी से सम्बन्धित रह चुके हैं। कांग्रेस के अन्दर सोशलिस्ट फ़ोरम की स्टीयरिंग कमेटी के सदस्य और १९६९ में फ़ोरम के राष्ट्रीय सम्मेलन के अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने प्रमुखता प्राप्त की। अपने वामपंथी विचारों के कारण वह उस दल में शामिल हो गये जिसने १९६९ में श्रीमती गांधी को प्रभावित किया। सिन्हा १९६७ में लोकसभा के सदस्य चुने गये। वह विदेशों की समस्याओं से खास दिलचस्पी रखते हैं।

१८. अमृत नहट्टा का किसी समय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्ध था, लेकिन बाद में वह कांग्रेस के इतने सक्रिय सदस्य बन गये कि १९६३-६६ में राजस्थान प्रदेश युवक कांग्रेस की सलाहकार समिति के और उसके साथ ही जोधपुर ज़िला कांग्रेस कमेटी के भी सदस्य रहे। अखिल-भारतीय शांति परिषद से उन्हें पुराना लगाव था और १९६९-७१ में वह उसके सेक्रेटरी बने। १९६७-७० में वह लोकसभा के सदस्य भी रहे। उनका जन्म १९२८ में बाड़मेर (राजस्थान) में हुआ था। उनके जीवन की पृष्ठभूमि में ऐसी कोई बात नहीं मिलती जिससे यह संकेत मिले कि वह आगे चलकर फ़िल्म बना सकते हैं, और वो भी **क़िस्सा कुर्सी का** जैसी बहु-चर्चित फ़िल्म, जिस पर इमर्जेंसी के बाद न केवल पाबंदी लगा दी गयी बल्कि जो ऐसा लगता है कि बिलकुल ग़ायब ही हो गयी—प्रिंट, निगेटिव, सब-कुछ। नहट्टा हिम्मत नहीं हारे हैं और एक दूसरी फ़िल्म बनाने की योजना तैयार कर रहे हैं—**क़िस्सा नसबंदी का**—जो शायद सिनेमा के पर्दे तक पहुँच सके।

१९. के० पी० उन्नीकृष्णन् का जन्म १९३६ में कोयंबतूर में हुआ था। वह अविवाहित पत्रकार हैं और राजनीति उनकी नस-नस में बसी हुई है। शुरू में वह लोहिया के साथ रहे, फिर उनसे मोह-भंग होने पर इन्दिरा गांधी के साथ आ गये। वह कांग्रेस के सोशलिस्ट फ़ोरम के भंग कर दिये जाने के समय तक उसके साथ रहे और राज्य सभा के सदस्य बने। वह बहुत चुस्त और फुर्तीले आदमी हैं, लेकिन आश्चर्य की बात है कि उनकी कुछ रुचियाँ ऐसी हैं जिनमें बहुत अधिक सक्रिय रहने की ज़रूरत नहीं पड़ती—ताश और शतरंज खेलना।

२०. पचपन-वर्षीय चिंतामणि पाणिग्रही उड़ीसा के एक लेखक तथा पत्रकार हैं

और १९५७ से १९६२ तक लोक सभा के कांग्रेसी सदस्य थे। १९६७ में वह फिर चुने गये। वह **प्रजातंत्र** और दैनिक **मातृभूमि** के संपादक रह चुके हैं। ऐसा लगता है कि उन्होंने अपनी जितनी कार्य-शक्ति समाज कल्याण के क्षेत्र में लगायी है उतनी किसी और काम में नहीं।

२१. शशिभूषण, उम्र उनचास साल, लशकर (मध्य प्रदेश) के रहने वाले हैं और १९७१ में दिल्ली से लोक सभा के सदस्य चुने गये। उससे पहले १९६७ से १९७० तक भी वह संसद के सदस्य रह चुके थे। वैज्ञानिक समाजवाद के बारे में, जिसकी वह क़द्र करते हैं, बड़े विस्तार से बात कर सकते हैं, और साथ ही समाजवादी सिद्धांत के साथ लोगों के यथासुविधा लगाव के बारे में भी, जिसके कारण उस सिद्धांत के कभी व्यवहार में पूरा हो सकने की संभावना एक मज़ाक बनकर रह जाती है। वह सक्रिय आंदोलन के रास्ते राजनीति में आये हैं। वह कई पुस्तकें लिख चुके हैं और सृजनात्मक साहित्य में अपनी रुचि के बावजूद उन्होंने संगठनात्मक काम करने की अपनी ख्याति बनाये रखी है।

२२. कांग्रेस फ़ोरम फ़ॉर सोशलिस्ट ऐक्शन को, जिसे 'जवाहरलाल नेहरू का आशीर्वाद' प्राप्त था, आम बोलचाल में सोशलिस्ट फ़ोरम कहा जाता था; वह कांग्रेस के अंदर वामपंथियों के एक दबाव डालने वाले दल के रूप में उभरा।

२३. कांग्रेस का फ़रीदाबाद अधिवेशन जो अप्रैल १९६९ में हुआ था। इस अधिवेशन में संगठन के वामपंथी तथा दक्षिणपंथी दलों के बीच परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के आधार पर विचारों का जो टकराव अंदर-ही-अंदर चल रहा था वह खुले में आ गया।

२४. नेहरू फ़ोरम की स्थापना १९७३ में सोशलिस्ट फ़ोरम के प्रभाव की काट करने के लिए कांग्रेस के अंदर एक दूसरे दल के रूप में हुई थी।

२५. कोडरदास कालीदास शाह ने, जो इस समय उनहत्तर वर्ष के हैं, १९३० में राष्ट्रीय आंदोलन के साथ महाराष्ट्र में राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया। वह पुराने ज़माने के आदमी हैं और दक़ियानूसी राजनीतिक विचार रखते हैं। आश्चर्य की बात है कि १९६७ में उन्हें सूचना तथा प्रसार-मंत्री बनाया गया और फिर तमिलनाडु का गवर्नर नियुक्त किया गया।

२६. बिहार के पचपन-वर्षीय भगवत झा आज़ाद मार्च १९६७-६९ में इन्दिरा गांधी के मंत्रिमंडल में शिक्षा के राज्य-मंत्री और १९६९-७१ के दौरान श्रम, रोज़गार, और पुनर्वास के राज्य-मंत्री रहे।

२७. बलिराम भगत भी पचपन वर्ष के हैं। वह १९३९ से कांग्रेस के कार्यकर्त्ता हैं। उन्होंने 'भारत छोड़ो' आंदोलन में भाग लिया और दो वर्ष तक अंडरग्राउंड रहे। वह १९५२ से लोक सभा के सदस्य और १९७१ तक केंद्रीय सरकार में किसी-न-किसी पद पर रहे, जब उन्हें इस्पात तथा भारी इंजीनियरी के मंत्री के पद से हटा दिया गया। बाद में वह लोकसभा के अध्यक्ष भी रहे।

२८. अड़सठ-वर्षीय जगन्नाथ राव को अपने ख़ाली समय में पढ़ने, ब्रिज खेलने और बाग़बानी का शौक है। उनकी पृष्ठभूमि एक पक्के कांग्रेसी की पृष्ठभूमि कही जा सकती है—पार्टी के सदस्य, ए० आई० सी० सी० के सदस्य, लोकसभा के सदस्य और उसके बाद अपनी योग्यता के अनुसार मंत्री। १९७० तक राव ने ये सारी सीढ़ियाँ पार कर ली थीं जब वह क़ानून और

समाज कल्याण के राज्य-मंत्री बने, लेकिन, जैसा कि धवन का कहना है वह वामपंथियों का शिकार हो गये।

२९. गोरे रंग के गोल चेहरे वाले किशोरलाल पेशावर के हिंदू पठान हैं। वह ट्रेड यूनियनों की राजनीति में आये और विशेष रूप से बैंकों की ट्रेड यूनियनों से संबंधित रहे। उन्होंने वामपंथियों से कभी कोई संबंध नहीं रखा। वह कांग्रेस के और दिल्ली कार्पोरेशन के सदस्य रहे और बुनियादी तौर पर प्रादेशिक नेता हैं। अब वह जनता पार्टी में हैं और मार्च के चुनाव में जीतने के बाद लोक सभा के सदस्य की हैसियत से उन्हें अपना राजनीतिक क्षेत्र अधिक विस्तृत करने का अवसर मिला है।

३०. गुलज़ारीलाल नंदा अब उन्यासी वर्ष के हैं। उन्हें दो बार अंतरिम प्रधान मंत्री बनने का निराशाजनक अनुभव हुआ है, क्योंकि इस रूप में उन्होंने उस स्वर्ग की झलक देखी जो कभी उनके हाथ न आ सका। कांग्रेस में उनके जीवन का आरम्भ उस ऐतिहासिक वर्ष में हुआ था जब १९२१ में महात्मा गांधी ने पहला असहयोग आंदोलन छेड़ा था; १९३२ में और १९४२-४४ में वह सत्याग्रह के सिलसिले में जेल गये और १९५२ के बाद से स्वतंत्र भारत में सत्ता के पदों पर रहे। वह लालबहादुर शास्त्री के मंत्रिमंडल में १९६४ से १९६६ तक गृह-मंत्री रहे। इसी ज़माने में उन सारे मामलों की जाँच हुई थी जिसका ज़िक्र किशोरलाल ने किया है। नंदाजी की इन्दिरा गांधी के साथ दरअसल कभी निभी नहीं और वह उनके मंत्रिमंडल में अधिक समय तक नहीं रह सके।

३१. उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत जो अब पाकिस्तान में है; इस प्रांत के लोग अपनी अडिग वफ़ादारी के लिए मशहूर हैं।

३२. अनंतप्रसाद शर्मा बिहार के रहने वाले हैं और इस समय अट्ठावन वर्ष के हैं। १९६८-७२ में वह बिहार प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। वह इमर्जेंसी के दौरान अचानक शिखर पर पहुँच गये। वह पहले तो उद्योग तथा नागरिक पूर्ति के राज्य-मंत्री थे और फिर अगस्त १९७६ से केवल उद्योग के।

३३. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय बारीसाल (बाँगला देश) में प्रोफ़ेसर थे। वह अभी केवल चवालीस वर्ष के हैं और १९७३ में केवल चालीस वर्ष की उम्र में वाणिज्य-मंत्री के प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त किये गये। अध्यापक का काम करने और कलकत्ता में एकाउंटेंट-जनरल के दफ़्तर में नौकरी के बाद यह सचमुच बहुत ऊँचा पद था। वह ठेठ बंगाली बुद्धिजीवी लगते हैं, परंतु वह वाणिज्य-मंत्रालय के काम में इतनी अच्छी तरह खप गये जैसे हमेशा से यही काम करते आये हों।

३४. कुलदीप नारंग पैंतीस-वर्षीय नौजवान उद्योगपति हैं। उनके दादा डॉ० गोकुलचंद नारंग देश के विभाजन से पहले पंजाब के नेता थे। नवयुवक नारंग की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा ने इमर्जेंसी से पहले और इमर्जेंसी के बाद पैसे के बल पर उन्हें सत्ता के केंद्रों तक पहुँचा दिया।

३५. बासठ-वर्षीय हरि रामचंद्र गोखले को राजनीति के क्षेत्र में श्रीमती इन्दिरा गांधी सीधे न्यायालय से लायी थीं। वह पहले वकालत करते थे और बाद में १९६६ तक बम्बई हाईकोर्ट के जज रहे। वह १९७१ में लोकसभा के सदस्य चुने गये और क़ानून, न्याय तथा कंपनी मामलों के केंद्रीय मंत्री

नियुक्त किये गये। इमर्जेंसी के बाद संविधान में जो संशोधन किये गये उन पर गुस्से की जो लहर उठी उसके प्रकोप से वह न बच सके और चुनाव में उनकी करारी हार हुई।

३६. एस० सी० ख़रे इलाहाबाद हाईकोर्ट के मुक़द्दमे के दौरान श्रीमती इन्दिरा गांधी के एक सीनियर वकील थे।

३७. जगपत दुबे रायबरेली में श्रीमती इन्दिरा गांधी के चुनावए-जेंट थे।

३८. उत्तर भारत में हिंदुओं की एक जाति है, जो मुग़लों के दरबार में मुंशी थे और उनके पहनावे, बोलचाल और खाने-पीने पर इस्लामी संस्कृति का गहरा प्रभाव है।

३९. ऑल पार्टी हिल लीडर्स कांफ्रेंस (सर्वदलीय पर्वतीय नेता सम्मेलन)।

४०. ए० आई० सी० सी० की केंद्रीय अभियान समिति १९७४ में बनायी गयी थी। इसके अध्यक्ष जगजीवनराम और सेक्रेटरी यशपाल कपूर थे। यशपाल कपूर ने इन्दिरा गांधी के शासन के दस वर्ष पूरे होने के उपलक्ष में गतिवान दशक के बहुमुखी प्रचार कार्यक्रम के लिए अपनी हमेशा जैसी संगठनात्मक प्रतिभा के साथ इसका इस्तेमाल किया।

४१. सत्तावन-वर्षीय ननी आर्देशिर पालकीवाला संविधान और टैक्स की समस्याओं से संबंधित मुकद्दमों के सुविख्यात वकील हैं। वह सुप्रीम कोर्ट में श्रीमती गांधी के चुनाव के मुक़द्दमे की पैरवी करने आये थे। जब इमर्जेंसी की घोषणा के बाद उन्होंने पैरवी करने से इंकार कर दिया तो इसके बारे में व्यावसायिक शिष्टाचार के प्रश्न उठाये गये।

४२. पी० एन० हकसर ने मुझे बताया कि उनका उस मसविदे से कोई संबंध नहीं था, जबकि धवन का कहना है कि हकसर ने यह मसविदा बोलकर खुद उनसे शार्टहैंड में लिखवाया था। गुजराल बिलकुल ही दूसरी बात कहते हैं।

४३. राधारमण का जन्म १९०४ में हुआ था और वह १९१९ में कांग्रेस में भरती हुए। १९४८ से १९५१ तक वह दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सेक्रेटरी और १९६९-७२ में उसके अध्यक्ष रहे। १९७७ के चुनाव तक वह दिल्ली मेट्रोपोलिटन कौंसिल के मुख्य कार्यकारी पार्षद रहे।

४४. कर्णसिंह का जन्म १९३१ में हुआ था। १९४९ में वह अपनी भूतपूर्व रियासत जम्मू तथा कश्मीर के रीजेंट नियुक्त किये गये। १९६५ से १९६७ तक वह गवर्नर रहे और १९६७-७३ में पर्यटन तथा नागरिक उड्डयन-मंत्री के रूप में केंद्रीय राजनीति में आये। वह स्वास्थ्य तथा परिवार नियोजन के मंत्री थे, पर इमर्जेंसी के दौरान वह हर विवाद से दूर रहने में सफल रहे।

४५. टाइम्स ऑफ़ इंडिया, १ मई १९७५।

४६. चिमनभाई मीराभाई पटेल का जन्म १९२९ में चिकोधरा (गुजरात) में हुआ था। चिकना-सुथरा चेहरा, आँखों पर ऐनक—लेकिन देखने में यह नहीं लगता कि विद्या के क्षेत्र से उनका इतना निकट संबंध रहा है। वह गुजरात विद्यापीठ (अहमदाबाद) में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर, सेंट ज़ैवियर्स कॉलेज (अहमदाबाद) में प्रोफ़ेसर और आर्ट्स फ़ैकल्टी के डीन, और अहमदाबाद में ही सरदार वल्लभभाई पटेल आर्ट्स एंड कॉमर्स कॉलेज के प्रिंसिपल रह चुके हैं। राजनीति के क्षेत्र में वह १९५४ के बाद से हैं। उनका मंत्रिमंडल टूटने के बाद उन्हें कांग्रेस के रवैये से इतनी निराशा

हुई कि उन्होंने किसान मज़दूर लोकपक्ष बनाया। वह जून १९७७ के चुनाव में हार गये।

४७. **एवरीमैंस वीकली**, ३ अगस्त, १९७४।

४८. वही, २२ जून, १९७४

४९. वही।

५०. **अमृत बाजार पत्रिका** के दिलीप गांगुली को २० दिसंबर, १९७४ को दिये गये एक इंटरव्यू में।

५१. लेखिका को **ह्वाट एल्स द सोशलिस्ट** शीर्षक एक निबंध से जार्ज फर्नांडीज़ की पृष्ठभूमि के बारे में बहुत-सी बातें मालूम हुईं। सचमुच, उनके पढ़ाई छोड़ देने, सोशलिस्ट पार्टी में शामिल होने, मज़दूर वर्ग को संगठित करने और अपना ध्यान ट्रेड यूनियन आंदोलन पर केंद्रित करने का इतिहास काफ़ी लंबा है। वह १९६७ में लोकसभा के सदस्य चुने गये और १९७३ में सोशलिस्ट पार्टी के चेयरमैन बने। १९७४ में जब उन्होंने रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल संगठित की, उस समय वह ऑल इंडिया रेलवेमेंस फ़ेडरेशन के अध्यक्ष थे और सरकार के भरपूर दमन का शिकार हुए। इमर्जेंसी के दौरान वह अंडरग्राउंड चले गये और उन पर बड़ौदा डायनामाइट षड्यंत्र कांड में मुक़द्दमा दायर किया गया। उनके एक मित्र ने, जो इस दौरान उनके साथ रहे, बताया : "जार्ज बिलकुल बच्चों की तरह है। अगर कोई बात उसके दिमाग़ में बैठ जाये तो वह उसे पूरा करके ही दम लेना चाहता है। हमने इस बात का पक्का प्रबंध कर लिया था कि किसी व्यक्ति को कोई हानि न पहुँचने पाये।" जब जनता पार्टी ने सत्ता की बागडोर अपने हाथ में सँभाली तो डायनामाइट कांड का मुक़द्दमा वापस ले लिया गया और फर्नांडीज़ केंद्रीय मंत्रिमंडल में शामिल किये गये। इस समय वह उद्योग-मंत्री हैं। वह अभी केवल सैंतालीस वर्ष के हैं, और उन्हें पहली बार शासनसत्ता का भार सँभालना पड़ा है। वह कहते हैं कि अपनी इस नयी भूमिका में वह बहुत अटपटा महसूस करते हैं।

५२. नेशनल रेलवेमेंस यूनियन में भाषण, अक्तूबर १९७३।

५३. मद्रास में २९ मार्च १९७४ को भाषण।

५४. **एवरीमैंस वीकली**, २२ मार्च १९७४।

५५. युवकों के नाम ९ दिसंबर १९७३ को जारी किया गया खुला पत्र।

५६. **एवरीमैंस वीकली**, २१ जून १९७४।

५७ ए० एम० ख़ुसरो सभ्य सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, बोलते बहुत अच्छा हैं और कविता तथा कलाओं से गहरा लगाव रखते हैं। १९७० से १९७४ तक वह इंस्टीच्यूट ऑफ़ इकनॉमिक ग्रोथ के डायरेक्टर थे; उसके बाद वह अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर नियुक्त हुए। प्रशासन के काम में व्यस्त रहने के बावजूद उनकी आर्थिक विश्लेषण की क्षमता मंद नहीं पड़ी है। उन्होंने अर्थशास्त्र के विषयों पर कई किताबें लिखी हैं।

५८. वी० के० आर० वी० राव धाराप्रवाह बोलते हैं और समस्याओं का गहरा मनन करते हैं; उनके विचारों में बड़ी व्यापकता है जो उनकी संगठनात्मक संकल्पनाओं के सर्वथा अनुकूल है। उनसठ वर्ष की उम्र में उनमें आज भी बेहद उत्साह है और यही कारण है कि दिल्ली में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उन्हें पिता के समान माना जाता है। वह दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकनॉमिक्स के संस्थापक

और पहले डायरेक्टर रहे और फिर इंस्टीच्यूट ऑफ़ इकनॉमिक ग्रोथ के संस्थापक और पहले डायरेक्टर बने। १९६७ में वह लोकसभा के सदस्य चुने गये और, बड़ी विचित्र बात है, परिवहन तथा जहाज़रानी के मंत्री बनाये गये! १९६९ से १९७१ तक जब वह शिक्षा-मंत्री रहे तो यह काम उनके स्वभाव के अधिक अनुकूल था, लेकिन वह इस नतीजे पर पहुंचे कि सरकारी सत्ता में इतने बंधन और सीमाएँ हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में भी अपने विचारों को लागू करना असंभव है।

५९. वी० के० आर० वी० राव तथा अन्य, **इनफ़्लेशन एंड इकनॉमिक क्राइसिस**, नयी दिल्ली, विकास पब्लिशिंग हाउस।

६०. जेरेमिआह नोवाक (अमरीकी पत्रिका **एशिया मेल** के स्तंभ लेखक), **द रोल ऑफ़ आई० एम० एफ़०, वर्ल्ड बैंक।** "इमर्जेंसी इकनॉमिक पैकेज—१", **टाइम्स ऑफ़ इंडिया**, १ जुलाई १९७७।

६१. अड़तालीस-वर्षीय सी-एच० हनुमंत राव ने १९६६-६७ में शिकागो यूनिवर्सिटी से अर्थशास्त्र में पी-एच०डी० के बाद की रिसर्च फ़ेलोशिप प्राप्त की थी। १९६१ से वह इंस्टीच्यूट ऑफ़ इकनॉमिक ग्रोथ से संबंधित रहे हैं और सितंबर १९७६ से उसके डायरेक्टर हैं। उन्होंने भारत में कृषि के विभिन्न पहलुओं के बारे में कई किताबें लिखी हैं।

६२. काले बाज़ार के अर्थतंत्र के बादशाह हाजी मस्तान धड़ल्ले से भारत के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों, प्रशासकों तथा अन्य नागरिकों की अपने यहाँ आवभगत कर चुके हैं। अंत में वह मीसा (आंतरिक सुरक्षा क़ानून) में गिरफ़्तार किये गये। जेल से छूटने पर वह सुधारवादी बन गये और इस क्षेत्र में अपने व्यापक अनुभव के आधार पर उन्होंने अपने अन्य मित्रों की सहायता से तस्करी का नाम-निशान मिटा देने का वचन दिया।

६३. सर्वमित्तर सीकरी पंजाब के एडवोकेट-जनरल थे; उसके बाद वह सुप्रीम कोर्ट में आये और १९७० में भारत के चीफ़ जस्टिस बने।

६४. जेरेमिआह नोवाक, **द रोल ऑफ़ आई० एम० एफ़०, वर्ल्ड बैंक।** "इमर्जेंसी इकनॉमिक पैकेज—२" **टाइम्स ऑफ़ इंडिया**, २ जुलाई १९७७।

६५. २३ अप्रैल, १९७३ को सुप्रीम कोर्ट के तीन जजों, जस्टिस ए० एन० ग्रोवर, जस्टिस के० एस० हेगडे और जस्टिस जे० एम० शेलात का हक़ मारकर जस्टिस ए० एन० रे भारत के चीफ़ जस्टिस नियुक्त कर दिये गये। उस समय यह प्रश्न उठाया गया था कि यह चुनाव करने का अधिकार किसे होना चाहिए? सुप्रीम कोर्ट के बार असोसिएशन का कहना था कि सुप्रीम कोर्ट के सामने जितने मुक़द्दमे आते हैं उनमें से साठ प्रतिशत में सरकार स्वयं एक पक्ष होती है, और इसलिए उसे अपनी पसंद के जज नियुक्त करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। लेकिन आगे चलकर उसने यह भी स्वीकार किया कि "सरकार का यह दावा कि जजों को चुनने का अंतिम अधिकार उसी को होना चाहिए, क़ानून की सत्ता के लिए इतना घातक सिद्ध न होता अगर सरकार पर यह भरोसा किया जा सकता कि वह केवल ऐसे जजों को चुनेगी जो अदालतों की व्यवस्था की स्वतंत्रता के पक्षधर हों...।" मुझे ऐसा लगता है कि जब तक जन-साधारण के राजनीतिक बोध में परिपक्वता नहीं आयेगी तब तक इसका आश्वासन नहीं होगा। संसद में अपने विशाल बहुमत के सहारे कांग्रेस स्वयं क़ानून को भी बदल सकती थी।

अजीव वात है कि भारत के भूतपूर्व विदेश-मंत्री मुहम्मद करीम छागला, जो इस प्रकार की आलोचना करने में सबसे आगे थे, जब बंबई हाई कोर्ट के चीफ़ जस्टिस नियुक्त किये गये थे उस समय वह ख़ुद तैंतालीस जजों का हक़ मारकर इस पद पर पहुँचे थे।

६६. राजनीतिज्ञ के लिए धाराप्रवाहिता कोई विलासिता नहीं वल्कि बुनियादी आवश्यकता है। डॉ० देवराज अस की दलीलों में तर्क के साथ ही संवेदनशील विश्लेषण भी होता है, जिसकी वजह से उनके मार्गदर्शन में कर्नाटक की राजनीति अत्यंत तनाव की स्थितियों में भी विस्फोटक रूप नहीं धारण करने पायी है। वासठ वर्ष की अवस्था में अव वह इतने व्यवहारकुशल और अनुभवी हो चुके हैं कि किसी भी स्थिति को अपने पक्ष में मोड़ना भली-भाँति जानते हैं। वह १९७२ में कर्नाटक के मुख्य मंत्री बने थे।

६७. ए० आई० सी० सी० ने दस-सूत्री कार्यक्रम अपने चुनाव मैनिफ़ेस्टो के एक अंग के रूप में २३-२५ जून १९६७ को स्वीकार किया था। उसका सबसे विवादग्रस्त सूत्र, जिसे उस ज़माने में क्रांतिकारी समझा जाता था, बैंकों का कारोबार करनेवाली संस्थाओं का सामाजिक नियंत्रण था, परंतु उसके दूसरे सूत्रों में से बहुत थोड़े सूत्रों को ही क्रियान्वित किया गया।

६८. मावलंकर हाल (नयी दिल्ली) में ५-६ मई १९७७ को ए० आई० सी० सी० के अधिवेशन में।

६९. प्रेमसागर गुप्ता सुबातू (शिमला) की पहाड़ियों के ठंडे इलाक़े के रहनेवाले हैं। उनका जन्म १९१९ में हुआ था। अपनी शिक्षा के दौरान अनेक परीक्षाओं में सर्वप्रथम रहने के बाद वह कम्युनिस्ट राजनीति के तूफ़ानी जगत में आये। पाँचवें दशक के दौरान वह कभी जेल में रहे और कभी अंडरग्राउंड रहे, जिसके बाद वह तेरह वर्ष तक नयी दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी के सदस्य रहे, ट्रेड यूनियनों की राजनीति में भाग लेते रहे, पार्टी की तरफ़ से कई बार विदेश गये और अंत में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की दिल्ली राज्य परिषद के सेक्रेटरी बने।

७०. मावलंकर हाल (नयी दिल्ली, ५-६ मई १९७७) में ए० आई० सी० सी० के अधिवेशन में।

७१. दिसंबर १९७४ में सोशलिस्ट पार्टी के कालीकट सम्मेलन के एक प्रस्ताव का अंश।

७२. ई० एम० एस० नांबूदिरीपाद का जन्म १४ जून १९०९ को केरल के पट्टांवि नामक स्थान में हुआ था। चालीस वर्ष बाद केरल की राजनीति पर इस घटना का काफ़ी असर पड़ा। ई० एम० एस० ने, उन्हें लोग इसी नाम से जानते हैं, सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लेने के लिए कॉलेज की पढ़ाई छोड़ दी और एक साल तक जेल में रहे। वह १९३५ तक कांग्रेस में रहे, जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संपर्क में आने के कारण वह क्रांतिकारी विचारों की ओर आकर्षित हुए। १९३७ में वह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य वने और उसके बाद से निरंतर उन्नति करते हुए १९५१ में पॉलिट ब्यूरो के सदस्य चुने गये। १९५९ में जब श्रीमती गांधी ने कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ वह जनव्यापी अभियान छिड़वाया जिसके फलस्वरूप वैध ढंग से निर्वाचित कम्युनिस्ट सरकार को इस्तीफ़ा देने पर मजबूर कर दिया गया, उस समय वही वहाँ के मुख्य मंत्री

थे। उस समय ई० एम० एस० ने श्रीमती गांधी के हथकंडों की आलोचना करते हुए जो कुछ कहा था वही बात श्रीमती गांधी की वैध ढंग से निर्वाचित सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए जयप्रकाश नारायण के हथकंडों के बारे में भी कही जा सकती है। उस समय उन्होंने कांग्रेस को ताना दिया था, "अगर विपक्ष (कांग्रेस) को इतना ही भरोसा है कि बहुमत सरकार के खिलाफ़ है तो उन्हें ऐसी जल्दी क्या पड़ी है। वे (अगले चुनाव तक) ढाई साल इंतजार कर सकते हैं जब उन्हें पूरा मौक़ा मिलेगा।" फ़र्क़ सिर्फ़ यह था कि नंबूदिरीपाद की सरकार एक राज्य की सरकार थी और इमर्जेंसी नहीं लागू कर सकती थी। उसे इस्तीफ़ा देना पड़ा।

७३. पीपुल्स डेमोक्रेसी, १२ जनवरी १९७५।

७४. अटलविहारी वाजपेयी अभी केवल इक्यावन वर्ष के हैं। इनका जन्म ग्वालियर में हुआ था और वह एक मँजे हुए वक्ता हैं। वह भावनाओं से ओत-प्रोत शब्दों का प्रयोग केवल इस हद तक करते हैं कि उनकी बात दूसरे के मन में बैठ जाये, सुनने वालों को भावनाओं के प्रवाह में वहा ले जाने के लिए नहीं। वह भारतीय जनसंघ के संस्थापक सदस्य हैं, लेकिन वह अपने बारे में यह धारणा पैदा करने में सफल हो गये हैं कि वह उतने कट्टर नहीं हैं जितना कि उनकी पार्टी की नीतियों तथा रवैये के आधार पर आम तौर पर समझा जाता है। अपनी कॉलेज की शिक्षा के दिनों में वह कांग्रेस के साथ संवद्ध थे। १९३९ में वह छात्र कांग्रेस में आये और १९४५ में कम्युनिस्टों के नेतृत्व में चलने वाले छात्र फ़ेडरेशन में। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान सोलह वर्ष की अवस्था में वह गिरफ़्तार हुए, लेकिन उसके पैंतीस वर्ष बाद इन्दिरा के भारत में उन्नीस महीने की जेल से उन्हें फिर भी एक आघात-सा लगा।

अटलविहारी वाजपेयी हिंदी के तीन दैनिक अखबारों के संस्थापक-संपादक हैं—**राष्ट्रधर्म**, **स्वदेशी** और **वीर अर्जुन**। १९५७ में वह जनसंघ संसदीय दल के नेता रहे हैं। केंद्र में जनता पार्टी की पहली सरकार में विदेश-मंत्री की हैसियत से उन्होंने विनोदप्रियता तथा शालीनता के अप्रत्याशित गुणों का परिचय दिया है।

७५. हैदराबाद में सितंबर १९७४ में भारतीय जनसंघ के सम्मेलन में पढ़े गये एक व्याख्यान से।

७६. अट्ठावन-वर्षीय नानाजी देशमुख का जन्म पुराने मध्यप्रांत में हुआ था। उन्होंने पिलानी में शिक्षा पायी। वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सक्रिय कार्यकर्ता थे जब १९५२ में भारतीय जनसंघ के संस्थापक सदस्य बने और १९६४ तक उत्तर प्रदेश जनसंघ के सेक्रेटरी रहे। १९६५ में वह केंद्रीय पार्टी के सेक्रेटरी बने, फिर उसके कोषाध्यक्ष और अंत में संगठन-सेक्रेटरी। इमर्जेंसी की घोषणा होने के बाद वह २६ जून को अंडरग्राउंड चले गये और अगस्त १९७५ में पकड़े गये। अब वह जनता पार्टी के जनरल-सेक्रेटरी हैं। पार्टी-संगठन में इतना महत्त्वपूर्ण केंद्रीय स्थान रखने के बावजूद वह चित्रकारी में रुचि रखते हैं।

७७. गुरदयालसिंह ढिल्लों का जन्म १९१५ में (अमृतसर के पास) पंजवई में हुआ था। वह वकील, पत्रकार और किसान सभी कुछ रह चुके हैं। उन्होंने १९३७ से १९४७ तक वकालत की; १९४७-५२ के दौरान उर्दू के अखबार

शेरे-भारत और पंजाबी के वर्तमान के प्रधान संपादक और नेशनल सिख न्यूज़ पेपर्स लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर रहे। स्वतंत्रता आंदोलन में वह दो बार जेल गये। ज़िला कांग्रेस कमेटी (अमृतसर) के अध्यक्ष से, विधानसभा के सदस्य, पंजाब विधानसभा में कांग्रेस पार्टी के चीफ़ ह्विप, डिप्टी स्पीकर और मंत्री के पद तक तो केवल एक क़दम था। लंबी छलाँग तो उन्होंने तब लगायी जब १९६७ में लोकसभा के सदस्य से १९६९-७१ में वह लोकसभा के स्पीकर बने। उसके बाद परिवहन तथा जहाज़रानी के केंद्रीय मंत्री बने।

७८. जयप्रकाश नारायण, **मेरी जेल डायरी**, दिल्ली, राजपाल एण्ड संज़, पृष्ठ १३।

७९. वी० आर० कृष्ण अय्यर का जन्म १९१५ में केरल में हुआ था। मद्रास यूनिवर्सिटी से उन्होंने क़ानून की परीक्षा पास की और १९५२ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के टिकट पर मद्रास विधानसभा के सदस्य चुने गये। १९५७ में वह केरल विधानसभा के सदस्य चुने गये और बाद में कम्युनिस्ट सरकार में क़ानून, गृह विभाग, समाज कल्याण और जेल के मंत्री रहे। १९५९ में जब कम्युनिस्टों को इस्तीफ़ा देना पड़ा तो उन्होंने केरल हाईकोर्ट में वकालत शुरू कर दी। १९६८ में वह जज, १९७१ में क़ानून आयोग के सदस्य और १९७३ में सुप्रीम कोर्ट के जज बने।

८०. उन्नीकृष्णन् को अभी तक याद है कि "एक दिन हम लोग साहित्य में अनुप्रास पर चर्चा कर रहे थे, और बरुआ को, जो शब्दों के स्वभाव से भली-भाँति परिचित हैं, अचानक यह वाक्य सूझा। बात बस इतनी थी। उन्होंने सोचा कि वह उपयुक्त समय पर इसे इस्तेमाल करेंगे।"

८१. निर्मलकुमार मुखर्जी छप्पन वर्ष के हैं और पंजाब के आई० सी० एस० हैं। वह १९६३ में छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास कमिश्नर की हैसियत से केंद्र में आये और १९६४ में गृह-मंत्रालय में ज्वाइंट-सेक्रेटरी बने। १९७१ में वह जम्मू-कश्मीर सरकार के चीफ़ सेक्रेटरी और १९७३ से १९७५ में इमजसी लागू होने से पहले तक गृह-मंत्रालय के सेक्रेटरी थे। लंबे क़द, नरम बोली, संगीत तथा कलाओं में रुचि रखने वाले मुखर्जी इस समय कैबिनेट-सेक्रेटरी हैं।

८२. टी० सी० ए० श्रीनिवासवर्धन, जो इस समय ५४ वर्ष के हैं, उस छोटी-सी अवधि को छोड़कर जब वह अपने राज्य मध्य प्रदेश में सरकार के सेक्रेटरी थे, लगभग बारह वर्ष केंद्रीय गृह-मंत्रालय में बिता चुके हैं। वह गृह-मंत्रालय में उस समय तक केंद्र तथा राज्यों के पारस्परिक संबंधों के विभाग में डिप्टी-सेक्रेटरी, ज्वाइंट-सेक्रेटरी और एडिशनल-सेक्रेटरी रहे जब तक कि श्रीमती गांधी ने उन्हें ग्वालियर में बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू का चेयरमैन बनाकर वापस मध्य प्रदेश नहीं भेज दिया। जनता पार्टी के सत्ता सँभालने के शीघ्र ही बाद वह गृह-मंत्रालय के सेक्रेटरी की हैसियत से फिर केंद्र में वापस आ गये और एन० के० मुखर्जी कैबिनेट-सेक्रेटरी बनाये गये, जिस पद पर उनकी नियुक्ति पहले भी होने की आशा की जाती थी।

८३. संभावित बाहरी खतरे से निबटने के लिए देश में इमर्जेंसी १९६२ से ही लागू थी।

८४. इमर्जेंसी संविधान के अनुच्छेद ३५२ के अंतर्गत घोषित की गयी थी, जिसमें कहा गया है : "यदि राष्ट्रपति संतुष्ट हों कि ऐसी गंभीर आपात-स्थिति

मौजूद है जिसके कारण युद्ध या ब़ाहरी आक्रमण या आंतरिक उपद्रव के रूप में भारत की सुरक्षा के लिए ख़तरा है तो वह उदघोषणा करके इस आशय का ऐलान कर सकते हैं।" इसकी धारा ३ में कहा गया है कि इस प्रकार की आपात-स्थिति का ऐलान "युद्ध या इस प्रकार के किसी आक्रमण या उपद्रव के घटित होने से पहले भी किया जा सकता है यदि राष्ट्पति को विश्वास हो कि इस बात का तात्कालिक ख़तरा मौजूद है।"

३. संजय के कारिंदे

"मैं २५ तारीख़ की रात को लखनऊ में ट्रेन पर सवार हुआ और सुबह ७ बजकर २५ मिनट पर दिल्ली पहुँच गया। हर चीज़ हमेशा की तरह थी। मैं एक टैक्सी लेकर घर आया। सड़कों पर सन्नाटा था, लेकिन स्टेशन पर टैक्सियाँ थीं। बस एक बात ज़रूर हुई थी कि ग़ाज़ियाबाद स्टेशन पर जहाँ मैं हमेशा अख़बार लेता था, उस दिन अख़बार नहीं मिला था। पहला काम मैंने यह किया कि सीधे साउथ एवेन्यू लेन में चंद्रशेखर के घर गया। वहाँ पता चला कि वह जयप्रकाश नारायण के साथ ही गिरफ़्तार कर लिये गये हैं। कितना धक्का पहुँचा मुझे। मैं सोचने लगा, उन्हें क्यों पकड़ा, वह तो कांग्रेसी थे। वह तो मेरी तरह थे। वह मेरी भाषा बोलते थे। मेरी कुछ समझ में नहीं आया कि क्या हो रहा है।"

चंद्रप्रतापनारायण सिंह पूर्वी उत्तर-प्रदेश में पडरौना राज्य के ४२-वर्षीय राजकुमार थे और विधायक रह चुके थे। वह उस दिन सुबह जब दिल्ली पहुँचे तो उनके मन में सिद्धांतों पर अटल रहने की सच्ची लगन थी और सचमुच वह राजनीतिक आदर्श की खोज में वहाँ आये थे। उनके दादा ने इतना नाम और पैसा कमाया था कि उन्होंने एक मुक़द्दमे में मोतीलाल नेहरू को वकील किया था; उनके बाप रफ़ीअहमद क़िदवई[1] के गहरे दोस्त और समर्थक थे। १९६९ में भारतीय क्रांति दल के सदस्य की हैसियत से उत्तर प्रदेश विधानसभा का चुनाव जीतकर उन्होंने चरणसिंह[2] की छत्रछाया में राजनीति में प्रवेश किया था। १९७१ में वह कांग्रेस में आ गये और नौजवान पीढ़ी के अधिकांश लोगों की तरह वह भी इन्दिरा गांधी के करिश्मे से मंत्रमुग्ध हो गये।

सी० पी० एन० सिंह दिल्ली में यह पता करने आये थे कि वह अपने राजनीतिक भविष्य को किस दिशा में मोड़ें।

इमरजेंसी का समाचार उन्हें इतना अचानक मिला था कि वह अपने उद्देश्य से विमुख भी नहीं हो सकते थे। २९ तारीख़ को ही वह मुहम्मद यूनुस से मिलने गये, जिन्हें वह लखनऊ से जानते थे।

"आप श्रीमती गांधी से क्यों नहीं मिलते ?" यूनुस ने उन्हें सलाह दी और मिलने का वक़्त तय कराने में उनकी मदद की।

३ जुलाई को सी० पी० एन० सिंह प्रधान मंत्री से मिले।

उनका जोश उबला पड़ रहा था लेकिन उन्होंने खरी-खरी बातें कीं। "हम

लोगों को आपसे बड़ी उम्मीदें हैं, लेकिन हालात को बदलना होगा। हमें जनता के सामने पार्टी का एक अच्छा, साफ़-सुथरा रूप पेश करना होगा।"

"कैसे ?" प्रधान मंत्री ने अचानक पूछा।

"सही ढंग से संगठन बनाकर, मंत्रियों और मुख्य मंत्रियों के काम का सही-सही मूल्यांकन करके और चुनाव में सही उम्मीदवारों को खड़ा करके। मैं दिल्ली की या पूरे भारत की राजनीति तो नहीं जानता, लेकिन उत्तर प्रदेश में तो निरी गुटबाज़ी है। और कमलापतिजी, बहुगुणा या के० सी० पंत[३] में से किसी एक के गुट में होना ही काफ़ी नहीं है। आप किसी जगह पर तभी पहुँच सकते हैं जब आपकी पीठ पर सभी का हाथ हो, लेकिन इसके लिए सबके चारों ओर मँडराते रहना पड़ता है। काम तो कोई कसौटी है ही नहीं।"

"इसे रोकना तो बहुत मुश्किल है," श्रीमती गांधी ने कहा था।

"वहाँ तो मैं कुछ कर नहीं सकता, मैं चाहता हूँ कि यहाँ कोई काम मुझे सौंप दिया जाये," सी० पी० एन० सिंह ने अपनी बात पूरी करते हुए कहा।

श्रीमती गांधी चुपचाप उन्हें देखती रहीं।

"आप कल संजय से मिल लीजिये," उन्होंने कहा।

"कांग्रेस के संगठन की बुनियाद का पतन उस वक़्त शुरू हुआ जब १९६९ में राधारमण को दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी का अंतरिम (एड-हॉक) अध्यक्ष बना दिया गया," दीपचंद शर्मा ने कहा। वह छप्पन वर्ष के बहुत स्वाभिमानी आदमी हैं, और संगठन को बनाना और सँभालना जानते हैं; पहले वह दिल्ली कार्पोरेशन में कांग्रेस विपक्ष के उपनेता थे और लगभग तीस वर्ष से ए० आई० सी० सी० के निर्वाचित सदस्य हैं। "चुने ठाकुर हुक्मसिंह गये थे, लेकिन मैं समझता हूँ कि प्रधान मंत्री की सलाह पर उन्हें हटा दिया गया, क्योंकि वह चौधरी ब्रह्मप्रकाश के आदमी थे।... १९६९ में असली परीक्षा की घड़ी आयी।...जो लोग श्रीमती गांधी के साथ थे उन्हें भी शक की निगाह से देखा जाने लगा।"

शुरू-शुरू में दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी के तीस निर्वाचित सदस्य थे। १९७३ तक यह संख्या बढ़कर पैंतालीस तक पहुँच गयी थी। दो साल बाद २४० सदस्य हो गये थे और सभी ऊपर से नामज़द किये हुए थे! इमर्जेंसी के बाद एच० के० एल० भगत[४], जो एड-हॉक अध्यक्ष थे, निर्माण तथा आवास-मंत्रालय के राज्य-मंत्री बना दिये गये, और उनकी जगह एक नये अध्यक्ष लाये गये—अमरनाथ चावला।[५]

"मुझे न तो किसी कामचलाऊ कमेटी का सदस्य बनने में कोई दिलचस्पी थी और न ही मैं लोकसभा की सीट के लिए कोशिश कर रहा था, लेकिन मैंने इस सारे मामले के बारे में प्रधान मंत्री को दो नोट लिखे कि संगठन के कोई चुनाव नहीं हो रहे हैं। मुझे कोई जवाब नहीं मिला," शर्मा ने कहा।

इसके बाद, डेढ़ ही महीने के अंदर उन्हें पता चला कि सहयोग न करने के कारण उनके खिलाफ़ 'कीचड़ उछालने की मुहिम' चलायी जा रही है। शर्मा ने सोचा कि अपनी स्थिति स्पष्ट कर दें। उन्होंने कहा, "जहाँ तक अकेले श्रीमती गांधी का सवाल है, वह देश में सबसे गतिवान व्यक्ति हैं।" लेकिन उन्हें बताया गया था कि दिल्ली के मामले वह नहीं देखती हैं।

"फिर कौन देखता है ?" उन्होंने पूछा।

जवाब मिला, "संजय से मिलिये।"

"सितंबर १९७५ में मुझे राजस्थान और उत्तर प्रदेश के कुछ ज़िलों में जाकर यह पता लगाने को कहा गया कि बीस-सूत्री कार्यक्रम को पूरा करने का काम कैसा चल रहा है। मैं जब लौटकर आया तो मैंने प्रधान मंत्री को दी जानेवाली अपनी रिपोर्ट में लिखा कि पैसे वाले स्वार्थी लोग भूमिहीन खेत-मज़दूरों को ज़मीन देने में बाधा डाल रहे हैं और क़र्ज़ों के रद्द कर दिये जाने के बाद कोई दूसरा ऐसा साधन नहीं है जहाँ से गाँव वालों को क़र्ज़ मिल सके। यह रिपोर्ट प्रधान मंत्री की कोठी पर पहुँचा दी गयी, लेकिन कोई जवाब नहीं मिला," दिल्ली के पुराने अनुभवी ५६-वर्षीय कांग्रेसी नेता शिवचरण गुप्ता[१] ने कहा, जिनकी संगठन में काफ़ी साख थी।

पंद्रह दिन बाद ग्रामीण बैंक स्थापित करने और भूमिहीन खेत-मज़दूरों को ज़मीन देने के सवाल पर विचार करने के लिए मुख्य मंत्रियों की एक मीटिंग बुलायी गयी। इससे शिवचरण गुप्ता को कुछ नैतिक संतोष भले ही मिला हो लेकिन उनका मनोबल नहीं बढ़ा, क्योंकि वह केवल अटकल ही लगा सकते थे कि इसमें शायद उनकी रिपोर्ट की वजह से कोई सहारा मिला हो। पी० वी० नरसिंह राव[२] के कांग्रेस के जनरल-सेक्रेटरी के पद से हटने के बाद, इस तरह की रिपोर्टें मँगाने का सिलसिला भी खत्म कर दिया गया। विभिन्न राज्यों से कांग्रेस के प्रमुख लोगों के लिए निमंत्रण आते रहे, लेकिन ऑल-इंडिया कांग्रेस कमेटी ने इसके लिए कोई सुविधा नहीं दी। या तो कार्यक्रमों की समीक्षा करने के लिए उन्हें 'ठीक' लोग नहीं मिल सके, या फिर इन दौरों के लिए पैसा देने में मुख्य मंत्रियों के स्तर पर कोई अड़चन पैदा हो गयी। लेकिन उस वक़्त तक यह विचार नहीं पैदा हुआ था कि सबसे निचले स्तरों पर काम करने के लिए युवक कार्यकर्त्ताओं की मदद ली जाये।

गुप्ताजी का कहना है, "इसके बाद मैंने गंदी बस्तियों की सफ़ाई के लिए कई चिट्ठियाँ लिखीं। सिर्फ़ एक ही चिट्ठी की प्राप्ति-सूचना मिली, वह भी प्रधान मंत्री के सेक्रेटेरियट के एस० हैदर की तरफ़ से। यहाँ तक कि इससे संबंधित मंत्रालय तक को इस मामले पर विचार करने के लिए कोई समय नहीं था। मैंने प्रधान मंत्री से प्रार्थना की कि वह मुझे मिलने के लिए कुछ समय दें। कुछ भी नहीं हुआ। फिर मैं मंत्रालय में गया—कोई नतीजा नहीं। आखिरकार जब मैं यह समझ गया कि ये मामले संजय देख रहा है तो मैं उसके पास गया...।"

जुलाई १९७६ में मांट्रियल के ओलंपिक खेलों में भाग लेने के लिए भारतीय खिलाड़ियों का जो दल जा रहा था, वायु-सेना के प्रधान एयर-मार्शल ओ० पी० मेहरा उसके नेता थे। एक महीने पहले, जब हाकी के खिलाड़ी जा रहे थे, एयर-मार्शल मेहरा उनको प्रधान मंत्री से मिलाने के लिए ले गये। उनसे मिल चुकने के बाद यह सुझाव दिया गया कि ये लोग संजय गांधी से भी मिल लें।

"ज़रूर," एयर-मार्शल ने हामी भरी।

नौ-सेना के एक रिटायर्ड प्रधान इस संभावना के बारे में बातचीत करने के लिए प्रधान मंत्री से मिलना चाहते थे कि क्या उन्हें कोई दूसरा काम दिया जा सकता है। प्रधान मंत्री के बजाय उन्हें संजय गांधी से मिलने का वक़्त दिया गया।

"हमारे पास अभी तो आपके लायक़ कोई काम है नहीं," संजय ने एडमिरल से कहा, "लेकिन जब भी आप दिल्ली आयें तो मिलते रहिये। शायद आगे चलकर कुछ निकले।"

"अगर आप उससे मिलते रहें तो बहुत अच्छा रहेगा," प्रधान मंत्री की कोठी के एक खास आदमी ने उन्हें चुपके से सलाह दी।

चंद्रजीत यादव ने बताया, "मैं संजय से इन्दिराजी के साथ उस समय मिला जब बहुगुणा के इस्तीफ़े के बाद नारायणदत्त तिवारी को उत्तर प्रदेश का मुख्य मंत्री बनाने की बात चल रही थी।"

"तिवारी को मुख्य मंत्री और शीला कौल को प्रदेश कांग्रेस कमेटी का प्रेसिडेंट बनाने के बारे में आपका क्या ख़याल है ?" प्रधान मंत्री ने पूछा।

"शीलाजी के ख़िलाफ़ तो तीन बातें हैं," यादव ने कहा, "एक तो वह ब्राह्मण हैं, दूसरे वह आपकी मामी हैं—यह बात उनके ख़िलाफ़ जायेगी—और वह बहुत लोगों को जानती भी नहीं।"

"और तिवारी ?"

"वह मंत्री तो अच्छे थे, लेकिन वह नेता अच्छे नहीं हैं। वह कुछ अजीब गोल-मोल ढीले-ढाले आदमी हैं। हम लोग विधानसभा में साथ-साथ काम कर चुके हैं। हम दोनों विपक्ष में थे, मैं हमेशा कुछ विचारों की बुनियाद पर बहस करता था—वह कभी ऐसा नहीं करते थे।"

"नहीं, नहीं, वह बहुत अच्छे रहेंगे," संजय बीच में बोल उठा।

प्रधान मंत्री चंद्रजीत यादव से सहमत थीं। जब फ़ैसलों का ऐलान किया गया तो शीला कौल तो अध्यक्ष नहीं बनायी गयीं, लेकिन तिवारीजी मुख्य मंत्री बन गये।

"क्या आपको यह अंदाज़ा था कि उस वक़्त संजय किस स्तर पर और किस हद तक काम कर रहा था ?" मैंने चंद्रजीत यादव से पूछा।

"था क्यों नहीं," उन्होंने जवाब दिया, "हम सभी लोग जानते थे। मुख्य मंत्री लोग उससे मिलकर आने के बाद हममें से एक-एक को बताते थे कि उसने क्या कहा और क्या-क्या हुआ।"

"आपकी राय में वह कौन-सा मौक़ा था जिसके बाद से दक्षिणपंथ की ओर साफ़ तौर पर एक मोड़ आया ?" मैंने राधारमण से पूछा।

"फ़ैसले के बाद। उससे पहले इस तरह की कोई बात नहीं थी। जिन कार्डधारी कम्युनिस्टों को वह ख़ुद लायी थीं उनसे उनके दिल में जो डर बैठ गया था, उसी की यह प्रतिक्रिया थी। उनकी मदद से ही १९६९ में वह जीत पायी थीं। उन्हीं की मदद से उन्होंने उत्तर प्रदेश को अपने क़ब्ज़े में रखा था। कम्युनिस्टों के बिना बिहार में वे टिक नहीं सकती थीं, और केरल में तो मिली-जुली सरकार थी ही... ।

"संजय गांधी अपने अलग विचार लेकर आया। उस लड़के को कोई अनुभव तो था नहीं, राजनीति की समझ भी नहीं थी। वह एक निजी कारखाने का मालिक था; उस पर अपने इसी अनुभव का भूत सवार था, और वह अपनी राय बहुत मज़बूती के साथ रखता था। घर पर हर वक़्त उसकी बातें और दलीलें सुन-सुनकर मुमकिन है श्रीमती गांधी पर भी असर पड़ता हो। वह ऐसी कट्टर तो हैं नहीं, उन्हें भी नये साँचे में ढाला जा सकता है।"

"क्या आप समझते हैं कि वह उसे थाह लेने के लिए इस्तेमाल कर रही थीं ?"

"सीधे-सीधे तो नहीं, लेकिन इतना मैं कह सकता हूँ कि वह नाखुश भी नहीं थीं।"

"आप तो पुराने तजुर्बेकार कांग्रेसी हैं, आपने संजय को दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सदस्यों और दिल्ली के राजनीतिज्ञों के सामने भाषण देने के लिए बुलाकर खास तौर पर उसे सामने लाने की कोशिश क्यों की ?"

"लड़का होनहार था। उसके विचार बहुत अच्छे थे। मुझे उसका पाँच-सूत्री कार्यक्रम पसंद था। मैं समझता था कि नेहरू परिवार के किसी भी नौजवान को पूरा मौक़ा दिया जाना चाहिए। इसलिए मैं उसे लाया। वह जो कुछ कहता था वह ठीक था। उसने कहा, नारेबाज़ी नहीं होना चाहिए, और काम पर ज़ोर दिया जाना चाहिए। लेकिन उसका काम करने का ढंग बहुत तीखा था, बात गले से उतरती नहीं थी।"

"क्या आप समझते हैं कि वह ख़ुद अपनी ताक़त क़ायम करने के लिए बुनियाद तैयार करना चाहता था ?"

"नीति के सवाल पर वह अपनी माँ से सलाह लिये बिना कोई काम नहीं करता था। जब कम्युनिस्ट हड़तालों को बढ़ावा देते थे तो वह कहती थीं, 'ये लोग हमेशा मेरा फ़ायदा उठाते हैं।' सबसे पहले उसे इसी तरह की बातों से शह मिली। ज़ैलसिंह[2] और दूसरे मुख्य मंत्रियों को कम्युनिस्ट-विरोधी लहर पैदा करने के लिए संजय ने ही टेलीफ़ोन किया था... ।"

जैसे-जैसे संजय की ताक़त बढ़ती गयी, संसद के कई सदस्य यह महसूस करने लगे कि इन्दिरा गांधी जान-बूझकर विचारधारा के क्षेत्र में एक संतुलन क़ायम करने की कोशिश कर रही हैं। चूंकि उनका नाम वामपंथी नीतियों के साथ जुड़ गया था, इसलिए संजय के विचारों से पूंजीवादी देशों को यह सोचने का प्रोत्साहन मिल सकता था कि इन्दिरा शायद अपनी प्राथमिकताओं में कुछ हेर-फेर करें। वे सोचते थे कि श्रीमती गांधी चारों ओर हर तरह के संकेत भेज रही थीं, यह मानकर कि संजय और उसके साथी जो कुछ कहते हैं उससे वामपंथी नाराज़ नहीं होंगे और साथ ही दक्षिणपंथियों को उम्मीद भी बँध जायेगी।

राज्यसभा की उत्साहमयी युवा सदस्या मार्गरेट आल्वा[3] ने कहा, "हममें से बहुत-से लोग यह महसूस करते थे कि हमें श्रीमती गांधी और संजय में से एक को चुनना होगा, हमें चुनने पर मजबूर कर दिया जायेगा, जिस तरह १९६९ में कर दिया गया था। लेकिन हमने सोचा कि हम अपने विचारों को अपने तक ही रखें, नहीं तो हमारे ऊपर संजय के खिलाफ़ होने की मुहर लग जायेगी। श्रीमती गांधी के बिना उसकी यह हैसियत हो ही कैसे सकती थी ? मेरे दिमाग़ में यही संघर्ष चल रहा था।"

जैसा कि मार्गरेट आल्वा ने खुद बयान किया, वह इन्दिरा गांधी की अंधी भक्त थीं। वह महसूस करती थीं कि १९६९ में उन्होंने संगठन की सत्ता से टक्कर लेकर नौजवान पीढ़ी के सामने एक चुनौती रखी थी। इन्दिरा ही थीं जिन्होंने पुराने नेताओं की गुटबंदी का डटकर सामना किया था, आम सदस्यों को अपनी प्रगतिशील नीतियों के पक्ष में कर लिया था, और कांग्रेस में उस नयी भावना का प्रतिनिधित्व करने लगी थीं जो उस समय तक मौजूद नहीं थी। इसी से प्रेरित होकर मार्गरेट उस समय कांग्रेस में आयी थीं। जैसा कि वह बताती हैं, वह १९७६ में दिल्ली आयीं "जिस वक़्त कांग्रेस को भरपूर चुनौती का सामना करना पड़ रहा था," और नौजवान पीढ़ी के दूसरे लोगों की तरह वह भी महसूस करती थीं

कि राजनीति में वे जो कुछ भी हैं, श्रीमती गांधी की बदौलत हैं। मार्गरेट आल्वा ने कहा, "श्रीमती गांधी में एक आकर्षण था, वह नौजवान थीं और न जाने कैसे वह हर आदमी में यह विश्वास जगा देती थीं कि अगर कोई उनके पास तक पहुँच जाये और उनका विश्वास प्राप्त कर ले, तो कुछ-न-कुछ होकर रहेगा।"

जुलाई १९७६ के आते-आते मार्गरेट आल्वा की समझ में यह नहीं आ रहा था कि वह किधर जायें। एक बार उन्होंने ओम महता[१०] से कहा था, "कम-से-कम हमें कुछ बताइये तो, हमें रास्ता दिखाइये। हमें क्या करना है ? क्या हम लड़ें ?" लेकिन न पार्टी ने कोई रास्ता दिखाया, और न प्रधान मंत्री ने। दक्षिण के कुछ मुख्य मंत्री बौखलाकर मार्गरेट के पास आने लगे।

वे कहते थे, "तुम तो दिल्ली में रहती हो, तुम जानती होगी। हम लोग संजय की वाहवाही करें या प्रधान मंत्री को खुश रखें ?"

संजय क्यों ?

प्रधान मंत्री के इस छोटे बेटे में, जिसका जन्म १४ दिसंबर १९४६ को हुआ था, ऐसी क्या खास योग्यता थी कि वह वामपंथियों का मुक़ाबला कर सके, जिनके बारे में श्रीमती गांधी को यह ख़तरा पैदा हो गया था कि वे सत्ता हथिया लेंगे !

वह दून स्कूल और सेंट कोलंबस में पढ़ा था, कुछ दिन वह लंदन में रोल्स-रायस के कारख़ाने में अप्रेंटिस भी रहा था। पढ़ने-लिखने से उसे ज़रा-भी रुचि नहीं थीं, बुद्धिजीवियों जैसी उसमें कोई भी बात नहीं थी, और आम लोगों की नज़र में वह एक बिगड़ा हुआ आवारा लड़का था जिसे लड़कियों का बहुत शौक़ था और जो मोटर का दीवाना था। कई बरसों के दौरान दिल्ली में उसके नाम के साथ कितने ही क़िस्से जुड़ गये। ऐयाशी और औरतों के बारे में कितनी शर्मनाक कहानियाँ थीं; तरह-तरह की हेरा-फेरी के, चोरी-छिपे लखनऊ या लंदन या कहीं भी चले जाने के क़िस्से सुनने में आते थे; पछताती हुई लड़कियों और उनके बिफरे हुए भाइयों के क़िस्से; इस तरह के क़िस्से कि सिर्फ़ मज़ा लेने के लिए कहीं किसी की मोटर उड़ा ली, कहीं राग-रंग की महफ़िल जमा ली। एक तरफ़ अगर इस तरह के क़िस्से थे कि वह किसी आलीशान होटल में शराब पिये हुए पाया गया तो दूसरी तरफ़ वह अपने मिस्त्री दोस्त अर्जुनदास[११] के अड्डे पर भी देखा जाता था, जहाँ वह बैठकर ट्रक ड्राइवरों और मोटर मेकैनिकों से गप लड़ाता था—उन लोगों के बीच बैठकर जो हर वक़्त मरने-मारने को तैयार रहते थे, जिनके बारे में आमतौर पर यह समझा जाता है कि उनका दिल सोने की तरह खरा होता है, लेकिन जैसा कि बाद में पता चला, उनके हौसले और ख़्वाब और भी सुनहरे थे।

अड़तीस-वर्षीय राज कौशिक[१२] उन लोगों में से एक हैं जिन्हें संजय का दाहिना हाथ समझा जाता था, वह इमर्जेंसी के दौरान बनायी गयी कार्यक्रम क्रियान्वयन समिति के सदस्य थे, और चंदा जमा करने के लिए आयोजित फ़िल्मी सितारों के कार्यक्रम **गीतों भरी शाम** के कर्त्ता-धर्त्ता थे, जिसके बारे में बाद में बहुत-से झगड़े पैदा हुए। वह बताते हैं, "मैं संजय से १९७१ में मिला था। मुझे उससे टिल्लू (के० एस० माखन, दिल्ली फ़्लाइंग क्लब के सदस्य और ऑनरेरी इंस्पेक्टर) ने मिलाया था। वह गुलाबी बाग़ की एक गैराज में काम कर रहा था। वह एक नौजवान, दुबला-पतला, ख़ूबसूरत-सा लड़का था। मुझे बड़ी शर्म आ रही थी। मैं सोच रहा था कि इतने बड़े परिवार का लड़का और इसे ऐसी जगह में इस तरह

काम करने में कोई झिझक नहीं होती, और एक हम लोग हैं कि अपना इतना वक़्त बर्बाद करते हैं। मैं उसे अपने समाजसेवा संगठन, विदूषक संघ का संरक्षक बनाना चाहता था। वह राज़ी हो गया। जब समय से पहले ही चुनाव कराने का ऐलान कर दिया गया तो मैं प्रधान मंत्री की कोठी पर गया। हमारे संगठन का किसी पार्टी से संबंध नहीं था लेकिन इन्दिराजी के 'ग़रीबी हटाओ' कार्यक्रम ने हमें बहुत प्रभावित किया था, और हम उसमें हाथ बँटाना चाहते थे। हम लोग संजय को कमलानगर ले गये। वह वहाँ भाषण देने लगा। इससे पहले कमलानगर में कभी इतनी भीड़ नहीं देखी गयी थी।"

मज़े की बात यह है कि १९७१ के चुनाव में संजय ने शशिभूषण के लिए भी काम किया। शशिभूषण का संबंध उस वामपंथी ग्रुप के साथ था जिससे बाद में चलकर संजय नफ़रत करने लगा था। शशिभूषण शहर के दूसरे छोर पर दक्षिणी दिल्ली से खड़े हुए थे। वहाँ संजय लड़कियों के लेडी श्रीराम कॉलेज के सामने एक टूटी-फूटी चाय की दुकान में अपने लँगोटिया यारों के साथ बैठकर भद्दे-भद्दे मज़ाक़ किया करता था और लड़कियों पर इतनी ढिठाई से फ़िक़रे कसता था कि एक दिन शशिभूषण के प्रचार-मैनेजर ने, जिसे वह 'चाचा' कहता था, उसे डाँट दिया। उस वक़्त वह कोई कच्ची उम्र का छोकरा नहीं था। वह पच्चीस साल का अच्छा-ख़ासा नौजवान था, मारुति लिमिटेड का मैनेजिंग डायरेक्टर था, वह उस कारखाने का मालिक था जिसमें जनता के लिए मोटरें बनने वाली थीं, जिसका सपना वह बचपन से देखता आया था और जो अब पूरा हुआ था।

सवाल यह है कि संजय ख़ुद इस तरह के शर्मनाक क़िस्सों के पीछे भागता था या ये शर्मनाक क़िस्से उसका पीछा कर रहे थे?

सबसे पहली बात तो यह कि मारुति तो एक ऐसी मुसीबत थी जो जान-बूझकर मोल ली गयी थी। उसकी मंज़ूरी एक ऐसी माँ ने दी थी जो यह महसूस करती थी कि वह अपने बेटे को व्यापार करने के उसके वैध अधिकार से वंचित नहीं रख सकती। इस कारखाने की योजना बहुत बड़े पैमाने पर बनायी गयी थी, जिसमें भारत के कुछ बहुत बड़े-बड़े उद्योगपतियों का पैसा लगा हुआ था। वाम-पंथियों की दलील यह थी कि अगर प्रधान मंत्री के बेटे की योजना के साथ बड़े-बड़े उद्योगपतियों और व्यापारियों का इतना गहरा संबंध होगा तो ज़रूरत पड़ने पर वह इन बड़े-बड़े इज़ारेदार घरानों के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई कैसे कर सकेंगी? लेकिन यह कुनबा-परवरी का सवाल तो अलग बात थी—सवाल यह है कि, मिसाल के लिए, हरियाणा के मुख्य मंत्री बंसीलाल ने उसे ज़मीन क्यों दिलायी और यह ज़मीन उसे किस तरह मिली? जब इस बात के बारे में भी संदेह था कि वह मोटर बनाने के लिए तकनीकी जानकारी रखने वाले काफ़ी लोग जमा भी कर पायेगा या नहीं, तो उसके नाम 'लेटर ऑफ़ इंटेंट' ही क्यों जारी किया गया? या मारुति राष्ट्र के बिगड़े हुए लाडले के हाथ का बनाया हुआ खिलौना होने वाला था?

तारकेश्वरी सिन्हा ने उन दिनों को याद करते हुए जब नेहरू प्रधान मंत्री थे, ज़ोर देकर कहा, "फ़ीरोज़भाई को इस बात की धुन थी कि उनके बेटे तकनीशियन बनें।" वह संजय के पिता को कितनी ही बार क्वीन विक्टोरिया रोड (अब डॉ० राजेंद्रप्रसाद रोड) वाले घर में अपने दोनों बेटों के साथ खेलते हुए देख चुकी थीं। यह घर उन्हें संसद-सदस्य की हैसियत से मिला था, और वह दिन में यहीं रहते थे और कभी-कभी तीन मूर्ति भवन से दूर, जहाँ सारा परिवार साथ

रहता था, वह रात को भी यहीं रह जाते थे। तारकेश्वरी सिन्हा कहती हैं, "एक माँ होने के नाते मैं इन्दिराजी का रवैया समझ सकती हूँ। वह महसूस करती होंगी, 'मैं उसे वह एक चीज़ भी देने से इंकार कर दूँ जो वह चाहता है?' मारुति के बारे में १९६८ से बहस चल रही है। हर बार जब उन्हें संसद में सवालों का जवाब देना पड़ता था तो वह वित्त-मंत्रालय से और दूसरे मंत्रालयों से रिपोर्टें मँगाती थीं। किसी भी विभाग की रिपोर्ट से यह संकेत नहीं मिलता था कि उस योजना में कोई गड़बड़ी है।"

१९७२ के एशिया व्यापार मेले में हरियाणा राज्य के पैवेलियन में मारुति मोटरकार के एक नमूने को (जो बिना इंजन के वहाँ रखा गया था) देखने के लिए हरदम भीड़ लगी रहने लगी। लेकिन दिसंबर १९७३ तक अरब देशों द्वारा तेल की क़ीमत बढ़ा देने की वजह से और नतीजे के तौर पर पेट्रोल के भाव बेतहाशा चढ़ जाने से मोटरकार उद्योग की प्रगति रुक गयी थी। मोटरों की माँग बहुत कम हो गयी, और मारुति भी, जो अभी पूरी तरह तैयार होने के कहीं निकट भी नहीं थी, ठप हो गयी। उसका सिर्फ़ एक ही नमूना दिखायी देता था, और वह शराब बनाने के कारखाने मोहन मीकिंग के शो-रूम में। यह मोटर मोहन मीकिंग के एक डायरेक्टर के पास थी—यह अकेली मारुति मोटर थी जो सड़कों पर चलती दिखायी देती थी, लेकिन इसमें भी हर वक़्त कोई-न-कोई ख़राबी पैदा होती ही रहती थी, या तो इंजन बहुत गरम हो जाता था या गियर टूट जाता था।

मैंने सोचा कि यह विषय इतना दिलचस्प है कि इसके बारे में मैं अपनी पत्रिका सर्ज में, जो अब **सर्ज इंटरनेशनल** है, एक लेख छापूँ। मुझे स्वयं भी इसके बारे में जानने की उत्सुकता थी। मैंने सोचा कि क्यों न मैं ख़ुद जाकर पता लगाऊँ कि मारुति और उसके बनाने वाले में कितना दम है। मैंने संजय से मिलने का वक़्त तय किया। मेरी रिश्ते की बहन आशा नारंग, जो बहुत अच्छी तस्वीरें खींचती हैं, एक और फ़ोटोग्राफ़र कांतिचंद्र सोनरेक्सा, एक मित्र सुदर्शन सेठ और मैं ५ मई को मारुति के कारखाने में गये।

सबसे पहले संजय ने हम लोगों को दिखाया कि यह मोटर चलती कैसे है। सेठ और सोनरेक्सा ने कारखाने को अंदर से जाकर देखने का फ़ैसला किया। सफ़ेद मारुति मोटर में आशा पीछे बैठी थी, मैं सामने बैठी थी और संजय गाड़ी चला रहा था। ज़ाहिर है, पहले उसने अपने कारख़ाने की मुख्य इमारत के चारों ओर उसे चलाकर दिखाया। वह तूफ़ानी रफ़्तार से मोटर चला रहा था, कभी पक्की सड़क पर, कभी देहात की कच्ची सड़क पर, और कभी झाड़ियों, गड्ढों और पत्थर की चट्टानों के पार। सुई १०० किलोमीटर प्रति घंटा की रफ़्तार बता रही थी। वह बहुत इतमीनान से बैठा हुआ था और मैं सहमी हुई दम साधे बैठी थी। आशा का भी यही हाल था। मारुति भी सड़क को इसी तरह जमकर पकड़े हुए थी, लेकिन वह शोर बहुत करती थी। संजय ने कहा, "शोर तो होगा, नहीं तो दाम बहुत बढ़ जायेंगे।" शुरू-शुरू में उसकी योजना थी कि इस मोटरकार की क़ीमत १३,००० रु० होगी। उसने बताया कि अब बाज़ार की मंदी और सामान की बढ़ती हुई क़ीमतों को देखते हुए वह २५,००० रु० से कम नहीं हो सकती। उसका इरादा था कि दिसंबर १९७५ तक रोज़ ५० मोटरें बनने लगेंगी, और अंत में उसका इरादा रोज़ २०० मोटरें बनाने का था। उसकी योजना थी कि इस कारख़ाने के पास ही मोटर की ज़रूरत का दूसरा सामान बनाने के

कारख़ाने भी लगाये जायेंगे, जिनमें कार्बुरेटर वनाने का कारख़ाना भी शामिल था। उसने कहा कि इसका पूरा इंजन यहीं का वना हुआ है, लेकिन जो भी देशी या विदेशी कार्बुरेटर भारतीय बाज़ारों से मिल सकते हैं वे उन्हीं को ख़रीदते हैं।

अंदर कारख़ाने में पाँच मोटरें पालिश की हुई विलकुल तैयार खड़ी थीं। इसका इंजन हाथ से ढाला जा रहा था और वड़ी-वड़ी मशीनें वेकार खड़ी थीं, क्योंकि मोटर की बॉडी वनाने के लिए साँचा नहीं था। संजय ने कहा, "मैं उसे हासिल करने की कोशिश कर रहा हूँ, लेकिन उसमें वक़्त लगेगा।" तव तक सव काम हाथ ही सें किया जा रहा था। जव हम लोग वहाँ से वापस आये तो मेरे मित्र सुदर्शन ने व्यंग्य से कहा, "हर मोटर ग्राहक की मर्ज़ी के मुताविक़ ख़ासतौर पर अलग से वनायी जायेगी।" लेकिन मंदी की वजह से मोटर उद्योग को दूसरी चीज़ें वनाने की भी इजाज़त दे दी गयी थी, और इसलिए सड़क कूटने के रोलरों और वसों की बॉडी पर भी मारुति का नाम दिखायी देने लगा।

देखने में तो यही लगता था कि संजय वहुत संजीदा नौजवान है। वह वड़ी नरमी और शिष्टता से वात करता था और अपने काम के वारे में जानता था। मैंने सोचा, लेकिन अगर उसे अपनी साख जमानी है तो उसे मोटर वनाकर दिखानी होगी। इसके कुछ ही समय वाद एक प्रमुख भारतीय साप्ताहिक पत्रिका में मारुति के वारे में एक वहुत वड़ा सचित्र लेख छपा। इसलिए मैंने अपनी पत्रिका में लेख लिखने का विचार छोड़ दिया। लेकिन मुझे ऐसा लगा कि हवा वाँधने के लिए प्रचार की मुहिम संगठित की जा रही है, हालाँकि ऐसा लगता था कि इस वात की सफ़ाई ही पेश करने की कोशिश की जा रही है कि मारुति अव तक वनकर तैयार क्यों नहीं हो सकी।

मई १९७५ तक मारुति लिमिटेड ने तकनीकी सलाह देने वाली कंपनी 'मारुति टकनिकल सर्विसेज़ प्राइवेट लिमिटेड' और ट्रकें तथा सड़क कूटने के रोलर वनाने वाली कंपनी 'मारुति हेवी वेहिकिल्स लिमिटेड' के साथ कुछ ऐसा पेचीदा वंदोवस्त कर लिया था, जिससे उसे ढेरों पैसा मिलने लगा था। एक व्यापारिक साम्राज्य वन रहा था और ज़ाहिर है कि उसका उद्देश्य पैसा कमाना था—हालाँकि दिल्ली से अट्ठारह मील दूर गुड़गाँव में इस दूर तक फैले हुए कारख़ाने को देखकर ऐसा नहीं लगा था। संजय वड़ी पावंदी से सुवह आठ वजे कारख़ाने चला जाता था और शाम को लौटकर आता था।

लेकिन मोटर का कहीं नाम-निशान नहीं था।

संसद में सवाल उठाये जा रहे थे और पार्टी के अंदर तनाव वढ़ता जा रहा था। श्रीमती गांधी के साथ टक्करें हुईं और खुले आम इस वात की चर्चा होने लगी कि संजय के पैसा वटोरने के इस खेल में परिवार के दूसरे लोग भी हाथ वँटा रहे हैं। इन्दिरा गांधी के राजनीतिक जीवन में पहली वार उनकी ख्याति पर पैसे का कलंक लग रहा था।

जो लोग संजय को निजी तौर पर जानते थे उनका मूल्यांकन उसके वारे में कुछ भी रहा हो, पर आम लोग तो यही समझते थे कि वह पैसा उड़ाने वाला एक ऐसा निकम्मा लड़का है जो अपनी माँ के पद का वेजा फ़ायदा उठा रहा है। इन्दिरा गांधी की इस वात के लिए निंदा की जा रही थी कि वह माँ की ममता के कारण उसकी हर वुराई की ओर से आँख मूँद लेती हैं, हालाँकि उस वक़्त तक इसी वजह से उन्हें माफ़ भी कर दिया जाता था। लेकिन ऐसी ख्याति लेकर कोई लोकतांत्रिक राजनीति की प्रतिस्पर्द्धा की दुनिया में क़दम नहीं रख सकता।

शायद संजय की माँ इसी कमज़ोरी को दूर करना चाहती थीं। तारकेश्वरी सिन्हा अपने उस विश्लेषण में, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, यह भी जोड़ सकती थीं कि 'वड़े दुःख की वात है कि वह अपनी मोटर नहीं वना सका। ख़ैर, कोई वात नहीं है। राजनीति में क़िस्मत आज़माने दो। मैं उसे काफ़ी समय नहीं दे पायी हूँ, लेकिन क्या इसका मतलव है कि मैं उसे यह दूसरी छोटी-सी चीज़ भी न दूँ जो वह चाहता है—थोड़ी-सी ताक़त ?' मारुति के झगड़े के अलावा, और उसके निजी जीवन के वारे में हर तरह की चर्चाओं के अलावा, आम लोगों को कुछ भी नहीं मालूम था कि संजय किस तरह का आदमी था, वह कैसे रहता था, क्या सोचता था और सवसे वढ़कर उसके आदर्श क्या थे। इमर्जेंसी की घोषणा के वाद केवल एक छोटी-सी अंतरंग मंडली थी जो यह जानती थी कि वास्तव में उसकी भूमिका क्या है। आम लोगों को वस इस वात का शक था कि परदे के पीछे वह धीरे-धीरे सत्ता अपने हाथ में लेता जा रहा है। इतने दिन वाद भी मोटर के वनकर तैयार न हो सकने के वारे में तो लोग तिरस्कार के साथ वातें करते ही थे, इसके अलावा एक दूसरी तरह की अफ़वाहों की भी भरमार थी। सेंसरशिप के वावजूद भारत से **वाशिंगटन पोस्ट** के संवाददाता लीविस साइमंस ने अपने अख़वार के लिए जो ख़वर भेजी थी उसकी राजधानी में हर तरफ़ चर्चा थी; उस ख़वर में यह कहा गया था कि माँ और वेटे के वीच कई वार झगड़ा हो चुका था और यह कि एक वार संजय ने एक दावत में अपनी माँ को, यानी प्रधान मंत्री को, छः तमाचे मारे थे।

यह इमर्जेंसी के डेढ़ महीने वाद अगस्त १९७५ की वात है।

इसी वीच संजय ने कहीं कहा कि वहुत-से पत्रकार ख़ासतौर पर उससे मारुति के वारे में मिलने गये थे, लेकिन किसी ने भी उसके वाद कुछ नहीं किया। मैंने सोचा कि सचमुच उसके वारे में कुछ करूँगी लेकिन अलग ढंग से। मैंने दुवारा मिलने के लिए समय तय किया। टेलीफ़ोन पर वह ख़ुद आया। मैंने उसे समझाया कि मैं मारुति के वारे में अव तक की पूरी जानकारी हासिल करना चाहती हूँ, लेकिन मैं अपने इंटरव्यू को ज़्यादा व्यापक वनाना चाहती हूँ—उसका विषय होगा, **मैन, मिथ एण्ड मारुति** (मारुति, उसे वनाने वाला, और उसके वारे में प्रचलित क़िस्से), और वाद में मैंने अपने लेख का शीर्षक यही रखा। इस वार मैं १ सफ़दरजंग रोड पर प्रधान मंत्री की कोठी पर गयी। ६ अगस्त का दिन था। मैंने कई सवाल पहले से लिख रखे थे और मैं अपना टेप-रिकार्डर साथ ले गयी थी। मैंने संजय से पूछा कि अगर मैं इंटरव्यू रिकार्ड कर लूँ तो उसे कोई एतराज़ तो न होगा। "विलकुल नहीं," उसने जवाव दिया। मैंने वे सवाल उसे पहली वार दिखाये थे। उनमें उसकी शराव पीने की आदत, अपनी माँ के साथ उसके संवंध, कांग्रेस, कम्युनिस्टों तथा जनसंघ के वारे में उसके विचारों से लेकर मारुति, राष्ट्रीयकरण और उन्मुक्त उद्यम तक सभी वातों के वारे में सवाल थे। उसके माथे पर शिकन तक नहीं आयी। जव हम लोगों ने वात करना शुरू किया उस वक़्त वह शांत भाव से, आत्म-विश्वास के साथ और प्रवाहमय ढंग से वोल रहा था, उसकी भाषा में किसी प्रकार का कोई संकोच नहीं था। लेकिन उसके विचार ? मैं जानती थी कि मेरे पास विस्फोटक सामग्री है।[१४]

संजय ने अपनी माँ की सरकार की नीतियों के ख़िलाफ़ और ख़ासतौर पर राष्ट्रीयकरण के ख़िलाफ़ वहुत-सी वातें कहीं। उसकी राय थी कि अगर सार्वजनिक क्षेत्र को रहना ही है तो वह निजी क्षेत्र के साथ प्रतिस्पर्द्धा करके

ही रह सकता है। उसने कहा, जहाँ भी वह इस मुक़ाबले में न टिक पाये, "वहाँ उसे अपनी मौत मर जाने देना चाहिए," और वह कंट्रोल हटाने के पूरी तरह पक्ष में था, उसने नौकरशाही और राजनीतिक पार्टियों के बारे में लगभग गाली-गलौज की भाषा में बातें कीं।

उसने कहा, "एक ही पार्टी—कांग्रेस—अगर हर जगह छायी हुई थी और उसे हटाया नहीं जा सका था तो इसकी बुनियानी वजह यह है कि विरोधी पार्टियाँ बहुत ग़ैर-ज़िम्मेदार हैं। मैं बहुत-से ऐसे लोगों को जानता हूँ जो कहते हैं कि देखिये हम कम्युनिस्ट तो हैं नहीं, इसलिए हम कम्युनिस्टों को तो वोट देंगे नहीं, रहीं बाक़ी पार्टियाँ तो वे सब बिलकुल निकम्मे लोगों का गरोह हैं, हम उन्हें भी वोट नहीं देंगे।"

शायद यह बात भी उसकी अपनी पार्टी का गुस्सा भड़काने के लिए काफ़ी नहीं थी, इसलिए उसने अपनी माँ के राजनीतिक सहयोगियों पर सीधा वार किया: "मुमकिन है कि कम्युनिस्टों में थोड़े-से कार्यकर्त्ता ऐसे हों जो सचमुच काम करते हों, लेकिन अगर आप कम्युनिस्ट पार्टी के लोगों को लें, उनके बड़े-बड़े नेताओं को—और उनको भी जो इतने बड़े नेता नहीं हैं—तो मैं नहीं समझता कि आपको उनसे ज़्यादा पैसे वाले या उनसे ज़्यादा भ्रष्ट लोग कहीं भी मिलेंगे।"

मैंने पहले से प्रचार करने के लिए यह इंटरव्यू यू० एन० आई०, पी० टी० आई० और रायटर्स को दे दिया। संजय ने २७ अगस्त को उसे सेंसर से मंजूरी भी दिलवा दी।

२८ तारीख़ तक भारतीय अख़बारों में एक शोर मच गया, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ताल ठोंककर मैदान में उतर आयी, अमरीका में नब्बे अख़बारों में इस इंटरव्यू के कुछ टुकड़े छपे और ब्रिटेन तथा योरुप के अख़बारों में इसे पहले संस्करण में छापा गया। मेरे पास दूतावासों से, हाई कमीशनों से, अख़बारों के दफ़्तरों से और बहुत-से दोस्तों के पास से सर्ज, जिसके लिए मूलतः यह इंटरव्यू लिया गया था, की प्रतियों के लिए टेलीफ़ोन आ रहे थे।

एक पत्रकार मित्र ने उत्साह से पागल होकर कहा, "इमर्जेंसी लागू होने के बाद से यह सबसे बड़ी ख़बर है। तुम्हें यह कैसे हाथ लग गयी?"

इसका राजनीतिक असर फ़ौरन हुआ। उस समय दिल्ली में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की मीटिंग हो रही थी। प्रधान मंत्री बाढ़ग्रस्त पटना शहर की हालत देखने गयी थीं। जैसे ही वह लौटकर आयीं, कम्युनिस्टों ने और कांग्रेस के अन्दर के वामपंथियों ने उन्हें घेर लिया और इसकी सफ़ाई माँगी। चारों तरफ़ हंगामा मच गया। उसी दिन रात को पौने नौ बजे प्रधान मंत्री के मुख्य सेक्रेटरी पी० एन० धर[२५] के आदेश से वह इंटरव्यू अख़बारों से वापस ले ली गयी। दूसरे दिन सुबह मुझसे बड़ी नरमी से लेकिन बड़ी दृढ़ता के साथ कहा गया कि मैं अपनी पत्रिका बिकने के लिए न भेजूँ। आधी रात को कलकत्ता से सिद्धार्थशंकर रे ने घबराकर धवन को टेलीफ़ोन किया कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के बारे में जो पैराग्राफ़ है वह निकलवा दिया जाये। धवन ने शुक्ला को टेलीफ़ोन किया और उन घटनाओं का पूरा सिलसिला शुरू हो गया जिनकी वजह से आख़िरकार अगले दिन संजय को अख़बारों में इसका खंडन छपवाना पड़ा। उसे एक बयान देना पड़ा जिसे पढ़ने से ही ऐसा लगता था कि उससे ज़बर्दस्ती माफ़ी मँगवायी जा रही है।

उस बयान में कहा गया था, "एक पूरी पार्टी के बारे में इतना व्यापक बयान

देने का मेरा कोई इरादा नहीं था। ज़ाहिर है कि स्वतंत्र पार्टी, जनसंघ और भारतीय लोकदल जैसी कुछ पार्टियों में इससे भी ज़्यादा धनवान लोग हैं और उनमें भ्रष्टाचार भी ज़्यादा है।" वह अपनी दृढ़ धारणाओं को पूरी तरह छोड़ने को तैयार नहीं था क्योंकि उसने यह भी कहा कि "मुझे गुस्सा इसलिए आया कि कुछ लोग, जो अपने को मार्क्सवादी कम्युनिस्ट कहते हैं और ऐसा जताते हैं जैसे वे दूसरों से वढ़कर हैं, सचमुच वहुत पैसे वाले हैं और ईमानदार भी नहीं हैं। मैं कम्युनिस्टों से सहमत नहीं हूँ, लेकिन मैं यह मानता हूँ कि उनके कार्यकर्त्ता वड़ी लगन से अपने ध्येय के लिए काम करते हैं और उसके लिए क़ुर्वानी देने को तैयार रहते हैं। हो सकता है कि वे किसी परिस्थिति का फ़ायदा उठाते हों, लेकिन भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने प्रगतिशील नीतियों का, खासतौर पर उन नीतियों का जिनका असर ग़रीवों पर पड़ता है, समर्थन किया है और उनके लिए तन-मन से काम किया है।

"हालाँकि उन्हें वदनाम किया गया और गालियाँ दी गयीं, लेकिन वे कई पार्टियों के महान गँठजोड़ के ख़िलाफ़, जनता मोर्चे के खिलाफ़ और इस तरह के दूसरी गरोहवंदियों के खिलाफ़ लड़े क्योंकि वे जानते थे कि ये लोग देश को हानि पहुँचा रहे हैं। मैं यहाँ भी साफ़ कह देना चाहता हूँ कि दूसरी वातों के वारे में भी मैंने जो कुछ कहा वह मेरे निजी विचार थे।"[१६]

यह कहने पर मजवूर किये जाने पर वह तिलमिला गया होगा।

उसी दिन तीसरे पहर मैं उससे मिलने गयी। उसका चेहरा उतरा हुआ था।

मैंने पूछा, "वह इंटरव्यू सभी राष्ट्रीय दैनिकों के डाक संस्करण में तो छप ही गया है, वह सारी दुनिया में छप चुका है। फिर मेरी पत्रिका को न विकने देने में क्या तुक है?"

उसने अफ़सोस तक ज़ाहिर नहीं किया। मैं नहीं समझती कि उसे इस वात की कोई विशेष चिंता थी कि मेरी पत्रिका को विकने से रोक दिये जाने की वजह से मुझे वहुत वड़ी रक़म का नुक़सान होगा—वदनामी होगी सो अलग। वह खुद अपनी वदनामी से परेशान था।

"नहीं, यह तो किया ही नहीं जा सकता," उसने कहा।

"क्या मैं किसी और से इसके वारे में नहीं पूछ सकती? यह तो विलकुल वेतुकी वात है।"

वह कुछ वेचैन-सा था। उसने अपना ग़ुस्सा दवाकर धीमे स्वर में कहा, "वरुआ और उनके लोगों के ज़रिये कोशिश क्यों नहीं कर देखतीं? वही लोग कुछ कर सकते हैं।"

ऐसा लगता था कि कांग्रेस में विभाजन रेखा विलकुल साफ़ खिंच गयी थी। संजय के विचारों में, जो अव सवके सामने व्यक्त किये जा चुके थे, सरकार की नीति की कड़ी आलोचना की गयी थी और वे उस नीति के ख़िलाफ़ थे। वामपंथी ग़ुस्सा होकर कह रहे थे कि संजय को ख़ुद सेंसर के और इमर्जेंसी के दौरान आचरण के नये क़ानूनों को तोड़ने के अपराध में मीसा के तहत सज़ा हो सकती है। हो सकता है कि इसी वात से डरकर श्रीमती गांधी ने उसे सफ़ाई देने पर मजवूर किया हो।

लेकिन प्रतिक्रिया उससे कहीं अधिक तीव्र हुई थी, जितनी कि उन्होंने महसूस की थी। अगर इसके ख़िलाफ़ सिर्फ़ भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने तूफ़ान उठाया होता तो शायद वह कभी हथियार न डालतीं। लेकिन ख़ुद उनकी पार्टी में ऐसे

लोग थे जो उन पर विश्वासघात का आरोप लगाकर उनकी निंदा करने को तैयार थे। इमर्जेंसी को लागू हुए अभी इतना समय नहीं हुआ था कि विरोध करने की शक्ति बिलकुल ही खत्म हो जाती; और न ही श्रीमती गांधी खुली टक्कर लेने के लिए पूरी तरह तैयार थीं।

वामपंथ के सिद्धांतवेत्ताओं पर सचमुच इसकी इतनी गहरी प्रतिक्रिया हुई कि उनमें से जो जिस हद तक ग़ुस्सा था उसके अनुसार उसने संजय को अमरीकी जासूसों का एजेंट, उनके हाथ का खिलौना या उनका पिट्ठू कहा। एक दल लगातार मेरी इसलिए निंदा करता था कि "मैं उसे एक मंच प्रदान करके राजनीतिक क्षेत्र में सामने लाने के लिए षड्यंत्र कर रही थी," दूसरा दल लगातार मेरी प्रशंसा करता था कि मैंने संजय के वास्तविक विचारों को सामने रखा और "स्वयं प्रधान मंत्री के बेटे के रूप में समाजवाद के घने अंधकार से निकलकर पूँजीवादी स्वतंत्रता में" पहुँचने के रास्ते की कुछ उम्मीद बँधायी। बम्बई और कलकत्ते के बड़े व्यापारियों के दूत मुझे सर्ज की एक प्रति के लिए एक सौ से पाँच सौ रुपये तक देने को तैयार थे।

पत्रिका को इस तरह बेचने का तो ख़ैर कोई सवाल ही नहीं था लेकिन मुझे इस पर बहुत हँसी आयी, क्योंकि उन्होंने कहा कि उन्होंने इंटरव्यू तो अख़बारों में पढ़ ली थी, लेकिन अपनी आँखों पर विश्वास करने के लिए वह उसका मूल प्रकाशन देखना चाहते थे। मुझे यह भी बताया गया कि कुछ व्यापारियों ने अख़बारों से यह इंटरव्यू काटकर शीशे में मढ़वा ली थी, जबकि कुछ और लोगों ने उसे दूसरे उद्योगपतियों के बीच बँटवाने के लिए किताब के रूप में छपवा लिया था।

ये तो एक ऐसी समस्या के साथ जुड़ी हुई छोटी-छोटी बातें हैं जिसका अर्थ बहुत गूढ़ था और जिसे यह कहकर टाला नहीं जा सकता था कि यह राजनीति के क्षेत्र में क़दम रखने वाले एक ग़ैर-ज़िम्मेदार नौजवान का आकस्मिक उद्‌गार था।

बुनियादी सवाल यह था कि क्या श्रीमती गांधी जानती थीं कि संजय आर्थिक नीति के बारे में क्या विचार व्यक्त करने जा रहा है?

हाँ, वह जानती थीं।

पहली बात तो यह कि खाने की मेज़ पर जो बहसें होती थीं वह इतनी खुलकर और एक-दूसरे को उकसाने वाली होती थीं कि परिवार के सभी सदस्यों को एक-दूसरे के विचार अच्छी तरह मालूम रहते थे। उनके जीवन का ढंग ऐसा नहीं था जैसा कि आमतौर पर संयुक्त परिवारों में होता है, जहाँ बहन के साथ भाई के सम्बन्ध इस तरह के नहीं होते कि उसे मालूम हो सके कि उसकी बहन के विचार पुरुषों और विभिन्न समस्याओं के बारे में क्या हैं, या बाप को लाज़िमी तौर पर अपने बेटे की सारी हरकतों का पता हो। गांधी-परिवार एक नये प्रकार का संयुक्त परिवार है, जिसमें परिवार का प्रधान, जो इस उदाहरण में एक माँ है, ऐसा नहीं होता कि सब लोग उससे डरें, जो परिवार के सदस्यों को खुलकर बातचीत करने, आपस में हँसी-मज़ाक करने, बहस करने, या एक-दूसरे से झगड़ा तक करने से रोकता हो। जब कांग्रेस के बाक़ी नेता और सारा देश श्रीमती गांधी से डरने लगा था, उस समय भी परिवार में वही पहले वाली बात रही।

इसके अलावा, संजय गांधी के मिज़ाज की भी बात थी। उसके बचपन की पृष्ठभूमि और उसके बाद के विकासक्रम से यही संकेत मिलता है कि नये-नये ढंग

की शरारतें, साहस और अपने मन की बात करना उसके स्वभाव का अभिन्न अंग थे। संजय की यह भी एक आदत है कि वह कोई बहुत ही चुभने वाली बात कहकर बहस में कूद पड़ता है। श्रीमती गांधी खुद एक बार की बात बताती हैं जब सामाजिक चहल-पहल में अपना सारा समय व्यतीत करने वाली एक महिला ने उन्हें डाँटा कि वह राजनीति में उलझे रहने के कारण अपने बच्चों की देखभाल के लिए काफ़ी समय नहीं देती थीं। संजय, जो उस समय छोटा ही था, पास ही खड़ा था। फ़ौरन अपनी माँ का पक्ष लेते हुए उसने गुस्से से उन महिला से कहा, "आप भी तो दिन भर ताश खेलती रहती हैं, आपका बेटा खुद मुझसे शिकायत कर रहा था।" एक पुराना नौकर, जो पंडित नेहरू को रोज़ शाम को कुछ समय निकालकर तीन मूर्ति भवन में नातियों के साथ खेलता हुआ देख चुका था, बताता है कि दोनों में से संजय हमेशा से ज़्यादा चंचल था। उसने संजय के शराब पीने के बारे में—कम-से-कम तीन मूर्ति भवन में—सारी अफ़वाहों को ग़लत बताया। वर्षों बाद जब दोनों लड़के बड़े हो गये थे और वही नौकर मेहमानों के लिए शराब लेकर जाता था और ट्रे लेकर संजय के सामने से गुज़रता था तो संजय कहता था, "यह तो बड़े भाई को दिखाओ।"

यशपाल कपूर, जिन्होंने दोनों लड़कों को दस और बारह बरस की उम्र से बड़ा होते देखा है, बताते हैं, "अगर राजीव से किसी बात के बारे में कह दिया जाता कि वह नहीं हो सकती तो वह मान लेता था। लेकिन संजय हमेशा बहस करता था।"

यह मान लेना तर्कसंगत लगता है कि संजय उस तरह का आदमी नहीं था जो अपने विचारों को छिपाता, बल्कि मारुति के बारे में भी जो बहसें होती होंगी उनमें वह एक व्यापारी की हैसियत से अपने अनुभवों के बारे में और उसके रास्ते में आने वाली अड़चनों के बारे में बातें करता होगा। संजय ने मेरी इंटरव्यू के दौरान अपने जो विचार व्यक्त किये वे एक ऐसे उद्योगपति के विचार थे जो सामाजिक समानता के अधिक व्यापक लक्ष्यों को या दूसरी समाजशास्त्रीय बारीकियों की ओर रत्ती-भर भी ध्यान दिये बिना केवल उपयोगिता और लाभ के आधार पर ही हर बात को उचित ठहराते हैं। उसके अनुसार इसके लिए सबसे उचित ढाँचा उनमुक्त कारोबार की व्यवस्था थी।

और केवल इतना ही नहीं। वह मल्टीनेशनल कंपनियों के भी पक्ष में था! बाद में किसी मौक़े पर उसने साठे से कहा था, "उनका होना अच्छा ही है। उनके साथ सहयोग से पैसा तो आयेगा।" लेकिन इसके साथ ही उसे भारत की आर्थिक स्थिति का ज़रा भी ज्ञान नहीं था। जब साठे ने उसे बताया कि देश में चालीस प्रतिशत लोग कंगाली का जीवन बिताते हैं और उन्हें चालीस रुपये की भी आमदनी नहीं होती—जिन आँकड़ों का खंडन संसद तक में नहीं किया गया था—तो संजय ने पलटकर बड़े दावे से साथ कहा, "यह आँकड़ा ग़लत मालूम होता है। मैं तो जब चारों ओर नज़र डालता हूँ तो मुझे कोई ऐसा नहीं दिखायी देता जो २०० रु० महीने से कम कमाता हो।"

बहुत कुछ ऐसी ही बात उसने अपने एक सहयोगी से कही थी—वह समझता था कि उत्तर प्रदेश के गाँवों में व्यापार ऊँटों पर होता है। साठे ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा, "श्रीमती गांधी ने सोचा होगा कि कुछ समय में उसे अनुभव हो जायेगा और तब वह आसमान के तारे भी तोड़ लायेगा।"

इन्दिरा गांधी को मालूम था कि संजय ने अपनी इंटरव्यू में क्या कहा था,

लेकिन उन्हें यह नहीं मालूम था कि उसने अपनी बात कितनी मज़बूती के साथ कही थी। उस समय उनकी यह योजना नहीं हो सकती थी कि उसे इस तरह सार्वजनिक क्षेत्र में सबके सामने लाकर वामपंथियों की टक्कर पर एक शक्ति के रूप में बढ़ावा दिया जाये। क्योंकि मैंने उसे अपने सवाल पहले से नहीं दिये थे, इसलिए उन पर पहले से अपनी माँ के साथ उसके बहस करने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। इंटरव्यू के बाद भी मैंने उसका टेप या उसकी टाइप की हुई प्रतिलिपि किसी भी समय प्रधान मंत्री के घर पर नहीं छोड़ी थी कि उसे अपनी माँ को दिखाने का मौक़ा मिला होता। लेकिन मुझे मालूम है कि उसने अपनी माँ को बताया ज़रूर था कि उसने इंटरव्यू में क्या कहा था, क्योंकि जब इंटरव्यू के दो दिन बाद ८ अगस्त को मैं उसे टाइप कराकर उसके पास ले गयी ताकि वह उसे देखकर अपनी मंजूरी दे दे और मैं उसे छपने के लिए दे सकूँ, तो उसने कहा: "मैंने ममी से बात की थी। हमें इसे ज़रा नरम करना होगा।"

इसलिए हमने उसके एक-एक शब्द पर, छोटी-से-छोटी बात पर फिर से विचार किया। इसमें दो घंटे लग गये और जब उसकी सारी तीखी बातें बिलकुल घिसकर सीधी कर दी गयीं तो मुझे बड़ी निराशा हुई। मैं वह टाइप की हुई प्रतिलिपि फिर वापस ले आयी और उसे दुबारा टाइप कराया। १२ तारीख़ को मैं उसे फिर उसके पास ले गयी और हम लोगों ने फिर उसे ध्यान से पढ़ा। यह वही 'नरम' रूप था जिससे इतनी सनसनी फैल गयी। लेकिन श्रीमती गांधी को अच्छी तरह मालूम था कि उसमें जो राय दी गयी थी उसका लहज़ा क्या है। सच तो यह है कि उसने उनके सामने उसका बहुत ही सजीव चित्र रखा होगा तभी तो उन्होंने यह कहा कि उसे 'ज़रा नरम' करना होगा।

यह घटना इमर्जेंसी के बाद की है। ज़ाहिर है कि योजना यह नहीं थी कि कम्युनिस्ट-विरोधी रवैया उनके बेटे के माध्यम से सामने लाया जाये। वह तो संयोग से ही ऐसा हो गया। शायद श्रीमती गांधी ने सोचा होगा कि संजय जो कुछ कहेगा उसकी ओर कोई इतना ध्यान नहीं देगा, या शायद उन्होंने थाह लेने के लिए ही उसे ऐसा करने दिया हो। लेकिन मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि जब उन्होंने देखा कि इस पर इतनी व्यापक प्रतिक्रिया हुई है, तो उनके मन में यह विचार पैदा हुआ कि यह वामपंथियों के बीच, जिन पर वह शक करने लगी थीं, गड़बड़ी पैदा करने का और देश के अंदर बड़े व्यापारियों को ख़ुश करने तथा पश्चिमी देशों के दबाव को कम करने का सबसे अच्छा तरीक़ा हो सकता है। जैसा कि उनके एक राजनीतिक साथी ने बहुत ही अच्छे ढंग से कहा है, "वह सिर्फ़ आज की बात सोचती हैं, कल की नहीं, और इसीलिए अलग-अलग समय पर उनकी अलग-अलग चालें एक-दूसरे की विरोधी मालूम होती है।" लेकिन यह चाल एक ओर तो उनके कामचलाऊ तरीक़े से पूरी तरह मेल खाती थी और दूसरी ओर समानांतर राजनीति की उनकी कार्य-शैली के विकास में उससे मदद मिलती थी।

अपने बेटे को न सिर्फ़ राजनीतिक क्षेत्र में बल्कि दक्षिणपंथी धारा के प्रतीक के रूप में आगे बढ़ाने की श्रीमती गांधी की योजना उनके जीवन का सबसे बड़ा जुआ और अपने-आपको सुरक्षित रखने की उनकी क्षमता का चरम रूप सिद्ध होनेवाली थी। उस समय तक वह अपनी समानांतर राजनीति राज्यों में और स्थानीय कांग्रेस संगठनों में चलाती आयी थीं। मुख्य संगठन में विचारधारा के स्तर पर यह राजनीति नेहरू फ़ोरम और सोशलिस्ट फ़ोरम के माध्यम से पनपती

रही थी। अब वह इस राजनीति को न सिर्फ़ अपनी सरकार में बल्कि खुद अपने घर में ले आयी थीं। उन्होंने सोचा था कि यह योजना बहुत अच्छी रहेगी क्योंकि इस तरह वह अपना क्रांतिकारी रूप बनाये रख सकेंगी, जो मैं समझती हूँ कि उन्हें बेहद पसंद है। लेकिन दाँव बहुत बड़ा था और वह बहुत पास खड़े होकर आग से खेल रही थीं। इस रणनीति की वजह से और संजय की वजह से पहली बार ऐसी स्थिति पैदा हो जाने वाली थी कि राजनीति स्तर पर जो कुछ हो उसकी चपेट में निजी तौर पर वह खुद भी आ जायें। वह पक्का इरादा कर चुकी थीं, लेकिन जिस तरह लड़ाई के दिनों में अँग्रेज़ करते थे, वह एक क़दम पीछे इसीलिए हटती थीं कि बाद में दो क़दम आगे बढ़ सकें। उन्होंने न सिर्फ़ संजय को अपनी बात वापस लेने पर मजबूर किया बल्कि पार्टी के जिन विभिन्न प्रतिनिधियों ने विरोध प्रकट किया था उनको उन्होंने आश्वासन दिया कि उनका सरकार की नीति में कोई परिवर्तन करने का विचार नहीं है।

उन्नीकृष्णन् कहते हैं, "हम लोग सचमुच विश्वास करते थे कि उनके विचार आधुनिक हैं, और एक बात में मेरी हमेशा से आस्था थी—उनकी धर्म-निरपेक्षता और उनके व्यापक दृष्टिकोण में, जिसकी वजह से हम दक्षिण के लोगों के मन में बहुत भरोसा पैदा होता था। हम समझते थे कि हमारे पास एक प्रतीक होगा जिसको आधार बनाकर हम लड़ सकते हैं। बस यहीं हम लोगों ने बहुत बड़ी ग़लती की। हम लोग गांधी और नेहरू की परंपरा में पले हुए लोग थे और हम समझते थे कि वह नेहरू की परंपरा की उत्तराधिकारी हैं।"

बिहार के नौजवान पत्रकार राजनीतिज्ञ धर्मवीर सिन्हा[17] ने, जो इंदरकुमार गुजराल और विद्याचरण शुक्ल दोनों ही के नीचे सूचना तथा प्रसारण के उप-मंत्री की हैसियत से काम कर चुके हैं, अपना अनुभव बताते हुए कहा, "मैं लगभग बिलकुल नक्सलवादी हो गया था, जब मैंने श्रीमती गांधी का नेतृत्व स्वीकार किया। हमारे जैसे लोगों के मन में गतिवान नेतृत्व के अंतर्गत परिवर्तन के प्रति बहुत गहरी आस्था रही है। मैं समझता था कि हिंसा से कोई परिवर्तन लाना संभव नहीं है। उन्होंने मूलगामी परिवर्तनों का न सही, पर कुछ बहुत बड़े परिवर्तनों का तो वादा किया ही था। महात्मा गांधी की क्रांति को खत्म करने में हमें पंद्रह वर्ष लगे थे। १९७१ के वादों को खत्म करने में हमें चार वर्ष लगे।"

उनके एक और निराश साथी ने कहा, "इन्दिराजी वैज्ञानिक समाजवादी नहीं हैं। उन्होंने उसे अपनी जान बचाये रखने का साधन बना लिया था।"

जब चंद्रजीत यादव मेरी इंटरव्यू के सिलसिले में उनसे मिलने गये तो उन्होंने उनसे साफ़-साफ़ पूछा, "ये विचार आपके थे या संजय के?"

"नहीं, मेरे नहीं थे, संजय के थे," उन्होंने जबाब दिया।

"उसने कांग्रेस की नीतियों के बुनियादी विचारों से हटकर कुछ विवादग्रस्त ढंग से अपने विचार व्यक्त किये हैं," चंद्रजीत ने बड़े आग्रह के साथ कहा, "क्या इसका मतलब यह नहीं निकाला जायेगा कि आप उन विचारों को स्वीकार करती हैं?"

"आप जानते हैं कि उसके विचार हम लोगों के विचारों से अलग हैं," श्रीमती गांधी ने जवाब दिया, "वह विचारक नहीं, काम करने वाला आदमी है।"

"आप उसे राजनीति में क्यों नहीं ले आतीं?" चंद्रजीत ने पूछा। "वह नौजवानों के बीच और गंदी बस्तियों में काम कर सकता है, ताकि वह कुछ

समझ सके, कुछ सीख सके।"

मैंने चंद्रजीत से पूछा, "जब आप जानते थे कि उसके विचार क्या हैं और आप उन विचारों को ठीक नहीं समझते थे तो फिर आपने यह सुझाव क्यों दिया ?"

चंद्रजीत यादव ने जो उत्तर दिया उससे बहुत-से रहस्यों पर से परदा हट गया—श्रीमती गांधी की खुश करने की इच्छा, उनके रवैयों के बारे में शंकाएँ, पार्टी की ज़रूरतों के खिलाफ़ जाने वाली निजी महत्त्वाकांक्षाएँ, सामयिक उपयोग के मूल्यांकन जिनका विचारधारा के तकाज़ों से टकराव होता था, और संजय का भविष्य बनाने के लिए परस्पर-विरोधी क़दमों का उठाया जाना, जिसकी वजह से एक ऐसी स्थिति पैदा हो गयी जिसके लिए कांग्रेस तैयार नहीं थी और जिसकी उसके नेताओं ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। चंद्रजीत ने बहुत शांत भाव से उत्तर दिया : "हम समझते थे कि हम उसे कुछ सिखा सकेंगे। हमें नौजवान लोगों की ज़रूरत थी। वह उनका केंद्र बन सकता था।"

अगर श्रीमती गांधी समझती थीं कि वह संजय को इस्तेमाल कर सकती हैं तो दूसरे लोग समझते थे कि वे उसे इस्तेमाल कर सकते हैं। श्रीमती गांधी उसे दक्षिणपंथी धारा का प्रतीक बनाना चाहती थीं। दूसरे नेता उसे अपनी सत्ता का साधन बनाना चाहते थे।

चंद्रजीत यादव के इस अविश्वसनीय सुझाव पर उस समय श्रीमती गांधी ने जो उत्तर दिया था वह लगभग बिलकुल एक झूठ जैसा था, "मैं नहीं चाहती कि संजय राजनीति में आये।"

स्पष्टतः चार बातें थीं जिनकी वजह से इन्दिरा गांधी ने इमर्जेंसी लागू करने का रवैया अपनाया। एक तो वह वामपंथी गुट से चिढ़ी हुई थीं, जिसके बारे में वह समझती थीं कि वह उन पर हावी होने की कोशिश कर रहा है और उनका यह डर बढ़ता जा रहा था कि ये लोग उन्हें हटा देंगे। दूसरे, वह संजय को दक्षिणपंथी प्रवृत्ति का केंद्र बनाने की राजनीति अपनाना चाहती थीं, ताकि उनकी साख पर कोई आँच आये बिना दोनों पलड़े बराबर हो जायें और संजय इतना शक्तिशाली हो जाये कि जनता पर अपना प्रभाव डाल सके। तीसरे, वह चाहती थीं कि वह अपने पद पर बनी रहें और विपक्ष के दबाव के कारण वह अपना पद छोड़ देने के जाल में न फँस जायें। और चौथे, उनकी यह धारणा थी कि वह आर्थिक सुधार के इतने काफ़ी कार्यक्रम लागू कर सकेंगी कि जनता संतुष्ट रहे।

अगर श्रीमती गांधी ने संजय की यह सब-कुछ कर सकने की क्षमता के बारे में ग़लत अंदाज़ा न लगाया होता तो वह अपनी इस योजना में सफल भी हो सकती थीं। जब सत्ता उनके हाथ में नहीं थी उस समय वह कहा करती थीं कि अपने बेटों को राजनीति में नहीं लाना चाहतीं। कुछ लोगों का कहना है कि बहुत बाद में जब उनके मन में यह विचार उठने लगा तो वह सोचती थीं कि अगर दोनों में से किसी को राजनीति में लाना ही है तो वह राजीव होगा। उसने इस तरह की कोई इच्छा व्यक्त नहीं की; वह इंडियन एयरलाइंस में अपनी पाइलट की नौकरी से ही बहुत खुश था। श्रीमती गांधी के चरित्र के निर्माण को जवाहरलाल नेहरू के विचारों का, महात्मा गांधी और रवींद्रनाथ टैगोर के विविध प्रभावों का सहारा मिला था। बचपन से ही वह राजनीति के क्षेत्र में आ गयी

थीं। यही उनकी वास्तविक शिक्षा थी जिसके सहारे उनके आचार-विचार में धीरे-धीरे प्रौढ़ता आयी। वह सत्रह साल तक अपने पिता के साथ सत्ता के बीच रही थीं और उनके पति भी राजनीति में थे। लेकिन जब उनके अपने बेटे संजय का सवाल आया तो उन्होंने उसे इन कसौटियों पर नहीं परखा।

संजय की पृष्ठभूमि में इस तरह की कोई बात नहीं थी, और न ही उसकी प्रवृत्ति इस ओर थी। संजय राजनीति के क्षेत्र में छुटे साँड़ की तरह घुसा। उसे ऊपर से थोपा गया था, और आते ही उसे मान्यता मिल गयी। १२ जून के बाद से वह राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में सीधे ही केंद्रीय मंत्रियों से निबटने लगा। उसका पहला ही अनुभव टकराव की राजनीति का था, कुछ तो उस समय की वजह से जब उसने राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया और कुछ स्वयं उसके अपने स्वभाव की वजह से। शायद श्रीमती गांधी ने सोचा हो कि यह राजनीति नहीं है। निश्चित रूप से यह आचरण राजनीतिक था भी नहीं।

संजय के एक साथी उन दिनों को याद करके बताते हैं, "राजनीति के बारे में, राजनीति के क्षेत्र के लोगों के बारे में, काम करने के ढंग के बारे में उसे कुछ भी पता नहीं था। उसे भारत के भूगोल की भी जानकारी नहीं थी। वह सचमुच यह तक नहीं जानता था कि गाँवों में लोग रहते किस तरह हैं। दिल्ली को वह अच्छी तरह जानता था—और हाँ, यह भी जानता था कि मिस्त्रियों की ज़िंदगी कैसी होती है।" सी० पी० एन० सिंह से श्रीमती गांधी ने संजय से मिलने को कहा था, और उन्होंने देखा था कि वह किस तरह इतना ताक़तवर बन गया; उनका कहना है, "लेकिन वह दूसरों की बात बड़े ध्यान से सुनता था और नयी बातों को जानना चाहता था। मुझे ऐसा लगा कि वह काम करना चाहता था और ग़रीबों की हालत सुधारना चाहता था। वह मेरी यह बात मानता था कि बहुत-सी ग़लतियाँ हुई हैं। मैंने कहा, ख़ुशामदी और चापलूस लोग ही सारा काम बिगाड़ते हैं। उसने यह बात मान ली। वह बहुत सीधा-सादा और खरा आदमी था, और..." इतना कहकर सी० पी० एन० सिंह कुछ झिझके।

"मोटी अक़्ल वाला?" मैंने पूछा।

"नहीं, बिलकुल नहीं। लेकिन समझ कुछ कच्ची थी।"

कच्ची समझ और सत्ता। कैसा घातक मेल था! सत्ता के ढाँचे पर उसने परदे के पीछे रहकर प्रभाव डाला था। लेकिन इसके लिए जनता के समर्थन की ज़रूरत थी। यह भी ग़ैर-राजनीतिक समस्याओं के ज़रिये मिल गया। इस मामले में भी श्रीमती गांधी का कहना ठीक ही था। संजय का काम राजनीतिक नहीं था। उसके दिमाग़ में इस बात का नक़्शा बिलकुल साफ़ था कि वह पहले दिल्ली में और फिर दूसरी जगहों में सड़कों को चौड़ा करने, बसों वग़ैरह की उचित व्यवस्था, सफ़ाई, शहर को सुंदर बनाने, गंदे पानी की निकासी की व्यवस्था, दूध के वितरण और दूसरी नागरिक सुविधाओं के सिलसिले में क्या करना चाहता है। उसके दिलचस्पी लेने से छोट-बड़े सभी अफ़सरों में एक हलचल-सी पैदा हो गयी, और वे सोचने लगे कि अगर कोई फ़ैसला प्रधान मंत्री के बेटे के स्तर पर ले लिया जाये तो गाड़ी आगे बढ़ सकती है। संजय राजनीति के क्षेत्र के लोगों, रेहड़ी वालों और आइसक्रीम बेचने वालों से लेकर पत्रकारों, व्यापारियों और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं तक सभी तरह के लोगों से मिलने लगा। जल्दी ही यह बात बिलकुल साफ़ हो गयी कि श्रीमती गांधी ने दिल्ली का इलाक़ा एक तरह से उसके हवाले ही कर दिया था। जो चीज़ साफ़ नहीं हुई वह यह थी कि इसके पीछे

क्या राजनीति थी। राजनीतिक तो इन्दिरा गांधी थीं, वह नहीं था। उनका पूरा इरादा था कि अगर ज़रूरत हुई तो वह संजय को समाज-सेवा के क्षेत्रों और समाज-कल्याण की संस्थाओं पर राजनीति का रंग चढ़ाने में मदद देंगी।

यह बात उस वक़्त फ़ौरन उभरकर सामने आ गयी जब अगस्त १९७५ में कार्यक्रम क्रियान्वयन समिति बनायी गयी। यह संस्था, जिसे बहुत-से अधिकार दे दिये गये थे, सरकारी संस्थाओं और स्थानीय राजनीतिक नेतृत्व के काम को समन्वित करने के लिए स्थापित की गयी थी। इस समिति के सदस्य दिल्ली के सभी बड़े-बड़े सरकारी अफ़सर थे—लेफ़्टिनेंट-गवर्नर, चीफ़ सेक्रेटरी, डिप्टी इंस्पेक्टर-जनरल पुलिस, दिल्ली कार्पोरेशन के अध्यक्ष, और दिल्ली विकास अधिकरण (डी० डी० ए०) के उपाध्यक्ष और बहुत-से दूसरे लोग। श्रीमती ताजदार बब्बर[१८] को छोड़कर, जिन्हें श्रीमती गांधी का नामज़द किया हुआ कहा जा सकता है, बाक़ी सभी लोगों के नाम संजय गांधी के सुझाव पर शामिल किये गये थे—अंबिका सोनी[१९], अजीतसिंह चड्ढा[२०], जे० के० जैन[२१], अर्जुनदास और राज कौशिक। सी० पी० एन० सिंह इसके ऑनरेरी सेक्रेटरी बन गये, लेकिन वह इन सबसे अलग ही रहे। नौजवान पीढ़ी के लोगों में अकेले वही ऐसे थे जिन्हें राजनीति का ठोस अनुभव था। संजय को यह भी मालूम था कि उनके नाम की सिफ़ारिश मुहम्मद यूनुस ने की थी। वह 'यूनुस चाचा' की इतनी अधिक इज़्ज़त करता था कि वह न तो सी० पी० एन० सिंह को चुटकियों में उड़ा सकता था और न ही उनके साथ बहुत सख़्ती से पेश आ सकता था। इस कमेटी में पुराने कांग्रेसियों में से बस दो ही आदमी थे—एक थे कमेटी के अध्यक्ष एच० के० एल० भगत और दूसरे चौधरी हीरासिंह[२२], जो कार्यकारी पार्षद थे और कार्पोरेशन में विकास का विभाग उनके ज़िम्मे था। ये दोनों ही उस वक़्त तक संजय को नहीं जानते थे, लेकिन जल्दी ही उनका सीधे उसके साथ संपर्क स्थापित हो गया। इस कमेटी का उद्देश्य था बीस-सूत्री कार्यक्रम के क्रियान्वयन पर निगरानी रखना और लोगों की शिकायतें सुनना।

यह कमेटी बनने के एक महीने के अंदर ही कुछ दूसरी विस्फोटक समस्याओं की ओर ध्यान दिया जाने लगा—झुग्गी-झोंपड़ियों को गिरा देने की ओर, जहाँ-तहाँ ग़ैर-क़ानूनी ढंग से बरसाती पौधों की तरह उग आने वाली वह टूटी-फूटी, बदसूरत, कामचलाऊ छप्परदार झोंपड़ियाँ जिनकी वजह से हिंदुस्तान के हर शहर में गंदी बस्तियाँ बस जाती हैं; और नसबंदी, यानी कीड़ों-मकोड़ों की तरह ग़रीब, भूखे और कमज़ोर बच्चों की पैदाइश को रोकने की ओर, जो प्रगति की रफ़्तार को आबादी के अनुसार तेज़ करने की कोशिशों को एक मज़ाक बनाकर रख देते हैं। अकेले दिल्ली में ही कई लाख लोगों को हटाकर किसी दूसरी जगह ले जाकर बसाना था, और हमारी आबादी में हर साल १ करोड़ २० लाख बच्चों की पैदाइश की वजह से जो वृद्धि हो रही थी उसे रोकना था! यह काम बहुत बड़ा और बहुत ज़रूरी था और उसे फ़ौरन करना था।

झुग्गी-झोंपड़ियों को गिराने और लोगों को नयी जगहों पर ले जाकर बसाने के काम की ज़िम्मेदारी नगर निगम को उसके कमिश्नर बहादुरराम टमटा[२३] की देखरेख में और दिल्ली विकास प्राधिकरण को उसके उपाध्यक्ष जगमोहन[२४] की देखरेख में सौंप दी गयी। संजय ख़ुद इस काम की निगरानी करता था और उसमें भाग लेता था।

घुंघराले बालों वाले, बातूनी, पचपन-वर्षीय परिवेश-विशेषज्ञ जगमोहन के

काम करने के ढंग से जहाँ एक ओर उत्साह मिलता था, वहीं दूसरी ओर वह विवाद की जड़ भी बन जाता था, क्योंकि उनकी सीधे संजय के पास पहुँच जाने की आदत की वजह से उनका इतना दवदबा था कि कोई उनकी तरफ़ उँगली उठाने की हिम्मत नहीं कर सकता था। बहादुरराम टमटा भी बहुत टेढ़े क़िस्म के आई० ए० एस० अफ़सर थे जिनके साथ संजय ने सीधा संपर्क स्थापित कर लिया था। जगमोहन और टमटा दोनों ही संजय के कारिंदों के गरोह में शामिल हो गये। यह राजनीतिज्ञ, प्रशासक और युवक कांग्रेस कार्यकर्त्ता की वह नयी पौध थी, जो इमर्जेंसी के दौरान उभरी, जिसके मन में कुछ कर दिखाने की उमंग और महत्त्वाकांक्षा थी। ये बहुत प्रखर बुद्धि के ऐसे लोग थे, जिनकी कार्य-कुशलता को कभी अपनी प्रतिभा का परिचय देने का अवसर नहीं मिला और जिनका अहंभाव उन्हें बहुत जल्दी श्रेय प्राप्त कर लेने के लिए प्रेरित करता था। जब संजय जैसा आदमी ख़ुद काम की रफ़्तार तय करे और मानदंड निर्धारित करे, और जो ख़ुद इस तरह सोचता और काम करता हो जैसे वह प्रशासक, राजनीतिज्ञ, आर्किटेक्ट और नगर-नियोजक सभी कुछ है, तो ऐसे आदमी को जिसमें सौंदर्य-रस की अधिक समझ-बूझ हो अपनी प्रतिभा का परिचय देने का मौक़ा नहीं मिलता, और मनुष्य की दशा के प्रति संवेदनशीलता तो एक फुटकर समस्या मात्र बनकर रह जाती है।

कार्यक्रम क्रियान्वयन समिति के अधिकांश ग़ैर-सरकारी सदस्य लगभग रोज़ ही जाकर संजय को अपनी कारगुज़ारी बताते थे। दूसरे लोग प्रधान मंत्री की कोठी के उन दोनों छोटे कमरों में बैठकर उससे मिलने का वक़्त तय होने का इंतज़ार करते थे। एक बार प्रधान मंत्री ने इस पर अपनी नाराज़गी भी ज़ाहिर की थी क्योंकि कभी-कभी तो ऐसा होता था कि जब वह किसी से मिलना चाहती थीं तो बात करने के लिए कोई जगह ही नहीं होती थी। लेकिन जब टमटा और जगमोहन जैसे बड़े-बड़े अफ़सर रोज़ सुबह ८ बजे सलामी देने और दिन-भर के लिए आदेश लेने आने लगे तो वातावरण में पहली बार कुछ बेचैनी के चिह्न दिखायी दिये। टमटा ने बाद में अपने एक मित्र को बताया कि वह अजीब चक्कर में फँस गये थे—उनकी नौकरी का सवाल था। जो कुछ उनसे करने को कहा जाता था उसे करते हुए भी उन्हें डर लगता था, और न करते हुए भी उतना ही डर लगता था। एक साहब जिनका प्रधान मंत्री की कोठी के साथ बहुत निकट संबंध था, बताते हैं, "यह सब बकवास है। कोई उन्हें आने को मजबूर नहीं करता था। जिस दिन वह किसी वजह से संजय से मिल नहीं पाते थे उस दिन वह ख़ुद सर-कटी मुर्गी की तरह छटपटाने लगते थे, और हर आदमी से पूछते फिरते थे कि वह कहाँ है और उससे किस वक़्त मिला जा सकता है।"

कार्यक्रम क्रियान्वयन समिति के कुछ सदस्यों को संजय से इतना डर नहीं लगता था। जब कोई नया क़दम उठाने और जाकर उससे सलाह करने का सवाल आता तो संजय कहता, "हाँ, क्यों नहीं। लेकिन पहले मैं प्रधान मंत्री से पूछ लूँ...।" एक सदस्य ने बिना किसी लाग-लपेट के साफ़ शब्दों में कहा, "आम तौर पर लोग जैसा समझते हैं, बात बिलकुल उसकी उल्टी थी। संजय का अपना कुछ नहीं था। उससे तो जो कुछ करने को कहा जाता था वही करता था।" ज़ाहिर है कि इन्दिरा गांधी अपने बेटे को रास्ता दिखा रही थीं। संजय के हाथ में कभी इतनी ताक़त आ ही नहीं सकती थी कि दिल्ली प्रशासन में लेफ़्टिनेंट-गवर्नर से लेकर नीचे तक हर आदमी उसके आदेशों का उस तरह पालन करे जिस

तरह वे राजधानी में कर रहे थे। और न ही उसमें इतनी राजनीतिक क्षमता थी कि वह सारे भारत में योजना के अनुसार वामपंथियों के असर को कम कर सके जैसा कि इमर्जेंसी के दौरान हुआ, जब तक कि उसकी माँ उसे रास्ता न दिखातीं।

शायद यह कोई संयोग की बात नहीं थी कि ग़ैर-राजनीतिक क्षेत्र में संजय की पहली टक्कर एक ऐसे आदमी से हुई जो कम्युनिस्ट रह चुका था। उसका नतीजा यह हुआ कि ख़ामोश रहने वाला, लगन से काम करने वाला लेकिन अपनी धुन का पक्का आदमी, जो जामा मस्जिद के इलाक़े को सुधारना अपना सामाजिक ध्येय बना चुका था, जेल में पहुँच गया।

इमर्जेंसी लागू होने पर राजनीतिक नेताओं की गिरफ़्तारी के बाद राजधानी में ख़ौफ़ की पहली लहर सत्तावन-वर्षीय इंदरमोहन[*] की गिरफ़्तारी से पैदा हुई, जो देखने से ही ऐसा लगता है कि वह एक मक्खी का भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता, क्योंकि इसमें इस बात का संकेत छिपा था कि अब ग़ैर-राजनीतिक विरोध करने से भी आदमी की निजी आज़ादी के लिए गंभीर ख़तरा पैदा हो सकता है।

इंदरमोहन की मिसाल इमर्जेंसी के बाद भारत में जो कुछ भी हुआ उसका प्रतीक है, जब राजनीतिक आचरण के सारे मानदंडों में, क़ानून को लागू करने के ढंग में, और महत्त्वाकांक्षा के बँधे-टँके तक़ाज़ों में एक ज़हरीला परिवर्तन आ गया। इंदरमोहन भारत-सरकार के प्रथम श्रेणी के एक गज़ेटेड अफ़सर थे। वह पुराने राजनीतिक कार्यकर्त्ता रह चुके थे और उनके साथी देश में सबसे ऊँचे पदों पर बैठे हुए थे, जैसे इंदरकुमार गुजराल, और ओम मेहता भी, जो न केवल उनके दोस्त थे बल्कि उन दिनों गृह-मंत्रालय में राज्य-मंत्री थे और संघ-क्षेत्रों के मामले वही देखते थे। ओम मेहता ख़ुद कहते हैं, "दिल्ली का हर पुलिस वाला जानता था, मैं इंदर के बहुत क़रीब हूँ। लेकिन गृह-मंत्रालय ने इमर्जेंसी के शुरू ही में मार्गदर्शन के लिये कुछ मोटे-मोटे सिद्धांत तय कर दिये थे। गिरफ़्तारी का हुक्म दरअसल दिल्ली प्रशासन जारी करता था।"

इंदरमोहन ने जो सवाल उठाया था वह वही चिंगारी थी जो धधकती हुई आग की तरह पूरे उत्तरी भारत में फैल गयी, जिसकी लपटों ने कांग्रेस की बुनियाद को जलाकर राख कर दिया और बाद में उसके नेता भी उसकी लपेट में आ गये। जब इंदरमोहन १६ सितंबर १६७५ को संजय से मिलने गये तो बात बहुत सीधी मालूम हो रही थी। उन्होंने सोचा था कि वह बस सारी हालत समझा देंगे और किसी भी समझदार संवेदनशील आदमी की समझ में बात आ जायेगी।

इस इलाक़े को साफ़ करने और ख़ूबसूरत बनाने के इरादे से, जिसे सरकारी भाषा में 'जामा मस्जिद की गंदी बस्ती' कहा जाता था, दो योजनाओं को मंज़ूरी मिल चुकी थी। इस इलाक़े में ज़्यादातर मुसलमान रहते थे और उनके मन में यह बात बैठ गयी थी कि एक-दूसरे के पास-पास रहने में ही उनकी ख़ैरियत है। एक योजना तो यह थी कि दूकानों को हटाकर पाइवालान के बाज़ार में पहुँचा दिया जाये; दूसरी योजना यह थी कि वहाँ के रहने वालों को मिंटो रोड और माता सुंदरी रोड के इलाक़े में ले जाकर बसा दिया जाये, जो जामा मस्जिद और कनाट सर्कस के बीच में पड़ता है; सोचा यह गया था कि यह जगह इतने पास होगी कि लोग आसानी से अपने काम पर जा सकेंगे। लेकिन इसमें कुछ मानवीय और सांप्रदायिक समस्याओं का दख़ल था, और इन योजनाओं को लोगों की

भावनाओं को पूरी तरह ध्यान में रखकर और उनके सहयोग से ही पूरा किया जा सकता था।

ओम मेहता ने, जो उस समय निर्माण तथा आवास-मंत्रालय के राज्य-मंत्री थे, एक मीटिंग बुलायी और इन स्कीमों को जल्दी पूरा करने के बारे में बाक़ायदा एक प्रस्ताव पास कर दिया गया। ३१ जनवरी और १ फ़रवरी को एक विचार-गोष्ठी में भी सबकी सहमति से यही निर्णय स्वीकार किया गया। इमर्जेंसी लागू होते ही प्रशासन के खून में गर्मी आ गयी। योजना यह बनायी गयी कि इन लोगों के लिए दूसरी दूकानों या दूसरे मकानों का बंदोबस्त किये बिना ही इन दूकानों और मकानों को गिरा दिया जाये। लोग हक्का-बक्का रह गये और इंदरमोहन ने प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी के पास एक फ़रियाद भेजी।

जब इंदरमोहन ने उसके बारे में पूछा तो एन० के० शेषन् ने कहा, "मैंने वह प्रधान मंत्री को दिखा दी, लेकिन शायद वह संजय को दे दी गयी होगी क्योंकि दिल्ली के सारे मामले वही देखते हैं।"

शेषन् ने इंदरमोहन को संजय का सीधा टेलीफ़ोन नंबर बता दिया। "सुबह नौ बजे से पहले किसी वक़्त टेलीफ़ोन कर लीजिये। अगर मुझसे पूछा गया तो मैं जो कुछ भी ज़रूरी होगा बता दूँगा।"

इंदरमोहन ने टेलीफ़ोन किया और संजय ने खुद टेलीफ़ोन उठाया।

"शाम को चार बजे आ जाना," उसने कहा।

"कहाँ ?" इंदरमोहन ने पूछा।

"नं० १ सफ़दरजंग रोड।"

"मेरे पास मोटर तो है नहीं, और वहाँ सिक्योरिटी का बहुत इंतज़ाम रहता है।"

"उसकी फ़िक्र न करो।"

इंदरमोहन को सचमुच उम्मीद थी कि इस मुलाक़ात से कोई ठोस नतीजा निकलेगा। संजय बड़ी नरमी से मिला; वह बड़े इतमीनान से चुपचाप सुनता रहा। दस मिनट में इंदरमोहन ने इस पूरे क़िस्से की पृष्ठभूमि बता दी। जब उन्होंने कहा कि ये दुकानदार और दूसरे लोग वक़्फ़ बोर्ड[३] के किरायेदार हैं और और उन्हें वहाँ से इस तरह नहीं उजाड़ा जाना चाहिए, तो संजय ने बहुत अधीर होकर कहा, "हाँ, यह सब मैं जानता हूँ।"

"लेकिन यह तो सिर्फ़ एक पहलू है," इंदरमोहन ने अपनी बात समझाने की कोशिश की। "कुछ दूसरे मसले भी हैं। वहाँ बहुत-से दस्तकार और गवैये रहते हैं, परदा करने वाली औरतें रहती हैं, मर्दों और औरतों के बीच एक दीवार है, आर्थिक सवालों के अलावा बहुत-से सवाल और भी हैं जिनका संबंध उनकी भावनाओं और उनके सोचने-समझने और महसूस करने के ढंग से है।"

"मुझे तो बस यह बताओ कि इस वक़्त क्या किया जाये," संजय अपनी बात पर अड़ा।

"उनके घर ढाये जा रहे हैं," इंदरमोहन ने पैरवी करते हुए कहा।

"जहाँ हम उन्हें भेजेंगे उन्हें जाना पड़ेगा," संजय ने कहा, "अगर हम पहले बाज़ार बना दें और ये लोग न जायें और उसी बीच इमर्जेंसी उठा ली जाये, तो सारा पैसा डूब जायेगा।"

"उनके न जाने का कोई सवाल ही नहीं है। वे तो मार्केट बनने का इंतज़ार कर रहे हैं। आपको जो गारंटी चाहिए ले लीजिये। आप मेरे साथ चलकर देख

लीजिये।"

"मैं तुम्हारे साथ क्यों जाऊँ ? मैं वहाँ ख़ुद जाता रहा हूँ।"

"कभी-कभी इलाक़े में काम करने वाले किसी आदमी के साथ जाना अच्छा होता है," इंदरमोहन ने कहा, "अगर फ़ैसला ठीक हो और उनके हित में हो तो लोग हमेशा उसे मान लेते हैं, इमर्जेंसी हो या न हो।"

संजय मुस्कराया और उसने बड़ी वेदर्दी से कहा, "मार्केट बनाने पर जो एक करोड़ अस्सी लाख रुपये खर्च होंगे वह हमें दिलवा दो तो फिर हमें कोई मतलब नहीं कि लोग वहाँ जायें या न जायें।"

इंदरमोहन दंग रह गया। क्या इस आदमी को सिर्फ़ पैसे की फ़िक्र है ?

"जहाँ तक हमें मालूम है, लोगों से जहाँ भी जाने को कहा जायेगा वे चले जायेंगे," संजय कहता रहा, "सारी गड़बड़ी तुम्हारे जैसे नेता फैलाते हैं।"

"मैं तो नेता नहीं हूँ, मैं तो सिर्फ़ काम करता हूँ," इंदरमोहन ने शांत भाव से उत्तर दिया. "अगर मैं चाहता तो नेता बन सकता था, मेरे लिए इसका पूरा मौक़ा था।"

"वह कैसे ?" संजय अपनी उत्सुकता को न दबा सका, उसने पूछ ही लिया।

"मैंने १९४२ में साढ़े तीन साल जेल में काटे। मेरे बहुत-से साथी किसी-न-किसी जगह पर पहुँच गये, लेकिन मैंने एक मामूली कार्यकर्त्ता ही बना रहना पसंद किया। अगर मैं नेता होता तो आपकी ख़ुशामद करता रहता और आपकी हाँ-में-हाँ मिलाता रहता।"

संजय मुस्कराया, लेकिन ज़ाहिर था कि वह अंदर-ही-अंदर खौल रहा था। थोड़ी देर तक ख़ामोशी रही।

आख़िरकार संजय ने कहा, "जो आप लोग चाहते हैं वही कीजिये।"

उसका स्वर सपाट था। कहीं से यह पता नहीं चलता था कि वह हुक्म चलाने की कोशिश कर रहा है।

"मेरा कोई ओहदा नहीं है, कोई हैसियत नहीं है। इसके अलावा मैं आपकी बात को सही नहीं समझता, इसलिए मैं कोई काम कैसे करवा सकता हूँ !" इंदरमोहन ने साफ़-साफ़ कह दिया।

यह सुनकर संजय उठ खड़ा हुआ, हाथ जोड़कर नमस्ते की और कमरे के बाहर चला गया।

अगले दिन सुबह इंदरमोहन ओम मेहता से मिले। उस ज़माने में हर सरकारी आदमी लेफ़्टिनेंट-गवर्नर का नाम लेकर बात करता था, संजय का नाम कभी नहीं लेता था, जो परदे के पीछे से काम करता था। जब मेहता ने महसूस किया कि इंदरमोहन को सारी बातें मालूम हैं तो वह हँस पड़े।

"देखिये," इंदरमोहन ने गंभीर भाव से कहा, "इस तरह तो पहले जितने भी फ़ैसले किये गये थे सब बेकार हो जायेंगे।"

"तुम फ़िक्र न करो," ओम मेहता ने जवाब दिया, "मैं अभी प्रधान मंत्री के पास जाता हूँ और सब-कुछ ठीक करा दूँगा।"

"मैंने सुना है कि जो भी उससे टक्कर लेता है वह गिरफ़्तार कर लिया जाता है," इंदरमोहन ने कहा।

ओम मेहता फिर हँसे। इसी वक़्त यशपाल कपूर अंदर आ गये।

"कौन गिरफ्तार किया जा रहा है ?" उन्होंने हमेशा की तरह बड़ी बे-तकल्लुफ़ी से पूछा।

"आपकी इमर्जेंसी में शायद मैं ही पकड़ लिया जाऊँ," इंदरमोहन ने कहा।

कपूर ने इस बात को मज़ाक़ समझकर टाल दिया। "अगर किसी को गिरफ़्तार करना हो तो ख़ुद हमारे कुछ लोग इस लायक़ हैं कि उन्हें गिरफ़्तार किया जाना चाहिए," उन्होंने मज़ाक़ करते हुए कहा।

१६ तारीख की दोपहर को इंदरमोहन डी० डी० ए० की अट्ठारह-मंज़िला इमारत विकास मीनार में जगमोहन से उनके लंबे-चौड़े आलीशान दफ़्तर में मिले।

"मैं कल संजय से मिला था," इंदरमोहन ने डी० डी० ए० के कर्त्ता-धर्त्ता से कहा और पिछले दिन की बहस का सारा ब्यौरा उन्हें सुना दिया। "अब आपकी क्या योजना है? अब हमारी क्या स्थिति है?"

"मैं तो आपको ढूँढ़ने की कोशिश कर रहा था," जगमोहन ने कहा, "मैं समझता हूँ कि आपकी गिरफ़्तारी का तो फ़ैसला कर भी लिया गया है। मैं चाहता था कि आपको पहले से चेतावनी दे दूँ कि जाकर ओम मेहता से कहकर कुछ करवा लीजिये।"

"मैं उनसे जाकर यह नहीं कहना चाहता कि वह मुझे बचायें। उन्हें सब-कुछ मालूम है। आप तो मुझे यह बताइये कि आपने जामा मस्जिद के लोगों के बारे में क्या फ़ैसला किया है?"

"मैं समझता हूँ कि संजय से आपकी मुलाक़ात किसी मद्रासी ने तय करायी थी," जगमोहन ने कहा।

"किसी मद्रासी ने नहीं, शेषन् ने। उन्होंने कहा था कि मैं संजय से मिल लूँ, बस इतनी-सी बात है।"

"संजय को तो आपसे मिलने की याद भी नहीं है," जगमोहन अपनी ही हाँकते रहे।

आखिरकार इंदरमोहन का धीरज टूट गया।

"देखिये, जगमोहन साहब, संजय साहब बहुत ज्यादा अक़्लमंद न हों, पर वह इतने बेवक़ूफ़ भी नहीं हैं। हमने पैंतालीस मिनट तक अकेले में बातचीत की और प्रधान मंत्री की कोठी पर हर बात दर्ज कर ली जाती है।"

उसी दिन आधी रात के कुछ ही देर बाद, कस्तूरबा गांधी रोड की कई-मंज़िला इमारत की पहली मंज़िल पर किसी ने इंदरमोहन का दरवाज़ा खटखटाया।

इंदरमोहन ने जब दरवाज़ा खोला उस वक़्त वह कुर्त्ता और लुँगी पहने थे। सात हट्टे-कट्टे आदमी सादे लिबास में दनदनाते हुए घर में घुस आये, और उनमें से दो ने इंदरमोहन को गुद्दी से पकड़कर दीवार से भिड़ा दिया।

"हमें आपकी अच्छी तरह ख़बर लेने का हुक्म मिला है," उन लोगों ने कहा।

इतने में एक आठवाँ आदमी आया, वह वर्दी पहने था। इंदरमोहन को पता चला कि पुलिस के दूसरे अफ़सर नीचे इस बात पर कड़ी नज़र रखने के लिए खड़े थे कि वह पकड़ ज़रूर लिये जायें। पुलिस वालों के तेवर बहुत ही ख़राब थे। उन्होंने इंदरमोहन को न कपड़े बदलने दिये, न अपने घर में ताला लगाने दिया, तब भी नहीं जब उन्होंने उन लोगों को बताया कि वह वहाँ अकेले रहते हैं।

"आप अकेले क्यों रहते हैं?" उनमें से एक ने बड़ी ढिठाई से पूछा।

"आपसे मतलब?" इंदरमोहन ने तड़ककर जवाब दिया।

इतने में चार आदमियों ने उनके हाथ पकड़े और चार ने टाँगें और खाली पैसेज से होते हुए उन्हें सीढ़ियों से नीचे ले जाकर बाहर खड़ी हुई जीप में डाल दिया। उन्हें ले जाकर दरियागंज के थाने में हवालात में डाल दिया गया, जहाँ एक टूटे-फूटे पाखाने में गंदगी का इतना ढेर था कि बदबू बर्दाश्त नहीं होती थी। कोई भी संवेदनशील आदमी उस वातावरण में कुछ भी खा-पी नहीं सकता था। इंदरमोहन ने भूख हड़ताल कर दी। वह चार दिन वहाँ रखे गये और इन चार दिनों में चार पेशेवर मुजरिम वहाँ उन्हें डराने-धमकाने के लिए भेजे गये, जिनमें से एक पुलिस का मुखबिर भी था। चौथे दिन सुबह दिल्ली मेट्रोपोलिटन कौंसिल के अध्यक्ष मीर मुश्ताक़[१७] इंदरमोहन से मिलने गये। थाने के इंचार्ज सुपरिटेंडेंट-पुलिस ओहरी थे; वह उनके साथ नहीं गये। ओहरी रोटरी क्लब में इंदरमोहन के साथी थे और उनके दोस्त भी थे। उन्हें इंदरमोहन के सामने जाते शर्म आ रही थी। मीर साहब ने इंदरमोहन को बताया, "पहले तुम्हें अदालत ले जाया जायेगा, फिर तिहाड़ जेल। तुम भूख हड़ताल ख़त्म कर दो।"

गिरफ़्तारी के दूसरे दिन सुबह जब इंदरमोहन को तीस हज़ारी की अदालत में ले जाया गया, तब वहाँ जामा मस्जिद के कुछ लोगों से उनकी मुलाक़ात हुई। इन लोगों ने दूसरों को भी ख़बर दे दी थी, खास तौर पर उनके एक पुराने दोस्त और वकील दानियाल लतीफ़ी[१८] को। इंदरमोहन को आखिरकार तिहाड़ जेल भेज दिया गया, जहाँ हालत बस थोड़ी ही अच्छी थी। दो बार जब उन्हें अदालत ले जाया गया, तो उन्हें आम मुजरिमों की तरह हथकड़ी डालकर सड़कों पर घुमाया गया।

जगमोहन ने इंदरमोहन को गिरफ़्तारी के बाद बताया, "आपको इसलिए गिरफ़्तार किया गया है कि आप हिंदू हैं। मुसलमानों को ईद के बाद गिरफ़्तार किया जायेगा।" उसी दिन जगमोहन इंदरकुमार गुजराल से मिले, जिन्होंने इंदरमोहन के बारे में बहुत दुखी होकर कहा, "वह बहुत ईमानदार आदमी है और अच्छा काम करने वाला है। लेकिन उसने बस एक ग़लती की, उसे संजय से लड़ना नहीं चाहिए था।"

जब ओम मेहता को इंदरमोहन के साथ इस शर्मनाक बरताव का पता चला तो उन्होंने इंस्पेक्टर-जनरल पुलिस भवानीमल को टेलीफ़ोन किया।

"सर," आई० जी० ने कहा, "उनकी गिरफ़्तारी का हुक्म दिल्ली प्रशासन ने दिया है।"

"कुछ भी हो, लेकिन उन्हें सरे-बाज़ार इस तरह नहीं ले जाना था।"

भवानीमल को ख़ुद नहीं मालूम था कि इंदरमोहन को क्यों गिरफ़्तार किया गया था, और जहाँ तक ओम मेहता का सवाल है उन्होंने कई महीने बाद, जब मैंने इसके बारे में उनसे बात की, बड़ी बेशर्मी के साथ अपनी लाचारी जताते हुए कहा, "उन्हें छोड़ना मेरे हाथ में नहीं था...।"

जब मीर मुश्ताक़ दिल्ली के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर किशनचंद[१९] से मिलने गये तो उन्होंने मीर साहब को झाड़ा, "आप लोगों ने उसे हीरो बना दिया है।"

बहरहाल, इंदरमोहन को सताया जाता रहा। ख़ैर, यह तो वह जानते ही थे कि उन्हें अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा, लेकिन जिस बात पर वह सचमुच हैरान थे वह यह थी कि ये लोग कितनी बेरहमी के साथ उनकी ईमानदारी को ख़त्म करने की कोशिश कर रहे थे। न सिर्फ़ यह कि उन पर सी० आई० ए० का

एजेंट या नक्सलवादी होने की छाप लगा देने के लिए एक पूरा प्रचार-तंत्र सक्रिय कर दिया गया था, बल्कि इस दावे के सबूत जुटाने के लिए दफ़्तर में उनके बारे में एक झूठी फ़ाइल भी खोल दी गयी थी। इंदरमोहन का कहना है कि पुराने दोस्त और साथी या तो इस जाल में फँस गये, या फिर, "सुभद्रा जोशी"* की तरह उन्होंने दोरुखी भूमिका अदा की।"

सुभद्रा जोशी इन्दिरा गांधी की पुरानी और जोशीली साथी थीं, और देश के बँटवारे के बाद दिल्ली में दंगों के दिनों में प्रधान मंत्री के साथ काम कर चुकी थीं। वह वामपंथी थीं और श्रीमती गांधी की विचारधारा की लीक में बिलकुल खप गयी थीं। वह इमर्जेंसी के पक्ष में थीं, लेकिन साथ ही वह इंदरमोहन की पृष्ठभूमि से भी इतनी अच्छी तरह परिचित थीं कि वह इतना तो जानती ही थीं कि राजनीति की हद तक वह उनकी अपनी पृष्ठभूमि जैसी ही थी। फिर भी उन्होंने दानियाल लतीफ़ी को टेलीफ़ोन किया।

"मैंने सुना है कि आप इंदर की पैरवी कर रहे हैं।"

"जी हाँ," उन्होंने कहा।

"मैं अपनी कांस्टीच्युएंसी में इतना काम करती रही हूँ," सुभद्रा जोशी ने बड़े दयनीय भाव से कहा, "न जाने क्यों वह मोहल्लों में जाकर अपनी टाँग अड़ाता है ? मैं समझती हूँ कि वह सी० आई० ए० और नक्सलवादियों के साथ है।"

लतीफ़ी को बेहद गुस्सा आया। "आप उसे लाहौर से जानती हैं। मैं समझ सकता हूँ कि आपको अपनी कांस्टीच्युएंसी की बड़ी फ़िक्र है। लेकिन हमारे मुल्क की परंपरा यह है कि जब कोई आदमी जेल में होता है तो लोग उसका साथ देते हैं। वह जेल में है, आप नहीं हैं।" उन्होंने कहा और झल्लाकर टेलीफ़ोन रख दिया।

इसके बाद सुभद्रा जोशी के सहयोगी और उनकी पत्रिका **सेक्युलर डेमोक्रेसी** के संपादक डी० आर० गोयल ने लतीफ़ी को टेलीफ़ोन किया।

"मैं समझता हूँ कि इंदरमोहन इमाम[11] का एजेंट है," उन्होंने जामा मस्जिद का हवाला देते हुए कहा, जिन्होंने उसी साल के शुरू में सरकार के ख़िलाफ़ एक दंगा लगभग भड़का ही दिया था।

लतीफ़ी ने गोयल को भी उतनी ही रुखाई से जवाब दिया। "मैं जानता हूँ और आप भी जानते हैं कि इंदर क्या है," उन्होंने कहा।

अगर इन्दिरा गांधी एक ओर संजय को अफ़सरशाही से निबटने की पूरी छूट दे रही थीं, तो दूसरी ओर वह यह भी जानती थीं कि उसने जिन दो कामों का बीड़ा उठाया था—पुराने मकानों को गिराना और लोगों को दूसरी जगह ले जाकर बसाना—उनकी वजह से अंदर-ही-अंदर बहुत असंतोष उबल रहा था। अभी शुरुआत ही थी, फिर भी इंदरमोहन वाली घटना होने से पहले ही उन्होंने मुहम्मद यूनुस से कहा कि वह इस मामले के बारे में छानबीन कर लें। यूनुस उस वक़्त तक विशेष दूत नियुक्त नहीं हुए थे। एक साल पहले, जब वह वाणिज्य-मंत्रालय के सेक्रेटरी की हैसियत से रिटायर हुए थे उसके फ़ौरन बाद उन्हें राजनीति के क्षेत्र में लाने की कोशिश की गयी थी, लेकिन बरसों तक सरकारी अफ़सर की हैसियत से काम कर चुकने के बाद और राजनीति के क्षेत्र की चिकनी-चुपड़ी मक्कारी बर्दाश्त न होने की वजह से उन्होंने महसूस कर लिया था कि उनके लिए बाहर रहना ही बेहतर है।

लेकिन बाद में श्रीमती गांधी ने उन्हें अलग-अलग संगठनों में "उन्हें ज़रा ठीक-ठाक कर देने के लिए" इतनी विभिन्न हैसियतों से रख दिया कि एक बार किसी पार्टी में दिल्ली के बड़े उद्योगपति लाला चरतराम ने उनसे बड़ी हमदर्दी के साथ कहा, "क्या मैडम आपको मार डालना चाहती हैं !"[३३]

अगस्त में वह पालम में एक लंबी-चौड़ी कल्याणकारी योजना के काम में इतनी बुरी तरह फँसे हुए थे कि इस फ़ालतू काम के लिए वह एक दिन सुबह साढ़े पाँच बजे ही थोड़ा-सा वक़्त निकाल पाये। शाहनवाज़ खाँ[३३] जो केंद्रीय सरकार में औक़ाफ़ के मंत्री थे, उनके साथ गये थे। वहाँ जामा मस्जिद में ही उनकी मुलाक़ात मीर मुश्ताक़ अहमद से हुई। उन लोगों ने और किसी से बात भी नहीं की। यूनुस ने बताया, "मैंने बस उस इलाक़े को देखा और यह अंदाज़ा लगाया कि वहाँ क्या हो सकता है। उसके बाद मैंने जाकर प्रधान मंत्री को बता दिया। मेरी सिफ़ारिश यह थी कि सिर्फ़ ४०० दुकानों के बजाय, जिन्हें बनाने की बात सोची जा रही थी, पाईवालान के इलाके में १,००० दुकानें बनायी जायें और यह कि उर्दू बाज़ार के नीचे दुकानों की एक पूरी क़तार हो सकती है।"[३४]

"हाँ, लेकिन लोगों का क्या होगा ? आपने उनके बारे में नहीं बताया कि उन्हें कहाँ भेजा जाये ?"

"मैं ये दूसरी दुकानें वहाँ के मुक़ामी लोगों के लिए ही चाहता था। मैंने उनको बताया कि उस इलाक़े के सारे बचे हुए दुकानदारों को जामा मस्जिद के बहुत क़रीब ही जगह दी जा सकती है। शाहनवाज़ और मीर मुश्ताक़ दोनों ही मेरी इस बात के हक़ में थे।"

"फिर श्रीमती गांधी ने क्या कहा ?"

"आपने जो कुछ कहा है 'यह तो बहुत दिलचस्प मालूम होता है,' श्रीमती गांधी ने कहा, 'मैं मालूम करूँगी कि इस सिलसिले में क्या किया जा सकता है।' "

"आप यह तो जानते ही हैं न कि जो कुछ आखिरकार हुआ वह उसका बिलकुल उल्टा था जिसकी आपने सिफ़ारिश की थी ?" मैंने यूनुस से पूछा। "लोगों को कई मील दूर ले जाकर फेंक दिया गया और जो दुकानें वहाँ बनी थीं उन्हें दूसरे लोगों ने ज़्यादा किराया देकर ले लिया। समाज-कल्याण की चिंता पर व्यापार की भावना हावी हो गयी।"

"मुझसे अपनी राय देने को कहा गया था। वह मैंने दे दी थी। बाद में उससे मेरा कोई मतलब नहीं था। लेकिन ज़ाहिर है कि मैंने जो सुझाव दिया था उसकी चर्चा लोगों में फैल गयी और लोगों को वह सुझाव पसंद आया था। सच तो यह है कि जामा मस्जिद के इलाक़े के लोग मेरे पास आ-आकर मुझे बताने लगे कि मेरा सुझाव मसले का सबसे अच्छा हल है। मैंने उन्हें शाहनवाज़ और उन दूसरे अफ़सरों से जाकर मिलने की सलाह दी जो इस मामले में दख़ल रखते थे। मुझे इस सवाल के बारे में सरकारी तौर पर कोई ज़िम्मेदारी नहीं सौंपी गयी थी, और सियासत मैं लड़ाता नहीं था।"

"आपने संजय से इसके बारे में बात की थी ?"

"उसकी कोई ज़रूरत ही नहीं थी। मुझसे प्रधान मंत्री ने कहा था कि मैं पता लगाऊँ कि हालत क्या है।"

"लेकिन ये सब मामले तो संजय देखता था। उसने आपसे कुछ नहीं कहा ?"

"हाँ, मोटे-मोटे तौर पर कुछ कहा। उसने इस बात को माना कि उस इलाक़े में और ज़्यादा दुकानें बनवाने का सुझाव बहुत अमली सुझाव है।"

"लेकिन जिन पुराने दुकानदारों से उनकी दुकानें छिन गयी थीं उन्हें आपके सुझाव के मुताबिक़ वहाँ नहीं बसाया गया। ज़ाहिर है कि संजय ने आपकी सलाह के सिर्फ़ एक पहलू पर ध्यान दिया था।"

"हो सकता है।"

"आपने बाद में यह पता लगाने की कोशिश नहीं की कि आखिरकार हुआ क्या ? यह तो बहुत बुनियादी मसला था।"

"देखिये," यूनुस ने कहा, "लोग शायद यह बात भूल गये हैं कि मैं तीस साल तक सरकारी नौकर रह चुका हूँ। यह आपको अपने काम से मतलब रखना सिखा देता है। जिन लोगों को सरकार में काम करने का तजुर्बा है वही इस बात को समझ सकते हैं। कोई टूरिज़्म के सेक्रेटरी से कॉमर्स के मसलों की छानबीन करने को नहीं कहता, या कॉमर्स के सेक्रेटरी से रेलों के बारे में सलाह नहीं लेता, लेकिन उनमें से किसी से भी, मिसाल के लिए, किसी दंगे की जाँच करने को कहा जा सकता है। आप जाँच पूरी करके फिर अपने काम पर वापस चले जाते हैं। मैं हर चीज़ के बारे में बातें नहीं करता। यह एक बात है जो मैंने तीस बरस में सेक्रेटेरियट में सीखी है—किसी दूसरे के मामले में टाँग न अड़ाना...।"

"प्रधान मंत्री के मामलों में भी नहीं।"

"जी हाँ। उन कामों में नहीं जो मुझे करने को न दिये गये हों।"

"फिर आपको उन्होंने इन मामलों में क्यों उलझाया जिन्हें मैं आपके दायरे के बाहर के काम कहूँगी।"

"हो सकता है कि वह किसी की आज़ाद राय चाहती हों। मुझे वह वाक़या याद आता है जब १९६४ में दस साल बाद शेख अब्दुल्ला[३५] रिहा किये गये थे। पंडितजी[३६] ने मुझसे हवाई अड्डे पर जाकर उनसे मिलने को कहा। उस वक़्त मैं विदेश मंत्रालय में महज़ ज्वाइंट सेक्रेटरी था। लेकिन जब मुख़ालिफ़ पार्टियों ने इस पर बहुत शोरग़ुल मचाया, तो पंडितजी ने कहा कि इस बात को ज़रूरत से ज़्यादा महत्त्व देने की कोई ज़रूरत नहीं है, बात सिर्फ़ इतनी थी कि वह मुझे जानते थे और यह जानते थे कि मैं शेख साहब को अच्छी तरह जानता था। जब मौलाना आज़ाद[३७] मरे तब भी यही हुआ। उनका कोई रिश्तेदार था नहीं और आज़ादी से पहले के दिनों से वह मुझे खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खाँ[३८] के सेक्रेटरी की हैसियत से, और फिर आज़ादी की लड़ाई के दौरान से जानते थे और मेरे साथ बड़ी मुहब्बत के साथ पेश आते थे। जब वह मरे उस वक़्त तो मैं फ़ॉरेन सर्विस में सिर्फ़ डायरेक्टर था, लेकिन मुझसे उनके घर पर सारा इंतज़ाम करने को सिर्फ़ इसलिए कहा गया कि उनके साथ मेरे ताल्लुक़ात थे।"

"शायद लोग एक अफ़सर की हैसियत से और एक सियासी आदमी की हैसियत से आपके काम में ठीक से फ़र्क़ नहीं कर पाते।"

"हो सकता है। लेकिन मेरे दिमाग़ में बात बिलकुल साफ़ थी। मुझसे भी चलने को कहा गया था, लेकिन इसी वजह से मैं चंडीगढ़ और गौहाटी में कांग्रेस के अधिवेशन में हिस्सा लेने नहीं गया। मैं उससे अलग रहना चाहता था।"

"लेकिन लोग यह भी जानते थे कि आप ज़ाती तौर पर पंडित नेहरू के क़रीब थे, और अब इन्दिरा गांधी के क़रीब हैं।"

"जी हाँ, यह चालीस साल पुराना साथ है। इसी वजह से हर आदमी यह समझता था कि हर बात में मेरा दखल होगा।"

"इस जामा मस्जिद वाले मामले में, इस बात के बावजूद कि आप इतने

अरसे तक सरकारी अफ़सर के साँचे में ढल चुके हैं, क्या आपने कभी एक शहरी की हैसियत से भी यह मालूम करने की कोशिश नहीं की कि आपने जो सुझाव दिया था उसका क्या हश्र हुआ ?"

"देखिये, अगर आदमी के हाथ में दर्जन-भर काम हों, तो क्या वह इससे ज्यादा कुछ कर सकता है ? हर काम के साथ सरकारी काम-काज की ज़िम्मेदारी जुड़ी हुई थी। मुझे उन जगहों पर देखना था कि क्या हो रहा है, क्या नहीं हो रहा है, और क्या करना है, न कि उस जगह जहाँ कि मुझसे सिर्फ़ एक रिपोर्ट पेश करने को कहा गया था और ज़िम्मेदारी दूसरे लोगों की थी। बीच-बीच में जब लोगों को क़र्ज़ लेने की ज़रूरत पड़ती थी या कोई दूसरी दिक़्क़त होती थी तो वे मेरे पास मदद के लिए आते रहते थे। मैं उनकी तरफ़ से उन अफ़सरों को या दूसरे हाकिमों को टेलीफ़ोन कर देता था ताकि वे जाकर उनसे मिल लें। मैंने इंदर-मोहन के दोस्तों से भी कहा था कि मेरा इससे कोई लेना-देना नहीं है, कि वे जाकर सम्बद्ध अफ़सरों से मिलें। मेरी समझ में नहीं आता था कि लोग ऐसे कामों के लिए मेरे पास क्यों आते रहते थे जिनमें मेरा कोई दख़ल नहीं था।"

"क्या आप उसके ख़्यालात की वजह से उसके ख़िलाफ़ थे ? मेरा मतलब है कि क्या आप उस वक़्त वामपंथियों के ख़िलाफ़ थे ?"

"मुझे इससे कुछ लेना-देना नहीं था कि उसके ख़्यालात क्या थे या क्या रह चुके थे। ज़ाती तौर पर वह कभी मेरा दोस्त नहीं रहा था। लेकिन चूँकि पहले मैं भी सियासत में रह चुका था, इसलिए हर जगह मेरे दोस्त थे। जिन्हें आप वाय बाज़ू के लोग या वामपंथी कहती हैं उनमें से ज्यादातर, जब मैं विदेश मंत्रालय में था, मेरे पास सियासी जानकारी हासिल करने के लिए आया करते थे; उनमें से ज्यादातर मेरे बहुत अच्छे दोस्त थे, जिन्हें मैं लाहौर के ज़माने से जानता था, उनमें मर्द भी थे और औरतें भी जिनसे मेरी जान-पहचान चालीस साल से भी ज्यादा पुरानी थी—सज्जाद, अरुणा, मज़हर (जो अब पाकिस्तान में हैं), मोहन, पेरिन, रमेश, रेणु, निखिल, या पार्वती[१९] और डॉ० अहमद[२०]—जिनमें हिरेन मुखर्जी[२१] भी शामिल हैं। उस बात का इससे कोई मतलब नहीं था।"

"मुझे तो ऐसा लगता है कि श्रीमती गांधी ने इस अरसे में एक बहुत ही वामपंथ-विरोधी दौर में क़दम रखा, और वह अपने चारों ओर ऐसे लोगों को रखना चाहती थीं जो उनकी मौजूदा मनोदशा से मेल खाते हों...।"

"बहरहाल, मैंने कभी यह महसूस नहीं किया कि कम्युनिस्टों की हर बात बुरी है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, उनमें मेरे बहुत अच्छे दोस्त थे। मैंने हमेशा महसूस किया है कि वे बहुत लायक़ और बड़ी लगन से काम करने वाले लोग हैं, लेकिन मैंने उनकी सियासत को कभी सही नहीं समझा, ख़ास तौर पर उनकी दूसरे मुल्कों से हिदायतें आने का इंतज़ार करने की आदत को। १९४२ में इन लोगों ने यही किया और अभी हाल में १९७६ में बजट के बारे में उनका यही रवैया रहा। शुरू में तो उन्होंने उसकी बहुत बुराई की, लेकिन जब सोवियत संघ ने उसकी तारीफ़ों के पुल बाँध दिये तो उन्होंने भी वैसा ही राग अलापना शुरू कर दिया। १९६८ में जब बादशाह ख़ाँ हिंदुस्तान आये थे, उस वक़्त का मुझे एक बहुत अच्छा वाक़या याद आता है। जब वह कलकत्ते में ज्योति बसु[२२] से मिले तो बादशाह ख़ाँ ने उनसे पूछा, 'यह क्या बात है कि यहाँ हिंदुस्तान में सभी चीज़ें दो-दो हैं, कांग्रेस पार्टी, सोशलिस्ट पार्टी, यहाँ तक कि कम्युनिस्ट पार्टी भी ?' ज्योति बसु ने उन्हें सारी दुनिया में कम्युनिस्टों के बीच फूट पड़ने की सारी बात समझाने की कोशिश की।

बादशाह ख़ाँ ने फ़ौरन फ़िक़रा कसा : 'अच्छा, तो क्या रूस में भी दो कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं और चीन में भी दो कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं ?' जब हम लोग कमरे से बाहर निकल रहे थे तो ज्योति बसु ने बड़ी हैरत से मुझसे कहा, 'बूढ़ा बहुत तेज़ है, है न ?' मैं समझता हूँ कि इसके बारे में जितनी मेरे दिल में निन्दा है उतनी किसी और के नहीं।"

"उन्होंने इमर्जेंसी का सहारा क्यों लिया यह तो मुझे मालूम नहीं," कम्युनिस्ट नेता प्रेमसागर गुप्ता ने कहा, "लेकिन हम लोगों ने (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने) उसका समर्थन इसलिए किया कि हम दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादियों की केन्द्र में राजनीतिक सत्ता पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा करने की चाल को नाकाम करना चाहते थे।" शायद उस वक़्त तक यह बात इतनी स्पष्ट होने के लिए अभी बहुत जल्दी थी कि इन्दिरा गांधी अपनी हद तक यह समझती थीं कि वह सब-कुछ ठीक इसकी उल्टी शक्तियों की हरकतों की काट करने के लिए कर रही थीं—यानी वामपंथी पराक्रमवादियों के ख़िलाफ़, जैसा कि वह उन्हें उस वक़्त कह सकती थीं। दोनों ही तरह से यह सत्ता हथियाने का खेल था, और सबका सभी कुछ दाँव पर लगा हुआ था। मज़े की बात तो यह थी कि यह सब-कुछ होते हुए भी यह लड़ाई बहुत ऊपरी सतह पर लड़ी जा रही थी—जामा मस्जिद की सड़कों पर, शहरों के मोहल्लों के फुटपाथों पर, और उन लोगों के नसबंदी के कैंपों में जिन पर राजनीति का नया-नया भूत सवार हुआ था। यह भारतीय घटनाक्रम को इतनी अविश्वसनीय हद तक ग़ैर-राजनीतिक बना देने का एक ऐसा सिलसिला था जैसा कि अब तक किसी ने नहीं देखा था। संजय गांधी अपनी माँ का एक ऐसा वाक्य दोहराने लगा था जो उन्हें बहुत प्रिय था और जिसे वह हर उस मौक़े पर इस्तेमाल करती थीं जब वह किसी कठिनाई में फँस जाती थीं : "वामपंथ और दक्षिणपंथ जैसी कोई चीज़ नहीं है। हमें मतलब सिर्फ़ इस बात से है कि हम इन सिद्धांतों को भारत में किस तरह लागू करते हैं।" बिहार में २० फ़रवरी १९७६ को पंडौल नामक स्थान में संजय गांधी ने एक पब्लिक मीटिंग में इस सवाल के बारे में शायद अपना पहला बयान दिया। उसने पुराने अनुभवी कांग्रेसियों से कहा, "वामपंथ और दक्षिणपंथ पर झगड़ा करना छोड़ दीजिये और जनता के कल्याण में अपना समय लगाइये।"

ठीक इसी सवाल पर—जनता के सवाल पर—दिल्ली के पूरे शहर में ग़ुस्से की एक लहर दौड़ना शुरू हो गयी थी। इमर्जेंसी के दुरुपयोग के बारे में प्रेमसागर गुप्ता ने प्रधान मंत्री के नाम और लेफ़्टिनेंट-गवर्नर के नाम अपना पहला पत्र ५ अगस्त १९७५ को लिखा था—इमर्जेंसी लागू होने के दो महीने के अंदर। यह पत्र उन तमाम बातों के बारे में था जो जनता के साथ हो रही थीं—बिना किसी व्यवस्था के, और ऐसा लगता था कि काम-चलाऊ आधार पर। हज़ारों ग़रीब परिवारों को ज़बर्दस्ती उनकी झुग्गी-झोपड़ियों से जिस तरह उजाड़ कर उन इलाक़ों में ले जाकर छोड़ दिया गया था जो उन्हें बसाने के लिए तय किये गये थे और जिनकी स्कूलों, अस्पतालों, बाज़ारों और मकानों वग़ैरह की सारी योजनाएँ अभी तक काग़ज़ पर ही थीं। बीमार और गर्भवती औरतों को, बिलखते हुए बच्चों को, बूढ़ों को और कड़ियल जवानों को मुर्दा पोटलियों की तरह ले जाकर वहाँ पटक दिया गया था, उन्हें उनके पच्चीस-पच्चीस गज़ के ज़मीन के टुकड़े दिखा दिये गये थे, जिन पर निशान लगाकर उन्हें अलग-अलग प्लाटों में काट दिया गया था, और दिल्ली की भरी बरसात में उनसे कह दिया गया था : "यह रहा

तुम्हारा प्लाट, चाहो तो इस पर अपना घर वना लो।"

संजय के सरकारी गुर्गों ने जो दलील दी थी, और जैसा कि संजय ने ख़ुद इंदरमोहन से कहा था, वह यह थी कि इस तरह का काम सिर्फ़ इमर्जेंसी की हालत में किया जा सकता है, जब लोगों को वह सब काम करना पड़ता है जो सरकार उनसे करने को कहती है। गंदी वस्तियों में रहने वालों को दूसरी जगह ले जाकर बसाने और शहरी इलाक़ों की सफ़ाई करने की इससे पहले जो कोशिशें की गयी थीं वे इसलिए नाकाम रहीं कि ये परिवार रहने के लिए दूसरी जगह ले तो लेते थे, लेकिन उसे किराये पर उठाकर फिर अपनी पुरानी जगहों में ही रहने लगते थे। फिर से एक गंदी बस्ती बस जाती थी जो 'भारत की राजधानी की ख़ूबसूरती' पर एक धब्बा वन जाती थी।

गंदी बस्तियाँ गंदी ही रहती थीं, उनमें सफ़ाई का कोई बंदोबस्त नहीं होता था, वे बीमारी, अपराध और आपसी झगड़ों के ऐसे अड्डे वन जाती थीं जो इंसानों के रहने के लायक़ नहीं होती थीं। नागरिक प्रशासन की संस्थाएँ उन्हें बुनियादी सुविधाएँ नहीं देती थीं क्योंकि वे ग़ैर-क़ानूनी होती थीं, और पूरी-की-पूरी पीढ़ियाँ पेशाव की वदवू के बीच और मुँह में मिट्टी और गंदगी का स्वाद लिये पलती-वढ़ती रहती थीं। फिर भी वे वही रहते थे क्योंकि वहीं वे अपनी रोज़ी कमाते थे, क्योंकि वे इमारती मज़दूर थे जो पैसे वालों के लिए आलीशान हवेलियाँ वनाते थे, आधुनिक युग के गगनचुंबी स्वप्नों को साकार करते थे, उन धनवानों और ऊँची हैसियत वाले लोगों के लिए, जो आस-पास की शानदार कॉलोनियों में रहते थे, या उन वड़े-वड़े व्यापारिक केन्द्रों के लिए जहाँ वे अपनी सेवाएँ मिट्टी के मोल वेच सकते थे।

प्रेमसागर गुप्ता का आख़िरी निजी ख़त १० फ़रवरी १९७७ का था जो उन्होंने पी० एन० धर के नाम लिखा था। जब पुरानी बस्तियों में रहने वालों के एक नये समूह को उनके पुराने मकानों से निकालकर नयी बस्तियों में वसाने के लिए ले जाया जा रहा था तो पी० एन० धर ने प्रेमसागर गुप्ता को मिलने के लिए वुलाया। प्रेमसागर गुप्ता ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी राजेश्वर राव से कहा, "मुझे दाल में कुछ काला लगता है।" किसी ने श्रीमती गांधी से शिकायत कर दी थी कि वह इमर्जेंसी के ख़िलाफ़ थे। कई वार उनके ख़िलाफ़ मीसा में वारंट भी निकल चुके थे, इसलिए उन्होंने सोचा कि इस बार भी वही वात होगी। लेकिन धर ने उनकी सारी वातों को व्यौरे के साथ दर्ज किया और फिर उनसे पूछा, "क्या इसे प्रधान मंत्री को दिखाने के लिए मुझे आपकी इजाज़त है?"

"ज़रूर, ज़रूर।"

कुछ दिन बाद धर ने फिर टेलीफ़ोन करके उन्हें वताया कि प्रधान मंत्री इस वात की ठोस मिसालें चाहती हैं कि जो लोग अपने घरों से हटाये गये हैं उनमें से किन-किन लोगों के रोज़गार पर असर पड़ा है और कैसे। धर ने सलाह दी, "नमूने के तौर पर सौ आदमियों के वारे में पूछताछ कर लो।"

प्रेमसागर गुप्ता इसके वारे में वताते हैं, "मैंने ऐसा ही किया, और मुझे पता चला कि आधे लोगों को अपनी रोज़ी से हाथ धोना पड़ा था।" नमूने के तौर पर जो पूछताछ की गयी थी उसकी रिपोर्ट पर किसी के दस्तख़त नहीं थे। धर ने उसे प्रधान मंत्री को दे दिया। प्रधान मंत्री ने उसे संजय के हवाले कर दिया और उसने उसे फिर उन्हीं लोगों को सौंप दिया जिनके ख़िलाफ़ उसमें शिकायत की गयी थी—डी० डी० ए० को। डी० डी० ए० के एक अफ़सर, के० के० नायर इस

मामले को निवटाने के लिए तैनात कर दिये गये। उन्होंने लोगों से कहलवा लिया कि वे वहाँ बस गये हैं और बहुत ख़ुश हैं। चारों तरफ़ इतना डर छाया हुआ था कि किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी कि ख़िलाफ़ आवाज़ भी उठाये, लेकिन बाद में इन्हीं लोगों ने प्रेमसागर गुप्ता को बताया कि उन्हें धौंस देकर उनसे वे बयान लिये गये थे। प्रेमसागर गुप्ता ने पूछा, "सवाल यह है कि जाँच का काम उन्हीं हाकिमों को क्यों सौंपा गया जिनके ख़िलाफ़ शिकायत की गयी थी ?"

अगर लाखों लोग बेहतर जगहों पर और बेहतर हालात के बीच भी बसा दिये गये होते, जैसे कि बाद में बसाये गये, तब भी दो सवाल उठते हैं : इसके लिए इंसानों की मुसीबत की शक्ल में कितनी क़ीमत चुकानी पड़ी और इस बात की क्या गारंटी है कि कई लाख और लोग उनकी जगह फिर नहीं आ जायेंगे ? जिन ग़रीब लोगों को न रूखा-सूखा भोजन मिलता है और न जिन्हें भविष्य की कोई आशा होती है वे जब शहरों में भरपेट भोजन और फ़ुटपाथ पर सोने की जगह की तलाश में झुंड बाँधकर आना शुरू करेंगे तो उन्हें कौन रोक सकेगा ? हिंदुस्तानी गाँवों को कौन उनमें बसने वालों के लिए एक घर बना सकेगा, उस नरक के बजाय जिससे वे भागने की कोशिश करते हैं ?

इमर्जेंसी के दौरान संजय की बढ़ती हुई ताक़त और उससे भी ज़्यादा उसके बढ़ते हुए अहंकार के तहत गंदी बस्तियों की सफ़ाई की जो मुहिम सारे भारत में फैल गयी उसके लिए जिस चीज़ की ज़रूरत थी वह थी मानवीयता और कल्पना। लेकिन जैसा कि श्रीमती गांधी ने कहा था, संजय विचारक नहीं था, काम करने वाला आदमी था। उसके दिमाग़ में ये सारी बातें बिलकुल साफ़ थीं। उसके सामने लाखों लोग थे जो बहरहाल जानवरों जैसी ज़िंदगी बसर करते थे। अगर उन्हें खुले मैदान में मूसलाधार बारिश में ले जाकर पटक भी दिया गया तो यह उनके लिए कोई भी बात नहीं थी। उन्हें उनकी ज़मीन मिल जायेगी और धीरे-धीरे वे उस पर बस जायेंगे। इस दौरान में अगर कोई नया पैदा हुआ बच्चा मर जाता है, या कोई बूढ़ा आदमी बारिश और सर्दी का शिकार हो जाता है, और कोई परिवार बीमारी की वजह से मौत के मुँह में चला जाता है, तो क्या हुआ—"दिल्ली को खूबसूरत बनाने के लिए" इतना जोखिम तो उठाना ही पड़ेगा।

जब ये कार्रवाइयाँ दिल्ली की कड़ाके की सर्दी में भी जारी रहीं, तो शशिभूषण बौखलाकर संजय के पास गये। सेंसरशिप लागू थी; साफ़-साफ़ यह हुक्म दे दिया गया था कि अखबारों में घरों के गिराये जाने के बारे में कोई ख़बर न छपने पाये ताकि लोगों का गुस्सा न भड़के। इमर्जेंसी के दौरान हड़तालो की, विरोध करने की और प्रदर्शनों की इजाज़त नहीं थी, इसलिए फ़रियाद करने का भी कोई रास्ता नहीं था। लोगों में यह डर बिठा दिया गया था कि जो भी सच बोलेगा या किसी बेइंसाफ़ी को दूर कराने की कोशिश करेगा उसे जेल में ठूँस दिया जायेगा, जैसा कि इंदरमोहन के साथ किया गया था। इस तरह लोग अपने दिमाग़ में भी सच्चाई का सामना नहीं कर सकते थे। लेकिन शशिभूषण कांग्रेसी थे, उनका दिल्ली की समस्याओं से गहरा संबंध था और उन्हें उस लड़के के साथ, जो आम जनता के लिए एक आतंक बनता जा रहा था, अपने संबंध पर पूरा भरोसा था।

"ये लोग सर्दी में मर रहे हैं," उन्होंने संजय को झुग्गी वालों के बारे में चेतावनी दी।

संजय ने उन्हें बातों में उड़ा दिया। "लोग तो यों भी मरा ही करते हैं।"

शशिभूषण ने बाद में मुझसे कहा, "यक़ीन नहीं आता कि उसने इतनी बड़ी बात इस तरह कह दी जैसे कोई बात ही न हो। मैं जानता हूँ कि श्रीमती गांधी बेरहम नहीं हैं।"

लेकिन शिकायतें श्रीमती गांधी के पास भी पहुँच रही थीं। उन्होंने जामा-मस्जिद वाले मामले के बारे में पता करने के लिए अपने एक सबसे भरोसे के आदमी यूनुस को भेजा था। जो कार्रवाई की गयी थी वह उनके सुझावों के मुताबिक़ नहीं थी। प्रेमसागर गुप्ता ने लिखकर एक शिकायत भेजी थी और सारी बातों का पता लगाकर पूरा ब्यौरा भेजा था। धर ने उसे रोका नहीं था। लेकिन प्रधान मंत्री ने उसे उन्हीं लोगों के पास वापस भेज दिया था जिनके खिलाफ़ उसमें शिकायतें की गयी थीं। और फिर सबसे बढ़कर उनकी पुरानी दोस्त, साथी, और उनके लिए जान पर खेल जाने वाली, जैसा कि उनके बारे में मशहूर था, सुभद्रा जोशी थीं। श्रीमती गांधी ने सफ़ाई के नाम पर की जाने वाली ज़्यादतियों के बारे में बताने के लिए एक मीटिंग बुलायी जिसमें दिल्ली के संसद-सदस्यों, कार्यकारी पार्षदों, लेफ़्टिनेंट-गवर्नर और संजय ने हिस्सा लिया। सुभद्रा जोशी और शशिभूषण ने इस मीटिंग में खुलकर अपनी बातें कहीं।

सुभद्रा जोशी बयान करती हैं, "उस वक़्त तक मुझे यह नहीं मालूम था कि इसमें संजय का भी हाथ है। मैंने उसके वहाँ मौजूद होने को कोई महत्त्व भी नहीं दिया था।" लेकिन संजय ने, और उसकी माँ ने भी, सुभद्रा जोशी के रवैये को बहुत ग़ौर से देखा, और जल्दी ही सुभद्रा जोशी को इसका मज़ा भी चखना पड़ा। वह जेल तो नहीं भेजी गयीं लेकिन श्रीमती गांधी तक उनकी पहुँच धीरे-धीरे कम होती गयी। कमिश्नर टमटा ने भी इस बात को भाँप लिया था और उन्होंने सुभद्राजी को दिल्ली से कहीं बाहर चले जाने की सलाह दी थी। उन्होंने कहा था, "इसी में आपकी भलाई है।" लेकिन सुभद्रा जोशी डटी रहीं, उस भरोसे के सहारे जो श्रीमती गांधी के साथ उनकी पुरानी मित्रता और इतने पुराने साथ की वजह से पैदा हुआ था। उन्होंने एक बार फिर श्रीमती गांधी को लिखा कि "सफ़ाई की यह मुहिम बच्चों की पढ़ाई, मौसम के उतार-चढ़ाव और...रहने के लिए किसी दूसरी जगह की सुविधा को ध्यान में रखकर भी चलायी जा सकती है।"" लेकिन उन्होंने देखा कि अफ़सरों तक ने उनसे बात करना बंद कर दिया था। लेफ़्टिनेंट-गवनर कभी पलटकर टेलीफ़ोन नहीं करते थे। दूसरे अफ़सर कभी टेलीफ़ोन पर मिलते नहीं थे।

सुभद्रा जोशी कहती हैं, "दुकानों के छज्जे, झुग्गी-झोपड़ियाँ, मस्जिदें, मंदिर, सब ढा दिये गये। लोग भागे-भागे आते थे और हम बेबस महसूस करते थे।" अगर संजय बेरहम था, तो श्रीमती गांधी तो बिल्कुल पत्थर हो गयी थीं। सुभद्रा जोशी के दिल को चोट लगी थी, उनका मोह भंग हो गया था। जो कुछ हो रहा था उसके बारे में श्रीमती गांधी बिलकुल अनजान होने का जो दिखावा कर रही थीं उसके बारे में उन्होंने बहुत दुःखी होकर कहा, "वह सरासर बेइंसाफ़ी कर रही हैं। उनके जैसे व्यक्ति को, जिन्हें जनता ने अपना इतना भरपूर विश्वास और आस्था दी है, यह शोभा नहीं देता।...इसलिए मुझे बड़े दुःख के साथ कुछ ऐसी बातें सबके सामने रखने पर मजबूर होना पड़ रहा है जिनकी मुझे जानकारी है और जिनका मुझे तजुर्बा हुआ है। कोई भी ऐसी बात कहने में बहुत तकलीफ़ होती है जिससे यह साबित होता हो कि इन्दिराजी की सच्चाई में, उनके खरेपन में कोई कमी है...।"

अपनी माँ की तरह ही संजय भी कई स्तरों पर काम करने लगा था। लेकिन यह सारा सिलसिला एकतरफ़ा नहीं था। युवक कांग्रेस के जनरल-सेक्रेटरी हरचरन सिंह जोश[६५] ने वताया, "ख़ास तौर पर १२ जून के वाद, जव उसने सरगमियों में हिस्सा लेना शुरू कर दिया था, हम लोगों को, ख़ास तौर पर नौजवान लोगों को प्रधान मंत्री की कोठी पर यह दिखाने के लिए ले जाते थे कि वे लोग उनके साथ हैं। संजय हमसे भीड़ जुटाने को कहता था। उस वक़्त हमने फ़ैसला किया कि उसे युवक कांग्रेस में लाना चाहिए। हमने सोचा था कि उसके आने से हमें फ़ायदा होगा।" लेकिन इसके पंद्रह दिन के अंदर ही संजय उनके साथ युवक कांग्रेस में नयी जान फूंकने की और वीस-सूत्री कार्यक्रम को पूरा करने की चर्चा करने लगा था। लेकिन इसके लिए उसने जो तरीक़ा सुझाया वह उसका अपना ख़ास तरीक़ा था— "आंध्र प्रदेश, विहार और मध्य प्रदेश के राज्यों के अध्यक्षों को वदल दो, उनकी उम्र वहुत ज़्यादा हो गयी है।"

"कैसे ?" किसी ने पूछा।

"आंध्र प्रदेश के सिलसिले में रघुरमैया[६६] से, मध्य प्रदेश के सिलसिले में प्रकाशचंद्र सेठी[६७] से और विहार के मामलों में सीताराम केसरी से मशविरा लो," संजय ने सलाह दी।

इससे न सिर्फ़ यह वात साफ़ हो गयी कि वे कौन-से प्रमुख कांग्रेसी थे जिन पर उसे भरोसा था, वल्कि यह भी साफ़ हो गया कि सवसे ऊपर चोटी पर जितनी भी ताक़त और जितना भी असर था उसे वह इस्तेमाल करने जा रहा था। उस समय प्रियरंजन दासमुंशी[६८] युवक कांग्रेस के अध्यक्ष थे। वह उस वक्त तो राज़ी हो गये। लेकिन जव उन्होंने केरल के संसद-सदस्य वायलार रवि[६९] से इस वातचीत के वारे में चर्चा की तो उन्होंने वहुत जलकर कहा, "तुम नौजवानों के वादशाह हो, वह तो सिर्फ़ प्रधान मंत्री का वेटा है।" मुंशी तीनों अध्यक्षों के वारे में फ़ैसला करने में टालमटोल करने लगे। आख़िरकार मध्य प्रदेश और आंध्र प्रदेश के अध्यक्ष तो वदल दिये गये, लेकिन विहार के अध्यक्ष को उन्होंने नहीं वदला। संजय ने महसूस किया कि यह उसका अपमान है और उसकी सत्ता को चुनौती दी जा रही है। जोश ने कहा, "सितंवर में संजय ने राज्यों के युवक कांग्रेस के अध्यक्षों की एक मीटिंग वुलायी। कांग्रेस के जनरल-सेक्रेटरी पी० वी० नरसिंह राव भी इस मीटिंग में आये थे। वहाँ सहमति से यह फ़ैसला किया गया कि मुंशी को हटा दिया जाये। उस वक़्त संजय युवक कांग्रेस का मेंवर भी नहीं था!"

और तव अंविका सोनी मैदान में आयीं।

चौंतीस-वर्षीया, मिलनसार, सभ्य-शिष्ट तथा महत्त्वाकांक्षी अंविका सोनी में एक स्वस्थ आकर्षण था। एक वार जव वह अपने पति के साथ (जो विदेश सेवा में थे) मैक्सिको गयी थीं तो वहाँ कास्ट्रो से मिली थीं और उनसे वेहद प्रभावित हुई थीं; वहीं, जव श्रीमती गांधी एक सरकारी दौरे पर गयी हुई थीं अंविका सोनी प्रधान मंत्री से मिली थीं और विलकुल मंत्रमुग्ध हो गयी थीं। अंविका ने प्रधान मंत्री से कांग्रेस में काम करने की अनुमति चाही, और जव उन्होंने स्वीकृति दे दी तो अंविका सोनी अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र की चमक-दमक छोड़कर अपने देश के रंगमंच पर आ गयीं। इस क्षेत्र में उनका पहला अनुभव था मुकुल वनर्जी[७०] के चुनाव का अभियान जो १९७१ के लोकसभा के चुनाव में दिल्ली से कांग्रेस के टिकट पर खड़ी हुई थीं। अंविका सोनी दिल्ली में कांग्रेस के दफ़्तर और विदेश, जहाँ भी उनके पति नियुक्त होते थे, के वीच चक्कर लगाती रहती थीं; इसी वीच दिल्ली

में संजय का दौर आया और युवकों को वहुत वढ़ावा मिला। प्रियरंजन दासमुंशी के इस्तीफ़ा देने के वाद जव 'अध्यक्ष पद के लिए अंविका' का नारा दिया गया तो युवक कांग्रेस के कुछ पुराने नेताओं को, जो स्वयं इस पद को पाने के लिए लालायित थे, यह सुझाव कुछ रुचिकर नहीं लगा। लेकिन जव उन्होंने जान लिया कि यह पद उन्हें नहीं मिल सकता तो वे संजय को अध्यक्ष वनाने के लिये जोड़-तोड़ करने लगे। संजय स्वयं यह नहीं चाहता था कि वह इसके लिए राज़ी हो, ताकि लोग कहीं यह न सोचें कि उसने मुंशी को इसी उद्देश्य से निकलवाया था। लेकिन यह फ़ैसला भी वह अपने-आप नहीं लेना चाहता था। जव हरचरनसिंह जोश, सुरेंद्रसिंह (वंसीलाल का वेटा, जो युवक कांग्रेस का कोषाध्यक्ष था) और गुंडूराव,[११] जो कर्नाटक मंत्रालय में सूचना-मंत्री थे और स्वयं युवक कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके थे, संजय को इसके लिए राज़ी करने गये तो उसने कहा, "मुझे तो कोई दिलचस्पी है नहीं, लेकिन इन्दिराजी से वात कर लीजिये...।"

जब ये तीनों लोग प्रधान मंत्री के प्राइवेट सेक्रेटरी धवन के पास मिलने का समय तय करने गये, तो उन्होंने यह कहकर इस मामले को अपने ही स्तर पर ख़त्म कर दिया कि वह जानते थे कि प्रधान मंत्री इस वात को पसंद नहीं करेंगी और उन्हें यह अच्छा नहीं लगेगा कि लोग यह कहें कि मुंशी के वाद वह अपने वेटे को अध्यक्ष वनाना चाहती थीं।

जोश वताते हैं, "हमने सोचा कि यह श्रीमती गांधी के विचार के अनुकूल वात है। हमने यह वात संजय को वता दी। उसने भी कह दिया कि ठीक है। लेकिन मैं समझता हूँ कि इसमें अंविका सोनी ने कुछ जोड़-तोड़ की थी। धवन के साथ उनकी दोस्ती थी। इसके अलावा मैं समझता हूँ कि संजय ने अपने मन में यह तर्क भी दिया होगा कि वह अंविका सोनी को सामने रखकर युवक कांग्रेस को अपने इशारों पर चला सकेगा।"

अंविका सोनी को कांग्रेस के अध्यक्ष ने १२ नवंवर १९७५ को युवक कांग्रेस का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। ६ दिसंवर को विभिन्न राज्यों के अध्यक्षों की मीटिंग में इस फ़ैसले पर मुहर लगा दी गयी और संजय को भारतीय युवक कांग्रेस की राष्ट्रीय परिषद का एक सदस्य वनाया गया, जो उसका पहला राजनीतिक पद था। हर आदमी जानता था कि युवक कांग्रेस के पीछे असली शक्ति अंविका सोनी नहीं वल्कि वही होगा। और, इसकी वानगी यह थी कि कुछ परंपराएँ तो फ़ौरन तोड़ दी गयीं। पहले राज्यों के युवक कांग्रेस के अध्यक्ष को पैसा प्रदेश कांग्रेस कमेटियों से मिलता था और अखिल-भारतीय युवक कांग्रेस को ए० आई० सी० सी० से। यह सिलसिला वदल दिया गया। कांग्रेस अध्यक्ष वरुआ ने पहली वार युवक कांग्रेस को सीधे पैसा इकट्ठा करने की इजाज़त दे दी। जोश ने कहा, "पहले हम कांग्रेस का ही एक हिस्सा थे। हम कांग्रेस के संगठन के पीछे चलते थे, जिसने हमें जन्म दिया था, लेकिन हम नेतृत्व भी करते थे। १९७२ के वाद युवक कांग्रेस के अध्यक्ष को कांग्रेस वर्किंग कमेटी की मीटिंगों में भी आमंत्रित किया जाने लगा था। लेकिन संजय के आने के वाद झगड़ा शुरू हो गया।"

अंविका सोनी वताती हैं, "मेरे अध्यक्ष वनने से पहले न कोई पैसा था, न कोई हिसाव-किताव था, और मुझे वहुत-से क़र्ज़ चुकाने थे। मैंने पचास लाख सदस्यता के फ़ॉर्म छपवाये; जो भी उन्हें ले जाता था दस्तखत कर देता था, लेकिन पदाधिकारियों को हर फ़ॉर्म के पैंतीस पैसे देने पड़ते थे। पहली वार हमने वैंक में हिसाव खोला। अगर सौ रुपये भी निकालने होते थे तो दो आदमियों को दस्तखत

करने पड़ते थे—कोषाध्यक्ष को और मुझे। दफ़्तर की तरफ़ से चायवाले के साथ भी हिसाब था और उसके लिए बाक़ायदा रसीद देनी पड़ती थी। मैं संजय की इस बात से बेहद प्रभावित हुई कि जब लोग मेरे पास पैसा देने आते थे तो मैं उसके पास जाती थी और वह कहता था, 'नहीं, नहीं, अंबिका, मैं पैसे-वैसे के झंझट में नहीं पड़ना चाहता।' बाद में जो कुछ हुआ उससे यह सब-कुछ इतना भिन्न था कि समझ में नहीं आता कि किस बात पर विश्वास करूँ। उस पर राजनीति की छाप तो है ही नहीं...।"

संजय के साथी जितने ही अधिक आग्रह के साथ कहते हैं कि उसे राजनीति से कोई मतलब नहीं है, उतनी ही अधिक यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन सारी राजनीतिक चालों के पीछे एक ही आदमी हो सकता था—उसकी माँ। ज़ाहिर है कि उसकी माँ जब किसी को किसी काम के लिए चुनती थीं तो उसकी कसौटी राजनीतिक होती थी। अंबिका सोनी को श्रीमती गांधी राजनीति में लायी थीं, और अंबिका घोर राजनीतिक प्रवृत्ति की हैं। जब संजय किसी को चुनता था तो वह भी उसी की तरह का कोई आदमी होता था जिसे राजनीति से कोई मतलब नहीं होता था, और इस तरह राजनीतिक मंच का स्तर दिन-ब-दिन घटिया होता गया।

दिसंबर में एक दिन उसने अंबिका से कहा, "यहाँ एक ऐसा शख़्स मौजूद है जिसकी चारों तरफ़ बड़ी धूम है।"

"कौन ?" अंबिका ने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

"रुख़साना सुल्ताना[२]," संजय ने कहा।

उसी वक़्त मैं भी पहली बार चमक-दमकवाली रुख़साना से मिली, जो एक दिन तीसरे पहर १ अकबर रोड पर संजय से मिलने के लिए आये हुए तरह-तरह के लोगों की भीड़ में अलग एक कुर्सी पर बड़ी शान से बैठी थी। उसकी उम्र बत्तीस साल की थी और वह बहुत आकर्षक थी। वह दिल्ली के एक प्रमुख नागरिक सर शोभासिंह के पोते से शादी करके उससे तलाक़ भी ले चुकी थी। सर शोभासिंह ने लुतयेन के नक़्शे के मुताबिक़ नयी दिल्ली का निर्माण करने की ठेकेदारी में लाखों रुपये कमाये थे। मैं रुख़साना को कितने ही सांस्कृतिक समारोहों में देख चुकी थी और मैं उसे इस तरह भी जानती थी कि उसे गाने से—और बक़ौल आस्कर वाइल्ड, गवैयों से—बहुत लगाव था।

"आप यहाँ क्या कर रही हैं ?" मैं पूछे बिना रह न सकी।

"मैं संजयजी के लिए काम करने आयी हूँ," रुख़साना ने जवाब दिया। "गंदी बस्तियों में," उसने यह भी बता देना ज़रूरी समझा।

मैंने उसके बड़ी ख़ूबसूरती के साथ सँवारे गये चेहरे, उसकी कमानदार भवों, नाक पर से बार-बार नीचे फिसलते हुए बड़े-से काले चश्मे के पीछे से झाँकती हुई चंचल काली आँखों और लंबे-लंबे रँगे हुए नुकीले नाख़ूनों, घने काले घुँघराले बालों, कानों में हीरे के बुंदों और उँगलियों पर हीरे की अँगूठियों और बहुत सहज भाव से बड़े सलीक़े से पहनी गयी शिफ़ान की गहरे रंग की छपी हुई साड़ी को ध्यान से देखा। उसके चारों ओर फ्रांसीसी इत्र की ख़ुशबू बसी हुई थी। देखने में वह बेहद फ़ैशन करने वाली और ऐश-आराम में अपना वक़्त काटने वाली भड़कीली औरत लगती थी और थी भी। मैं सोच रही थी, यह गंदी बस्तियों में क्या करेगी, और किन गंदी बस्तियों में ?

"जामा मस्जिद," उसने कहा। "देखिये, बात यह है कि जब मैंने सुना कि

संजयजी इसमें दिलचस्पी ले रहे हैं और चाहते हैं कि लोग उनके लिए काम करें, तो मुझमें बहुत जोश पैदा हुआ। पहली बार मेरा कुछ करने को जी चाहा। मैंने आकर उनसे कहा कि वह जो भी काम दें मैं करने को तैयार हूँ। 'जामा मस्जिद जाओगी?' उन्होंने मुझसे पूछा। 'मैं चाहता हूँ कि कोई वहाँ जाकर सफ़ाई और परिवार नियोजन का काम करे।' मैं मानती हूँ कि पहले तो मैं ज़रा चकरायी। मुझे यह भी नहीं मालूम था कि गंदी बस्ती होती कैसी है और मैंने सुन रखा था कि जामा मस्जिद बहुत ही गंदी जगह है। मैंने एक क्षण के लिए सोचा, लेकिन फिर कहा, 'हाँ, मैं वहाँ काम करूँगी।' तुम जानो, यह बहुत बड़ी चुनौती थी और चुनौतियों का सामना करने से मुझे प्रेम है। और इस तरह मैंने वहाँ काम करना शुरू कर दिया। मैं वहाँ पिछले दो महीनों से जा रही हूँ।"

रुख़साना के वाचाल आकर्षण में कोई टेढ़ापन नहीं था और न ही उसकी उस तीखी स्पष्टवादिता में जिसके साथ उसने पुराने कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं के बारे में अपने विचार व्यक्त किये। "डालिंग," उसने अपनी आदत के अनुसार मुझे इस प्यार-भरे शब्द से संबोधित करते हुए बड़े राज़दाराना ढंग से कहा, "मैंने संजयजी से कह दिया कि मैं न खद्दर पहनूँगी, न पाउडर-लिपस्टिक इस्तेमाल करना छोड़ूँगी और न अपना रंग-ढंग ही बदलूँगी। मैं जैसी हूँ उसी तरह जाऊँगी, और इसी रूप में अपने को स्वीकार कराऊँगी। मैं उन औरतों की तरह मक्कारी नहीं करूँगी। आप तो जानती ही हैं, वे बनती बड़ी लजीली और शर्मीली हैं और अपनी सारी नेकी-बदी पर खद्दर का परदा डाले रहती हैं, लेकिन जब कोई चीज़ हासिल करने का मौक़ा आता है तो ज़रा-सा इशारा पाते ही अपनी साड़ियाँ अपने सर के ऊपर तक उठा देती हैं!"

मैंने सोचा, जामा मास्जिद में तो बड़ी उथल-पुथल मची होगी, लेकिन यही हालत तो दिल्ली के ड्राइंग-रूमों की भी थी, और बंबई में तो यक़ीनन रही होगी जहाँ रुख़साना पुराने ज़माने के ज़ेवरों की डिज़ाइनर की हैसियत से जानी-पहचानी हस्ती थी, जिन्हें वह आमतौर पर फ़िल्मी सितारों के हाथ बेचती थी। मुझे पता चला कि जामा मस्जिद के इलाक़े में उसने अपना काम स्कूलों से शुरू किया, जहाँ जाकर वह सफ़ाई के बारे में लोगों को बताती थी और उनसे बुर्क़ा पहनने की बुरी आदत छोड़ देने को कहती थी। एक तरफ़ जहाँ इस बाद वाली बात की वजह से इस कट्टर और दक़ियानूसी समाज में लोग उसके ख़िलाफ़ भड़क उठे, वहीं दूसरी तरफ़ उसने उन्हें यह भी महसूस करवा दिया कि वह उनके कितने ही काम करवा सकती है, कि सारा प्रशासन उसके साथ है, और यह कि उसकी पीठ पर संजय का हाथ है। रुखसाना ने कई कठिनाइयाँ दूर करायीं, कई समस्याएँ जो बहुत दिन से टलती आ रही थीं हल करवायीं और प्रशासन के संबंधित अफ़सर को एक टेलीफ़ोन करके पैसे की मंज़ूरी दिलवायी। वह अच्छी तरह जानती थी कि लेफ़्टिनेंट-गवर्नर के स्पेशल असिस्टेंट नवीन चावला[1] ने जो संजय के बचपन के दोस्त थे, उनसे कह रखा था कि उसे हर तरह की मदद दी जाये। ये सारी कड़ियाँ इतनी साफ़ थीं कि लोग फ़ौरन समझ गये थे कि यह सब-कुछ किसके इशारे पर हो रहा है। रुख़साना संजय का ज़िक्र बड़ी बेबाकी से करती थी। एक दिन कुछ लोग १२ नरेंद्र प्लेस में उसके घर उसका इंटरव्यू लेने गये। वह बहुत बढ़िया ग़रारा पहने अपने पलंग पर घुटने ऊपर उठाये हुए बैठी थी और किसी को ख़त लिख रही थी। "माफ़ करना, डालिंग," उसने माफ़ी माँगते हुए कहा, "मैं संजयजी के नाम यह नोट पूरा कर लूँ...।"

जब मैंने उसे सर्ज का वह अंक दिखाया जिसमें संजय का इंटरव्यू छपा था और कवर पर संजय की तस्वीर थी, तो उसने बेहद ख़ुश होकर बड़े नख़रे से कहा, "ओह, संजू...!"

संजय ख़ुद उसके ख़िलाफ़ एक भी शब्द सुनने को तैयार नहीं था।

"नवीन तो ख़ैर चारों ख़ाने चित हो ही गये थे," अंबिका सोनी ने कहा। "मेरे युवक कांग्रेस के लड़के आकर मुझे ताना देते थे—'अंबिकाजी, आपने अपने लिए क्या हासिल किया? रुख़साना को देखिये! वह चलती है तो उसके पीछे कई मोटरें चलती हैं। भगत, हीरासिंह सब उसके पीछे-पीछे फिरते हैं।' जब मैंने संजय से कहा, तो वह बोला, 'नहीं, वह बहुत अच्छा काम कर रही है।'"

इमर्जेंसी के पहले आधे दौर में परिस्थितियाँ केवल एक संकट की ओर बढ़ रही थीं। अनुशासन की वजह से काम-काज कुछ ठीक से होने लगा था। लोग दफ़्तर समय से आते थे, रेलगाड़ियाँ वक़्त से चलती थीं, हड़ताल करने की इजाज़त न होने की वजह से उत्पादन भी बढ़ा था, भारत में क़ीमतों का बढ़ना बिलकुल रुक गया था जो कि बाक़ी दुनिया को देखते हुए एक बहुत बड़ा कमाल था, और हर चीज़ के बारे में लगन की एक लहर थी—जनता को सुखी बनाने के लिए श्रीमती गांधी के बीस-सूत्री कार्यक्रम से लेकर संजय गांधी के उस पाँच-सूत्री कार्यक्रम तक जो उसने लोगों के एक नीरस और श्रमसाध्य कर्त्तव्य के रूप में तैयार किया था। ऐसा जताया जा रहा था जैसे संजय के पास सभी समस्याओं का हल है। उसका कार्यक्रम "भारत के युवकों के लिए" तीन सूत्रों से शुरू हुआ था, जिस तरह उसकी माँ का बीस-सूत्री कार्यक्रम "देश में फिर से साहसपूर्ण काम करने की भावना पैदा करने" के लिए था।

संजय ने १० जनवरी को बंबई में "परिवार नियोजन, सफ़ाई और दहेज प्रथा के ख़िलाफ़" मुहिम चलाने का नारा दिया था। बाद में उसने उसे बढ़ाकर पाँच-सूत्री कार्यक्रम बना दिया था—"परिवार नियोजन, पेड़ लगाना, जातपाँत का ख़ात्मा, प्रौढ़ शिक्षा और दहेज पर पाबंदी।"

संजय जो कुछ कहता था वह ठीक था। लेकिन वह जो कुछ भी करता था वह ग़लत होता था। उसके पास कोई ऐसा ढाँचा नहीं था जिसमें वह अपने विचारों को बिठा सकता। उसके पाँच सूत्रों में एक समाज-सुधार आंदोलन के अंकुर ज़रूर थे—अगर उसने कुछ मूल्यों को उचित प्राथमिकता दी होती। वह एक ऐसा नौजवान था जिसे अपनी क्षमता और उपयोगिता साबित करने की बहुत जल्दी थी।

जवाहरलाल नेहरू ने रूसी इतिहास से उपमा देते हुए इन्दिरा को 'क्रांति की संतान' कहा था, क्योंकि उसका जन्म उसी वर्ष हुआ था जिस वर्ष क्रांति हुई थी। संजय इमर्जेंसी की राजनीति पर पला-बढ़ा था और उसकी राजनीतिक दीक्षा पर एक विकृत युग के सभी दुर्गुणों की छाप थी। अपने पाँच-सूत्रों को लेकर गाँवों में जाने, जनता को समझा-बुझाकर जागृति के पथ पर लाने वाली शक्ति के रूप में नवयुवकों को संगठित करने और अपने लिए एक राजनीतिक आधार तैयार करने के बजाय वह दिल्ली में बैठा-बैठा अफ़सरों को अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के साधन की तरह इस्तेमाल करता रहा और पूरे कांग्रेस संगठन की जड़ खोखली करता रहा। वही ग़रीब लोग जो कांग्रेस के साथ थे सबसे पहले उससे दूर हो गये क्योंकि उसने अपना राजनीतिक जीवन शुरू करने के लिए जो कार्यक्रम तैयार किया था उसका असर अमीरों पर नहीं बल्कि ग़रीबों पर पड़ता था।

लेकिन बाहरी रूप बहुत नाटकीय था, वह अपनी बात इतने थोड़े शब्दों में और इतने स्पष्ट ढंग से कहता था, पुराने कांग्रेसियों के लंबे-चौड़े भाषणों की तरह नहीं, कि एक तरफ़ शुरू-शुरू में कुछ उत्साह पैदा हुआ तो उसके साथ ही डर भी पैदा हुआ। उसके एक मित्र ने कहा, "मैं तो उसे भी दोष नहीं देता। मैं उसकी माँ को दोषी ठहराता हूँ। माँ होने के नाते उन्हें यह मालूम होना चाहिए था कि वह क्या कर सकता है। एक नौजवान अराजनीतिक आदमी पर इतना बड़ा बोझ लाद देना उचित नहीं था। ज़ाहिर है, उसका दिमाग़ ख़राब हो गया।"

लेकिन उसके बारे में या उसके काम के बारे में एक भी बात ऐसी नहीं थी जिसका उसकी माँ को, प्रधान मंत्री को पता न रहा हो। उन्होंने दिल्ली का शहर, और इसके शीघ्र ही बाद कुछ चुने हुए अच्छे-अच्छे उत्तरी राज्य, भले ही उसके हवाले कर दिये थे लेकिन हर चीज़ अब भी उन्हीं के साथ जुड़ी हुई थी—शिकायतें, तकलीफ़ और उनके शासन की राजनीतिक बारीकियाँ। संजय के हाथ में ताक़त थी लेकिन उसकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं थी, जो एक घातक बात थी। इसकी इजाज़त उसकी माँ ने दी थी; कांग्रेस के नेताओं ने इसका समर्थन किया था। संजय ने जितनी आसानी से अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ा लिया उसके पीछे और कोई कारण हो ही नहीं सकता—दिल्ली में पुरानी बस्तियाँ उजाड़ने और नयी बस्तियाँ बसाने के काम के बाद बंबई, जयपुर, आगरा और पूरे उत्तरी भारत में उसने पुरानी बस्तियाँ उजाड़ने और नयी बस्तियाँ बसाने का बीड़ा उठा लिया; दिल्ली के क्षेत्र से बढ़कर उसने उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान को भी अपनी परिधि में समेट लिया; दिल्ली प्रशासन के अधिकारियों तक ही सीमित न रहकर उसने केंद्रीय सरकार के मंत्रियों और राज्यों के मुख्य मंत्रियों पर भी हुक्म चलाना शुरू कर दिया; अपने पाँच-सूत्री कार्यक्रम के क्रियान्वयन पर चर्चा करने से बढ़कर वह राजनीतिक समस्याओं के बारे में सबसे बड़ा सलाहकार बन गया।

लेकिन हर उदाहरण में सारी जोड़-तोड़ केंद्र में नेतृत्व की दूसरी सीढ़ी पर, राज्य-मंत्रियों के बीच या कैबिनेट के नौजवान मंत्रियों के बीच होती थी जो युवकों की श्रेणी में आते थे, जो संजय का अधिकार-क्षेत्र बन गया था। बड़े नेताओं को हाथ लगाये बिना उनके पद से सत्ता का तत्व निकाल लिया गया; वे किसी प्राचीन इमारत के ठोस खंभों की तरह खड़े थे, जिसकी दीवारें और छतें समय के क्रूर हाथों का शिकार हो चुकी थीं। संजय गृह-मंत्री ब्रह्मानंद रेड्डी से नहीं बल्कि राज्य-मंत्री ओम मेहता से, वित्त-मंत्री सी० सुब्रह्मण्यम[४] से नहीं बल्कि राज्य-मंत्री प्रणव मुखर्जी[५] से, उद्योग मंत्री टी० ए० पै[६] से नहीं बल्कि राज्य-मंत्री ए० पी० शर्मा से और दिल्ली के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर किशनचंद से नहीं बल्कि उनके स्पेशल असिस्टेंट नवीन चावला से संपर्क रखता था।

जगजीवनराम, वाई० बी० चह्वाण या स्वर्णसिंह जैसे लोगों को तो संजय के प्रभाव-क्षेत्र में खींचकर नहीं लाया जा सकता था, लेकिन डी० पी० चट्टोपाध्याय और विद्याचरण शुक्ल जैसे नौजवानों को लाया जा सकता था जिनके सामने अभी तरक़्क़ी करने के बहुत अवसर थे। सबसे बढ़कर तो बंसीलाल थे जो केन्द्रीय रक्षा-मंत्री नियुक्त होने के बाद कैबिनेट में संजय की सीधी पहुँच हो गये। लेकिन यह कोई नहीं कह सकता कि श्रीमती गांधी के चाहे बिना ही बंसीलाल कैबिनेट के तीन सबसे प्रमुख पदों में से (बाक़ी दो विदेश-मंत्री और गृह-मंत्री के पद थे) एक पर नियुक्त कर दिये गये थे।

राज्यों को क़ाबू में रखना ज़्यादा आसान था क्योंकि यह एक ढर्रा बना लिया गया था कि, बहुत बड़ी हद तक इन्दिरा गांधी की निजी साख की वजह से, केन्द्र को इस बात का पूरा अधिकार दे दिया गया था कि वही आदमियों को चुने और बाद में उन्हें राज्यों की विधानसभाओं से स्वीकार करा ले। साठे ने कहा, "जब भी वह किसी आदमी को नामज़द करती थीं तो इस बात का पक्का प्रबंध कर लेती थीं कि ज़्यादातर विधायक उसका समर्थन करें। जो कोई भी उनसे टक्कर लेता था, जैसे बहुगुणा या नंदिनी सत्पथी, उसे उन्होंने हटा भले ही दिया हो, लेकिन वह इस बात का पूरा आश्वासन कर लेती थीं कि उसकी जगह जो अगला आदमी आये उसे विधायकों के बहुमत का समर्थन प्राप्त रहे।" इससे यही साबित होता है कि राजनीतिक जोड़-तोड़ की उनमें कितनी अधिक क्षमता थी; इससे उनकी साख की भी पुष्टि होती है, जिसके सहारे वह अपनी बात आदेश देकर मनवा लेती थीं।

केवल ऐसे मुख्य मंत्री स्वीकार किये जाते थे जिनकी उम्र कम हो, या जो इतने कमज़ोर या ख़ुशामदी हों कि संजय के स्तर पर काम कर सकें। जिन लोगों की सीधे प्रधान मंत्री तक पहुँच थी, या जो अपने को इतना ताक़तवर समझते थे कि संजय के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दें, या जिन्हें अपना पद छोड़ देने के लिए राज़ी नहीं किया जा सकता था (जैसे पश्चिम बंगाल में सिद्धार्थशंकर रे या उड़ीसा में नंदिनी सत्पथी) तो या तो उन्हें बदनाम करने के लिए अंदर-ही-अंदर एक मुहिम छेड़ दी जाती थी या पार्टी के अंदर एक विरोधी गुट बना दिया जाता था जो संजय-समर्थक गुट कहलाने लगता था। इन बाग़ी राज्यों के मंत्रिमंडल भी दो टुकड़ों में बँटे रहते थे—एक तरफ़ वे लोग होते थे जो मुख्य मंत्री के साथ होते थे और दूसरी तरफ़ वे लोग होते थे जो संजय के समर्थक माने जाते थे। हिमाचल प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री डॉ० परमार[७] ने बताया, "मंत्री खुलेआम धड़ल्ले से मुख्य मंत्री के ख़िलाफ़ आरोप लगाते हैं और फिर भी अपने पद पर बने रहते हैं। यह बात खुलेआम कही गयी है कि मंत्रियों को प्रधान मंत्री के प्रति वफ़ादार होना चाहिए, अपने मुख्य मंत्री के प्रति नहीं, जिसे केवल उनका समर्थन पाने का हक़ है।" उन्होंने आगे चलकर बड़े व्यंग्य से पूछा, "क्या इसका यह मतलब है कि मंत्री अपने मुख्य मंत्री की इच्छा पूरी न करें बल्कि स्वतंत्र रूप से काम करें?"

बहुगुणा की जगह उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री बन जाने और केन्द्र के साथ अपने संबंध पक्के कर लेने के बाद नारायणदत्त तिवारी ने एक बार अपने साथी विधायकों से कहा था, "अगर आप लोगों को उल्टा भी लटकवा दिया जाये तब भी आप लोग मुझे हटा नहीं सकते। और अगर वे मुझे हटाना चाहेंगे तो आप लोग मेरी कोई मदद नहीं कर सकते, इसलिए मैं आप लोगों की परवाह क्यों करूँ?"

जब लोगों ने सुखदा मिश्र के ख़िलाफ़ कुछ शिकायतें कीं, जिन्हें बंसीलाल ने १९७४ में उत्तर प्रदेश से चुनाव का टिकट दिला दिया था, तो तिवारी ने कहा, "मैं संजय और बंसीलाल की बदौलत मुख्य मंत्री बना हूँ, इसलिए मुझसे सुखदा के बारे में कुछ न कहिये।..."

"सालाज़ार[८] ने इतने दिन तक सत्ता अपने हाथों में कैसे रखी?" एक दिन संजय ने शशिभूषण से पूछा।

शशिभूषण का दिल धक् से रह गया।

"वह प्रोफ़ेसर था, अर्थशास्त्री था और बहुत पढ़ा-लिखा था।"

शशिभूषण ने सोचा था कि अगर संजय को यह बता दिया जाये कि डिक्टेटर-शिप के लिए ये गुण ज़रूरी हैं, तो वह यह महसूस कर लेगा कि वह ख़ुद सालाज़ार बनने के सपने नहीं देख सकता।

लेकिन शशिभूषण के दिल में एक घबराहट पैदा हुई।

ऐसा लगता है कि इन्दिरा गांधी यह समझती थीं कि जो लोग बड़े-बड़े सिद्धांतों की बातें करते हैं, लगातार सवालों की बौछार की वजह से उन्हें जिस परेशानी का सामना करना पड़ता है, और उनके लिए दिन-ब-दिन जो यह ज़रूरी होता जा रहा था कि हाईकोर्ट के फ़ैसले के असर को ख़त्म करने के लिए वह जल्दी-से-जल्दी और ज़्यादा-से-ज़्यादा सफलता प्राप्त करके दिखायें, उन सब बातों का एक ही इलाज है—संजय। संजय इन्दिरा गांधी के लिए उनके अपराध का समाधान था।

टिप्पणियाँ

१. रफ़ीअहमद क़िदवई शायद जवाहरलाल नेहरू के सबसे सफल मंत्री थे। उन्होंने जिस तरह संचार-मंत्रालय का, और बाद में खाद्य-मंत्रालय का काम सँभाला उसे अब तक सूझ-बूझ और साहस के लिए लोग याद करते हैं। वह बोलते बहुत कम थे लेकिन प्रशासन का पूरी तरह साथ देते थे और उनकी व्यवहार-बुद्धि बहुत प्रखर थी। १९५४ में लगभग ६० वर्ष की अवस्था में उनका देहांत हो गया।

२. चरणसिंह, जिन्हें लोग आमतौर पर 'चौधरी' कहते हैं, चालीस वर्ष लखनऊ में रहे हैं, लेकिन वह इतने दृढ़ स्वभाव के और इतने कार्यकुशल हैं कि उन्हें 'ठेठ यू० पी० वाला' नहीं कहा जा सकता। उनका काम करने का ढंग देहाती है और उनकी महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे इतनी चालाकी रहती है कि वह अपनी मर्ज़ी से राजनीतिक गँठजोड़ बनाते-बिगाड़ते रहते हैं। उत्तर प्रदेश में चंद्रभानु गुप्ता की कांग्रेसी सरकार का तख़्ता उलटने के लिए उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी और १९६७ में संयुक्त विधायक दल की सरकार के मुख्य मंत्री बने। उन्होंने अपनी नयी पार्टी भारतीय क्रांति दल (नवंबर १९६७ में स्थापित, जिसका नाम १९७४ में बदलकर भारतीय लोकदल कर दिया गया) का जिस तरह नेतृत्व किया उसकी वजह से वह उत्तर प्रदेश की राजनीति में इतनी प्रभावशाली शक्ति बन गयी कि वह मुख्य मंत्री बनने में सफल हुए। उनका विश्वास है कि भारत का भविष्य तभी उज्ज्वल हो सकता है जब किसान का बेटा प्रधान मंत्री बने। ऐसा लगता है कि चौधरी साहब को इसके लिए इंतज़ार करना होगा।

३. कृष्णचंद्र पंत केवल छियालीस वर्ष के हैं और उन पर अपने स्वर्गीय प्रतिभाशाली पिता पंडित गोविंदवल्लभ पंत की गंभीरता की छाप है, जिन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया था और स्वतंत्र भारत में नेहरू के साथी थे। १९६७ के बाद से के० सी० पंत इंदिरा गांधी की सरकार में विभिन्न मंत्रालयों में राज्य-मंत्री रहे लेकिन स्वतंत्र रूप से किसी मंत्रालय का भार उन्होंने पहली बार १९७४ में सँभाला जब वह ऊर्जा-मंत्री बने। उन्होंने

ख़ामोशी के साथ बड़ी दक्षता के साथ काम करने और गुटबन्दी से अलग रहने की ख्याति प्राप्त कर ली है। उन्हें स्क्वैश खेलने का शौक है। वह कांग्रेस पार्टी के जनरल-सेक्रेटरी हैं और उन पर बहुत कठिन कामों का भार है।

४. एच० के० एल० भगत छोटे क़द के बहुत चुस्त और मुस्तैद राजनीतिज्ञ हैं। उनका जन्म १९२१ में ऐतिहासिक हरप्पा गाँव में हुआ था, जो अब पाकिस्तान में है। बँटवारे के बाद वह दिल्ली आये और वकालत से राजनीति के क्षेत्र में आ गये। उन्होंने पंजाब को नहीं बल्कि दिल्ली को अपना ठिकाना बनाया और वह उन इने-गिने पंजाबियों में से हैं जिन्हें दिल्लीवाला माना जाता है। तीस साल से भी कम की उम्र में वह दिल्ली सरकार में पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी बने और तब से लगातार उन्नति ही करते रहे हैं—प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष, फिर संसद-सदस्य, अंत में कार्यक्रम क्रियान्वयन समिति के अध्यक्ष और फिर केन्द्रीय निर्माण तथा आवास-मंत्रालय में राज्य-मंत्री। कांग्रेस से उन्हें हमेशा बहुत लगाव रहा है और अब भी है।

५. ए० एन० चावला, जो इस समय तिरसठ साल के हैं, बर्मा में पैदा हुए थे और रंगून के यूनिवर्सिटी कॉलेज में उन्होंने शिक्षा पायी। वह लगातार कांग्रेस के साथ संबद्ध रहे और संगठन में उन्नति करते-करते इन्होंने संसद में स्थान प्राप्त किया। सुप्रीम कोर्ट के इस फ़ैसले की वजह से उन्हें अपनी सीट से हाथ धोना पड़ा कि किसी उम्मीदवार की राजनीतिक पार्टी या उसके मित्र उसके चुनाव पर जो पैसा ख़र्च करें वह भी उसके अपने ख़र्च के साथ जोड़ दिया जाना चाहिए, जिसकी वजह से उनका अपना चुनाव का ख़र्च निर्धारित सीमा से बढ़ गया। १९७४ में **जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम** के बारे में यह फ़ैसला किया गया कि वह पहले से लागू माना जायेगा और इस प्रकार वह श्रीमती गांधी पर भी लागू हो गया जिनका मुक़द्दमा उस वक़्त अदालत में पेश था।

६. शिवचरण गुप्ता भी दिल्ली के पुराने नेता हैं, जिनकी बुनियाद संगठन में बहुत मज़बूत हैं। वह बहुत मृदुभाषी हैं। उनकी उम्र पचपन साल की है और बाल सफ़ेद हैं। १९५२ में वह दिल्ली सरकार में कांग्रेसी पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी, १९५२-५३ में उप-मंत्री, और १९६७-७२ में दिल्ली की मेट्रोपोलिटन कौंसिल में विपक्ष के नेता थे। उन्होंने जगजीवनराम के साथ २ फ़रवरी, १९७७ को कांग्रेस छोड़ दी क्योंकि वह महसूस करते थे कि पार्टी के काम करने के तरीक़े से किसी की आत्म-सम्मान की भावना को बढ़ावा नहीं मिल सकता।

७. छप्पन-वर्षीय पी० वी० नरसिंह राव का जन्म करीमनगर (आंध्र) में हुआ था। राजनीति के क्षेत्र में वह एक अनोखे आदमी हैं। वह एक प्रतिष्ठित लेखक हैं और उतने ही सफल राजनीतिज्ञ भी। १९६२ में वह आंध्र प्रदेश में संजीव रेड्डी के मंत्रिमंडल में मंत्री रहे और १९६४ में फिर ब्रह्मानंद रेड्डी के मंत्रिमंडल में मंत्री बने। १९७१ से १९७३ तक उन्होंने स्वयं मुख्य मंत्री का पद भी सँभाला। जब वह कांग्रेस के जनरल-सेक्रेटरी बने तो इस पद की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी, परंतु वह इतने अधिक स्वतंत्र विचारों के आदमी थे कि उन परिस्थितियों में बहुत दिन तक उस पद पर नहीं रह सके।

८. ज़ैलसिंह का जन्म १९१६ में एक ग़रीब बढ़ई के घर में हुआ था। उनमें आगे बढ़ने की इतनी लगन और इतना साहस था कि वह ऊपर शिखिर तक पहुँच

गये और १९७२ में पंजाब के मुख्य मंत्री बने। वह सीधे तने हुए शरीर वाले काफ़ी हट्टे-कट्टे सिख हैं; वह बहुत शांत स्वभाव के हैं और आवश्यकता पड़ने पर काफ़ी चिकनी-चुपड़ी बातें भी कर सकते हैं। वह उन तीन या चार मुख्य मंत्रियों में से थे जो हमेशा चढ़ते सूरज की परिक्रमा करते रहते थे; दिल्ली का हर आदेश उन्हें बहुत स्पष्ट सुनायी देता था।

९. मार्गरेट आल्वा अभी केवल पैंतीस वर्ष की हैं और इस संसद की एक सबसे अल्पव्यस्क सदस्य हैं। मंगलौर (कर्नाटक) से क़ानून की परीक्षा में सर्वप्रथम रहकर उन्होंने स्वर्ण-पदक प्राप्त किया। मार्गरेट से पहले भी उनके परिवार के लोग दिल्ली में रह चुके थे। उनकी स्वर्गीया सास वायलेट आल्वा, जिनमें अपार स्फूर्ति और उत्साह था, राजनीतिक क्षेत्र की नेता थीं, और उनके ससुर भी संसद के सदस्य रह चुके थे।

इस पृष्ठभूमि के साथ मार्गरेट आल्वा ने संविधान में संशोधन के सवाल में सक्रिय रूप से दिलचस्पी ली, और अपनी सर्वतोमुखी सजगता के कारण पार्टी के तथा संसद के काम में उन्होंने बड़ी लगन के साथ हिस्सा लिया। उनमें हरदम जीवन का उत्साह उमड़ता रहता है।

१०. ओम मेहता के बारे में हालाँकि यह मशहूर है कि इमर्जेंसी के दौरान वह बहुत बड़े अत्याचारी थे, लेकिन देखने में वह ऐसे बिलकुल नहीं लगते। पचास वर्ष की उम्र में उनका शरीर बहुत ढीला-ढाला और स्थूल लगता है। उन्होंने संसदीय मामलों में अपनी बहुत गहरी छाप डाली है। वह अपने शांत स्वभाव से लोगों का ग़ुस्सा ठंडा कर देते हैं और उनसे अपनी बात मनवा लेते हैं, और अपने इसी गुण की बदौलत वह किसी भी बिल को स्वीकार कराने में सफल हो जाते हैं।

ओम मेहता का जन्म किश्तवार (जम्मू) में हुआ था। कुछ समय तक उन्होंने कश्मीर की राजनीति पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। केन्द्र की राजनीति में लाने के लिए उन्हें १९६४ में राज्यसभा का सदस्य चुना गया और बाद में उन्हें मंत्रिमंडल में ले लिया गया। इस वर्ष मार्च में कांग्रेस सरकार का तख़्ता उलटने के समय तक वह गृह-मंत्रालय में राज्य-मंत्री थे।

११. अर्जुनदास का जन्म १९३१ में लाहौर में हुआ था। १९४५ में केवल पंद्रह वर्ष की उम्र में वह कांग्रेस के सदस्य बने। लक्ष्मीबाई नगर में उनकी एक मोटर साइकिल मरम्मत करने की दुकान थी और बढ़ते-बढ़ते जब वह मेकैनिक बन गये तो संजय गांधी के संपर्क में आये। वहीं से उनकी क़िस्मत का सितारा चमक उठा। १९७२ में वह मेट्रोपोलिटन कौंसिल के सदस्य बने। वह छोटे कद के, गठे हुए शरीर के, काले रंग के आदमी हैं और आम लोगों के साथ उनका व्यवहार बहुत उजड्ड और फूहड़ ढंग का है।

१२. राज कौशिक का जन्म १२ अप्रैल १९३९ को दिल्ली में हुआ था। अपने छात्र-जीवन में उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लिया। आम जनता की भलाई के लिए इन्दिरा गांधी की नीतियों का प्रचार करने के लिए उन्होंने 'विदूषक संघ' नामक राष्ट्रीय सांस्कृतिक तथा सामाजिक संस्था की स्थापना की। हिन्दी साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए वह राष्ट्रीय ख्याति के कवियों की सहायता से स्वतंत्रता दिवस के एक दिन पहले सब्ज़ी मंडी में कवि-सम्मेलन का आयोजन करते हैं। समाज के कमज़ोर वर्गों के छात्रों में वह मुफ़्त पाठ्य-पुस्तकें, दवाएँ और कपड़े बाँटते हैं। वह सदर क्षेत्र से कांग्रेस के विशेष प्रति-

निधि हैं और कार्यक्रम क्रियान्वयन समिति के सदस्य थे।

१३. अगर फ़ीरोज़ गांधी पाँच साल भी और ज़िन्दा रह जाते तो उनका परिचय इन्दिरा गांधी के पति के रूप में देने की कोई ज़रूरत ही नहीं रह जाती। १९६० में अड़तालीस वर्ष की उम्र में उनका देहान्त हो गया। वह संसद में इतनी प्रभावशाली शक्ति बनते जा रहे थे कि जब भी वह बोलने खड़े होते थे तो सदन में एक खलबली-सी मच जाती थी। वह बहुत मस्त और हँसी-मज़ाक करने वाले आदमी थे, पर इसके साथ ही उनमें कठिन परिश्रम और ऐसा ठोस काम करने की क्षमता थी कि जब वह संसद में बड़े-बड़े व्यापारिक साम्राज्यों की काली करतूतों का भंडाफोड़ करते थे तो उनका खंडन करना असंभव होता था और मंत्रियों तथा बड़े-बड़े अफ़सरों को इस्तीफ़ा देना पड़ता था। संसद के सेन्ट्रल हाल का 'फ़ीरोज़ कार्नर' हमेशा विचारोत्तेजक बहस, हँसी-मज़ाक और फ़िक़रेबाज़ी का केन्द्र बना रहता था।

१४. यह पूरा इंटरव्यू परिशिष्ट १ के रूप में पुस्तक के अन्त में देखिये।

१५. अट्ठावन-वर्षीय पृथ्वीनाथ धर १९६१ में पी० एन० हक़सर के बाद प्रधान मंत्री के मुख्य प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए। पहले इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ़ इकनॉमिक ग्रोथ में प्रोफ़ेसर रह चुकने के कारण उनका काम करने का ढंग हक़सर जितना भड़कीला नहीं था; उनमें सत्ता का उपयोग करने की क्षमता भी बहुत कम थी। सच तो यह है कि धर के ज़माने में यह पद उपयोगी तो रहा पर उसका महत्त्व कम होता गया। केवल पद का रौब था, काम करने के ढंग का नहीं।

१६. **इण्डियन एक्सप्रेस**, २९ अगस्त १९७५।

१७. पैंतालीस-वर्षीय धर्मवीर सिन्हा का जन्म (पटना के पास) बरहा नामक स्थान में हुआ था। छोटा क़द, गहरा रंग और घुँघराले बाल। उनका बोलने का ढंग उनकी सूरत-शक्ल से अधिक प्रतिभाशाली है। वह बिहार के रहने वाले हैं। १९४६ में वह फ़ार्वर्ड ब्लाक में आये और १९४७ में ही पटना ज़िला कमेटी के सदस्य बन गये। १९७० में वह राज्य सरकार में श्रम, सूचना तथा पर्यटन के मंत्री बने। केन्द्र में आने पर उन्होंने सूचना तथा प्रसारण-मंत्रालय में आई० के० गुजराल और वी० सी० शुक्ला दोनों ही के साथ उप-मंत्री की हैसियत से काम किया, लेकिन ऐसा नहीं हुआ कि वह आते ही सब पर छा गये हों और इस दौरान वह अज्ञात ही रहे। वह काफ़ी क्रांतिकारी विचारों के आदमी हैं।

१८. श्रीमती ताजदार बब्बर नयी दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी की सदस्य और समाज कल्याण विभाग की अध्यक्ष हैं। लगभग चार वर्ष तक वह डाक-तार कर्मचारी संघ की अध्यक्ष और वक़्फ़ बोर्ड की सलाहकार समिति की सदस्य भी रहीं। वह लगभग पचीस वर्ष से नयी दिल्ली में रहती आयी हैं और पार्टी के कार्यक्रमों के लिए काम करती रही हैं। वह ग़रीबों के बीच दवाएँ बाँटने और ग़रीब बीमारों को इलाज के लिए अस्पताल में भरती कराने के लिए मशहूर हैं। उन्होंने ऐसी ग़रीब लड़कियों की शादी का भी बंदोबस्त क़राया है जिनके माँ-बाप उनकी शादी का ख़र्च नहीं बर्दाश्त कर सकते थे।

१९. छत्तीस-वर्षीया अंबिका सोनी ने भारतीय युवक कांग्रेस की अध्यक्ष की हैसियत से गौरव के कुछ तूफ़ानी महीने बिताये, जब राजनीति के क्षेत्र में संजय गांधी के प्रवेश के कारण युवक कांग्रेस की चर्चा कांग्रेस से भी ज़्यादा

होने लगी थी। वह एक आई० सी० एस० अफ़सर की बेटी और भारतीय विदेश सेवा के एक अफ़सर की पत्नी हैं। उनकी पृष्ठभूमि उस भूमिका के लिए, जो उन्होंने अपने वास्ते चुनी थी, बहुत सीमाओं में जकड़ी हुई और रूढ़िवादी थी। वह बहुत अच्छी वक्ता हैं और राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने बड़े संतुलित ढंग से तथा उत्साह के साथ काम करके उन्नति की। अब वह राज्यसभा की सदस्य हैं।

२०. अजीतसिंह चड्ढा, जो अपने जीवन के चौथे दशक में हैं, पहली बार चर्चा का विषय उस समय बने जब वह १९६८-६९ में दिल्ली यूनिवर्सिटी स्टूडेंट्स यूनियन के प्रेसिडेंट चुने गये। १९७३ में वह दक्षिण दिल्ली कांग्रेस के अध्यक्ष बने। सत्ता से उनका सम्पर्क भी बहुत अल्पकालीन रहा। वह गोरे रंग और छोटे क़द के एक बहुत ही चुस्त और मुस्तैद सिख हैं। वह संजय के साथ ही आये और उसी के साथ चले गये। चुनाव के दौरान पार्टी के ख़िलाफ़ काम करने के अपराध में उन्हें कांग्रेस से निकाल दिया गया।

२१. जैनेन्द्रकुमार जैन का जन्म १९३९ में अलीगढ़ में हुआ था लेकिन हर एतबार से वह दिल्ली वाले हैं। वह पत्रकार-राजनीतिज्ञ हैं और जैसा कि वह स्वयं कहते हैं, उन्हें "बड़ी-बड़ी हस्तियों से मिलने, यात्रा करने और सामाजिक कार्य" के प्रति गहरी रुचि है। वह हवाई जहाज़ उड़ाने तथा पर्यटन के बारे में एवियन नामक एक मासिक पत्रिका निकालते हैं और एक प्रकाशन संस्था चलाते हैं जिसका मुख्य काम उद्योगों के बारे में डायरेक्टरियाँ छापना है। अब तक उनकी सबसे सफल योजना हिन्दी में एक सांध्य दैनिक दूरदेश निकालने की रही है। वह दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। जैन राधारमण के दल के आदमी माने जाते थे।

२२. चौधरी हीरासिंह का जन्म नरेला में १९१६ में हुआ था और वहीं उन्होंने प्राथमिक शिक्षा प्राप्त की। १९४२ में वह नरेला ब्लाक कमेटी के अध्यक्ष चुने गये। १९५१ से १९५८ तक वह दिल्ली ज़िला बोर्ड के अध्यक्ष थे। १९६४ से वह दिल्ली ग्रामीण कांग्रेस कमेटी के उपाध्यक्ष रहे हैं। २६ अप्रैल १९७५ को उन्होंने दिल्ली प्रशासन में कार्यकारी पार्षद (विकास) का कार्यभार सँभाला।

२३. इक्यावन-वर्षीय बहादुरराम टमटा उत्तर प्रदेश के पी० सी० एस० अफ़सर हैं जो जुलाई १९६० में भारतीय सीमा प्रशासन सेवा में ले लिये गये थे। वह दिल्ली कुछ समय के लिए कैबिनेट सेक्रेटेरियट में लाये गये थे और यहाँ काफ़ी समय रहकर उन्होंने नेशनल डिफ़ेंस कॉलेज की परीक्षा पास की और उसके बाद से दिल्ली की नागरिक प्रशासन की संस्थाओं से सम्बद्ध रहे। वह एक प्रकार से नगरपालिका के काम-काज के विशेषज्ञ बन गये। इसलिए इमर्जेंसी के दौरान गंदी बस्तियों की सफ़ाई के सिलसिले में उनकी सेवाओं को बहुत उपयोगी समझा गया। उन्होंने आवश्यकता से अधिक उत्साह दिखाया और उनकी ज़रूरत से ज़्यादा कारगुज़ारी उन्हें ले डूबी। इस समय वह अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह के विकास कमिश्नर हैं।

२४. जगमोहन का जन्म १९२७ में हुआ था। नगर-नियोजन के प्रति उनका रुख अत्यन्त क्रियाशील है। आवास-मंत्रालय में, और फिर दिल्ली विकास प्राधिकरण के उपाध्यक्ष के रूप में वह कई वर्षों से दिल्ली के विकास से सम्बद्ध रहे हैं। इमर्जेंसी के दौरान उनकी विवादास्पद भूमिका में सबसे बड़ा व्यंग्य

का पहलू यह है कि उन्हें "दिल्ली के लिए मास्टर-प्लान तैयार करने तथा उसे पूरा करने में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए, विभिन्न विकास प्रायोजनाओं के निरूपण तथा क्रियान्वय में एक अग्रणी की भूमिका अदा करने के लिए, और गंदी बस्तियों की सफ़ाई के मामले में नयी दिशाएँ उन्मुक्त करने के लिए" पद्मश्री की उपाधि से सम्मानित किया गया था। अब उन्हें निर्माण तथा आवास-मंत्रालय के आधीन नेशनल इंस्टीच्यूट ऑफ़ अर्बन अफ़ेयर्स का कार्यभार सौंपा गया है।

२५. इंदरमोहन का जन्म लाहौर में हुआ था और इस समय वह पचपन वर्ष के हैं। १९४० में वह ऑल-इंडिया स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन में आये और भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के कार्डधारी सदस्य और साथ ही कांग्रेस के भी सदस्य रहे। कांग्रेसी होने के नाते उस वर्ष उन्होंने कांग्रेस के रामगढ़ अधिवेशन में भाग लिया। १९४२ में वह गिरफ़्तार हुए। १९४७ में वह ट्रेड यूनियन संगठित करने का काम करने लगे और जब उसी वर्ष के अन्त में शेख़ अब्दुल्ला कश्मीर के प्रधान मंत्री बने तो इंदरमोहन उनकी राजनीतिक पार्टी नेशनल कांफ्रेंस की ओर से कश्मीर में काम करने चले गये।

१९५५ के बाद से इंदरमोहन किसी भी राजनीतिक पार्टी के सदस्य नहीं रहे और उन्होंने सामाजिक कार्य का क्षेत्र अपने लिए चुना।

२६. वक़्फ़ मुस्लिम धर्मार्थ संस्थान हैं जो मुस्लिम बादशाहों तथा सामंतों ने शताब्दियों पहले स्थापित किये थे। इनके पास ज़मीनें, मकान और दुकानें होती हैं जिनकी आमदनी दरगाहों, मस्जिदों की देखभाल के लिए और ग़रीबों को खाना खिलाने के लिए इस्तेमाल की जाती है। भारत में वक़्फ़ का काम-काज केन्द्रीय मंत्रिमंडल का एक मुस्लिम मंत्री और हर राज्य में एक मुस्लिम मंत्री देखता है। केन्द्रीय मंत्री के तहत एक केन्द्रिय वक़्फ़ बोर्ड और हर राज्य के मंत्री के तहत एक वक़्फ़ बोर्ड होता है। इनकी व्यवस्था की समस्या इतनी नाज़ुक इसलिए हो जाती है कि कुल वक़्फ़सम्पत्ति का अनुमान लगभग ४०० करोड़ रुपये का लगाया जाता है। इस पर लगभग ४० करोड़ रुपये का सूद ही आना चाहिए। वास्तव में केवल नौ लाख रुपये ही मिलते हैं। नतीजा यह है कि समाज के बहुत बड़े हिस्से का भला करने के बजाय वे केवल मुट्ठी-भर मुतवल्लियों (उपासना-गृहों की देखभाल करने वालों) की जेबें भरने के काम आता है।

२७. मीर मुश्ताक़ अहमद बासठ वर्ष के हैं, पर देखने में इससे अधिक बूढ़े लगते हैं। उनकी आदतों का उनके शरीरिक स्वास्थ्य पर काफ़ी बुरा असर पड़ा है लेकिन उनका दिमाग़ अब भी इतना चुस्त है कि इमर्जेंसी के दौरान बच-बचकर बहुत संतुलित ढंग से चलने की वजह से वह अपनी जान बचाये रखने में सफल रहे। १९३६ में स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन के सदस्य की हैसियत से उनकी वामपंथी विचारधारा इतनी उग्र नहीं थी कि वह खुले विरोध को उकसाती। १९४० में वह व्यक्तिगत सत्याग्रह में जेल गये। १९४२ में वह एक बार फिर जेल गये। साम्प्रदायिक दंगों के ज़माने में वह दिल्ली में मजिस्ट्रेट नियुक्त किये गये। १९४७ में वह कांग्रेस छोड़कर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी में चले आये। १९६२ में वह फिर कांग्रेस में चले आये और दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सेक्रेटरी और १९७२ में उसके अध्यक्ष तथा मेट्रोपोलिटन कौंसिल के चेयरमैन बने। वह बहुत धीमी चाल से चलते हैं और

उनकी आँखें उनके चश्मे के मोटे शीशों के पीछे से एक अस्पष्ट-से भाव से झाँकती रहती है और हर समय ऐसा लगता है कि वह खोये-खोये हुए हैं। इमर्जेंसी में भी उनका नज़रिया उसी तरह धुँधला रहा।

२८. दानियाल लतीफ़ी इस समय साठ वर्ष के हैं। उनके पूर्वज बहुत प्रतिभाशाली थे। उनके दादा स्व० जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी थे जो १८८७ में कांग्रेस के अध्यक्ष थे। जिसकी ओर से कोई लड़ने को तैयार न हो उसके लिए लड़ने का प्रबल उत्साह और जो भी मुक़द्दमा हाथ में लें उसे जीतने की लगन इनको उत्तराधिकार में मिली। उन्होंने रगबी के स्कूल में और फिर ऑक्सफ़र्ड में ऑनर्स स्कूल ऑफ़ जूरिसप्रूडेंस में शिक्षा प्राप्त की जिसकी वजह से वह छात्रों की क्रांतिकारी राजनीति में आये और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से दूर हटने के बजाय उसकी ओर आकर्षित हुए। मोहन कुमारमंगलम और फ़ीरोज़ गांधी के साथ मिलकर उन्होंने ब्रिटेन और आयरलैंड में भारतीय छात्रों के संगठनों का संघ स्थापित किया। भारत लौटने पर वह अंडरग्राउंड रहे, जेल गये। फिर स्वतंत्रता आयी, उन्होंने वकालत शुरू की और इमर्जेंसी के दौरान फिर वही लाचारों के लिए लड़ने का सिलसिला शुरू हुआ। इसमें आश्चर्य ही क्या है कि इंदरमोहन ने उनका सहारा लिया!

२९. किशनचंद, जो अब साठ वर्ष के हैं, आई० सी० एस० अफ़सर हैं और ब्रिटिश साम्राज्य के शासन के 'फ़ौलादी ढाँचे' के एक आख़िरी सदस्य हैं। अपने छात्र-जीवन में उन्होंने अनन्य प्रतिभा का परिचय दिया, वियना से जर्मन भाषा में डिप्लोमा लिया, लंदन से एल-एल० एम० किया और फिर कुछ दिन लंदन में पढ़े। वह नयी दिल्ली में अफ्रीकी-एशियाई ग्राम्य पुनर्निर्माण संगठन के सेक्रेटरी-जनरल थे जब उन्हें राजधानी के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर के पद पर नियुक्त किया गया और उन्हें सत्ता के केंद्र के बहुत निकट रहने के सारे जोखिमों का सामना करना पड़ा। वह भारी डील-डौल के आदमी हैं, चश्मा लगाते हैं, लेकिन देखने से उनमें दंभ बिलकुल नहीं मालूम होता। वह अपनी जी-हुज़ूरी को भी कोई नया रूप नहीं दे पाये।

३०. सुभद्रा जोशी (विवाह से पहले सुभद्रा दत्त) १९१९ में बरूर (मध्य प्रदेश) में पैदा हुई थीं और उन्होंने लाहौर के फ़ॉर्मन क्रिश्चियन कॉलेज में शिक्षा पायी। १९४८ में बी० डी० जोशी से उनका विवाह हुआ। १९५२ में वह ३३ वर्ष की अवस्था में भारत की पहली लोकसभा की सदस्य चुनी गयीं और उसके बाद १९५७, १९६२ और १९७१ में फिर चुनी जाती रहीं। वामपंथी राजनीति और धर्म-निरपेक्षता के प्रति उन्हें गहरा लगाव है। उन्होंने मुसलमानों के बीच बहुत काम किया है और देश के बँटवारे के बाद दिल्ली के सांप्रदायिक दंगों के दौरान उन्होंने इन्दिरा गांधी के साथ काम करके इन लोगों से अपने संपर्क स्थापित किये। बहुत लगन के साथ काम करने के कारण सभी लोग उन्हें मानते हैं। इमर्जेंसी के दौरान वह अनेक अंतर्विरोधों का शिकार हो गयीं।

३१. जामा मस्जिद के इमाम और उनके बेटे को केंद्रीय वक़्फ़ बोर्ड से वेतन मिलता है। इस्लाम में वंशानुगत उत्तराधिकार नहीं माना जाता है। बिलकुल शुरू में भी ख़लीफ़ा चुने ही जाते थे। जामा मस्जिद के आस-पास की दुकानें गिरायी जाने से पहले उनका किराया इमाम को मिलता था। फ़रवरी १९७५ में कुछ झगड़ा हुआ था; नायब इमाम (बेटा) बाप की जगह इमाम

बन बैठा और उसने और माँगों के अतिरिक्त अपना वेतन बढ़वाने की माँग लेकर वक़्फ़ बोर्ड की मीटिंग के ख़िलाफ़ प्रदर्शन का नेतृत्व किया। मारपीट हुई। इमाम को गिरफ़्तार कर लिया गया। जेल से निकलने पर वह पूरी तरह राजनीति में डूब गये। सरकार और कांग्रेस के ख़िलाफ़ उन्होंने जो ज़ोरदार प्रवचन किये उनकी वजह से, इमाम के प्रकट सनकीपन के बावजूद, मुसलमानों के बीच कांग्रेस के ख़िलाफ़ गुस्सा भड़काने में बहुत मदद मिली। वह नौजवान और हट्टे-कट्टे हैं, लंबी दाढ़ी रखते हैं और ढीला-ढाला चोग़ा पहनते हैं; वह सुनने वालों के मन में अपनी बात भले ही न बिठा पायें पर उन्हें भावनाओं के प्रवाह में बहा ज़रूर ले जाते हैं।

३२. यूनुस प्रधान मंत्री के विशेष दूत, एशिया व्यापार मेले के प्राधिकरण के अध्यक्ष, गुट-निरपेक्ष देशों की समाचार एजसियों के सामूहिक संगठन की समन्वय समिति के अध्यक्ष, 'समाचार' के डायरेक्टर, असोशिएटेड जरनल्स लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर, इंडियन कम्युनिकेशन सटर के डायरेक्टर, स्टील अथॉरिटी, इंडियन टेलीफ़ोन इंडस्ट्रीज़ और जनरल इंश्योरेंस के डायरेक्टर और बोर्ड ऑफ़ ट्रेड तथा अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी की कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष रहे।

३३. शाहनवाज़ ख़ाँ का जीवनवृत्त बहुत असाधारण रहा है। उनका जन्म १९१४ में माटोर में हुआ था और उन्होंने देहरादून के प्रिंस ऑफ़ वेल्स रॉयल इंडियन मिलिटरी कॉलिज में शिक्षा पायी। १९३६ में वह फ़ौज में अफ़सर बने, लेकिन बाद में जब क्रांतिकारी नेता सुभाषचंद्र बोस ने अँग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए आज़ाद हिंद फ़ौज बनायी तो वह उसमें शामिल हो गये। शाहनवाज़ आज़ाद हिंद फ़ौज में मेजर-जनरल थे। जब अँग्रेजों ने उन पर और उनके साथियों पर लाल क़िले में मशहूर मुक़द्दमा चलाया तो वह लगभग फाँसी के तख़्ते तक जाकर लौट आये। वह इतने कोमल स्वभाव के हैं कि उनकी आवाज़ भी बहुत मृदु गहराइयों में खोकर रह जाती है। वह केंद्रीय खाद्य तथा कृषि-मंत्रालय में राज्य-मंत्री थे और वक़्फ़ का काम भी देखते थे।

३४. डी० डी० ए० ने १ सितंबर १९६२ को **दिल्ली विकास अधिनियम** के अंतर्गत दिल्ली के लिए एक मास्टर प्लान (१९६२-८१) तैयार किया था।

वर्षों के दौरान, विशेष रूप से १९४७ के बाद से जामा मस्जिद के आस-पास के इलाक़े की हालत दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही थी। जामा मस्जिद की पत्थर की सीढ़ियों पर और उसके आस-पास के इलाक़े में सैकड़ों कबाड़ियों की दुकानें क़ायम हो गयी थीं और खोमचे वाले बैठने लगे थे। मस्जिद के पूर्वी ओर जो कबाड़ियों की दुकानें थीं उन्हें डी० डी०ए० ने साफ़ करवाकर वहाँ मुग़ल ढंग का एक कई स्तरों वाला बाग़ लगवाया। लेकिन जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर और उसके आस-पास जो ६०० लोग अपनी दुकानें लगाये बैठे थे उन्हें हटाना एक टेढ़ी समस्या बन गया था। उनको वहाँ से हटाकर पास ही पाईवालान के इलाक़े में बसाने की योजना शाहजहानाबाद के पुनर्निर्माण के कार्यक्रम के एक अभिन्न अंग के रूप में तैयार की गयी थी। पंडित नेहरू और मौलाना आज़ाद भी इस योजना से सहमत थे, लेकिन संजय ने इसे देखते ही रद्द कर दिया।

३५. शेख़ अब्दुल्ला कश्मीर के राजनीतिक तूफ़ानों का केन्द्र रहे हैं, और उनके

जीवन के उतार-चढ़ाव ही वस्तुत: केंद्र के साथ कश्मीर के संबंधों का निर्धारण करते हैं। लंबा क़द, रौबदार डीलडौल, लहज़ा कुछ अक्खड़ पर स्वभाव से बहुत भावुक, वह गांधी और नेहरू के मित्र थे। १९४७ के बाद भारत के साथ कश्मीर के संबंधों के सवाल के बारे में उनके रवैये के कारण उनके बारे में कुछ संदेह उत्पन्न हो गये। इसलिए १९५३ में उन्हें जेल में बंद कर दिया गया। वह एक बार फिर अपनी प्रिय मातृभूमि के मुख्य मंत्री हैं। शेख़ साहब कहते हैं, "मुझे तो बस कश्मीर से मतलब है।"

३६. जवाहरलाल नेहरू।

३७. मौलाना अबुल कलाम आज़ाद भी नेहरू के साथी थे। उनका संबंध उस युग से था जो भारत की अधिकांश उदीयमान पीढ़ियों के लिए धीरे-धीरे अतीत की एक स्मृति मात्र बनकर रह गयी है। वह इतने प्रभावशाली वक्ता थे कि उन्हें इसके लिए हमेशा याद किया जायेगा। स्वतंत्रता से पहले के भारत में वह कांग्रेस के अध्यक्ष और १९४७ के बाद केंद्रीय सरकार में शिक्षा-मंत्री रहे। वह एकांतप्रिय विद्वान भी थे और राजनेता भी। अपनी पुस्तक **इंडिया विंस फ्रीडम** के परिशिष्ट के रूप में वह कुछ अप्रकाशित दस्तावेज़ भारत के आधुनिक युग की विवादग्रस्त प्रवृत्तियों के बारे में और उन्हें जन्म देने वाले लोगों के बारे में अपने विचारों के विवरण की तरह बाद में पढ़ने के लिए छोड़ गये हैं। उनका देहांत १९५८ में हुआ।

३८. ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ाँ भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सरहदी गांधी के नाम से भी जाने जाते थे, क्योंकि उन्होंने उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत के ज़रा-ज़रा-सी बात पर गोली चला देने वाले अपने क़बायली भाइयों के बीच अहिंसा का सिद्धांत बड़ी सख़्ती के साथ लागू कर दिया था। अ-सांप्रदायिक राजनीति के क्षेत्र में उनकी यह सफलता कमाल की थी; उनकी मृदुभाषी प्रभाव-सत्ता ने वस्तुत: मानव-स्वभाव पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। बादशाह ख़ाँ यह समझते थे कि देश का बँटवारा विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच एकता के उनके ध्येय के प्रति विश्वासघात है और उन्होंने यह घोषणा कर दी कि उनके लोगों को "भेड़ियों के आगे डाल दिया गया था।" वह अपनी मातृभूमि पाकिस्तान में भी अभी तक अन्याय और बेइंसाफ़ी के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई चला रहे हैं। इसी वजह से वह जेल और बीमारी, नज़रबंदी और आज़ादी के बीच अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

३९. स्वर्गीय सज्जाद ज़हीर, प्रख्यात उर्दू लेखक और कम्युनिस्ट, १९४८-४९ में पाकिस्तान के प्रधान मंत्री लियाक़त अली ख़ाँ की हत्या के प्रसिद्ध रावलपिंडी षड्यंत्र कांड में एक अभियुक्त थे।

अरुणा आसफ़ अली, जो अब साठ की उम्र पार कर चुकी हैं, बहुत कट्टर कांग्रेसी हैं जो जयप्रकाश नारायण के बहुत निकट आयीं और अंत में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुईं। उनके पति, कांग्रेसी नेता आसफ़ अली, अमरीका में भारत के पहले राजदूत थे।

मज़हर अविभाजित पंजाब के मुख्य मंत्री सर सिकंदर हयात ख़ाँ तिवाना के भतीजे थे। वह **पाकिस्तान टाइम्स** के संपादक भी रहे थे।

पेरिन चन्दर (विवाह से पहले बरूचा) लाहौर में स्टूडेंट्स फेडरेशन की और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्य थीं। वह वामपंथी प्रकाशन-समूह के **लिंक** साप्ताहिक और **पैट्रियट** दैनिक से अलग हो जाने वाले लोगों

के साप्ताहिक न्यूवेव से संबंधित हैं। वह विश्व शांति तथा एकजुटता सगठन की अध्यक्ष हैं।

रमेश चन्दर के पिता आई० सी० एस० अफ़सर थे, पर वह ख़ुद शासन-सत्ता की व्यवस्था से विमुख होकर पक्के कम्युनिस्ट बन गये। रमेश चन्दर इस समय विश्व शांति परिषद के सेक्रेटरी-जनरल हैं।

रेणु चक्रवर्ती (विवाह से पहले राय) प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता और नेहरू के साथी स्वर्गीय डॉ० विधानचंद्र राय की भतीजी हैं। कैंब्रिज में उन्होंने शिक्षा पायी और फिर कम्युनिस्ट बनीं और लोकसभा की सदस्य चुनी गयीं। वह पहले कॉलेज में पढ़ाती थीं और बाद में बहुत जोशीली क्रांतिकारी बन गयीं।

निखिल चक्रवर्ती **मेनस्ट्रीम** के संपादक हैं।

पार्वती कृष्णन् संसद की कम्युनिस्ट सदस्य हैं। मोहन कुमारमंगलम उनके भाई थे और उनके पिता डॉ० सुब्बारायन नेहरू की सरकार में श्रम-मंत्री थे।

४०. उनहत्तर-वर्षीय डॉ० ज़ैनुल-आबेदीन अहमद क्रिकेट के बहुत प्रेमी हैं। उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन कांग्रेस से आरंभ किया और १९३७-४० में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति के सदस्य रहे। १९४३ में वह उत्तर प्रदेश में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे और १९५१ तक उसकी केंद्रीय समिति के सदस्य बन चुके थे। १९७३ में वह अखिल-भारतीय किसान सभा के अध्यक्ष बने। वह संसद के सदस्य हैं और राजनीतिक विषयों पर लिखने के प्रति रुचि रखते हैं।

४१. सत्तर-वर्षीय हीरेन मुखर्जी भारतीय राजनीति में अपने-आप में एक संस्था हैं। उन्होंने ऑक्सफ़र्ड और लिंकंस इन (लंदन) में शिक्षा पायी, फिर स्वयं पढ़ाने लगे, कांग्रेस में आये, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में रहे और धीरे-धीरे अधिक उग्रपंथी राजनीतिक दर्शन की ओर आकर्षित हुए और कम्युनिस्ट बने। एक बार उन्होंने कहा था, "मैं मुहम्मद यूनुस को कई वर्षों से जानता हूँ। एक दोस्त की हैसियत से मैं उसकी क़द्र करता हूँ। देशभक्ति उनकी नस-नस में समायी हुई है, उन्हें अपने देश पर गर्व है और वह आत्म-सम्मान की भावना से ओत-प्रोत हैं।"

४२. बासठ-वर्षीय ज्योति बसु १९४० में भारत लौटने से पहले ही ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। १९४८ में वह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सेक्रेटेरियट में एक सेक्रेटरी बन चुके थे, और १९६४ में जब कम्युनिस्ट पार्टी दो टुकड़ों में बँट गयी तो वह मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के साथ आ गये। १९६९ में पश्चिमी बंगाल में जब पहली बार ग़ैर-कांग्रेसी संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी तो वह उसमें उप-मुख्य मंत्री और गृह-मंत्री थे। १९७७ में वह पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार के मुख्य मंत्री बने।

४३. बासठ-वर्षीय राजेश्वर राव १९६४ से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल-सेक्रेटरी हैं।

४४. **सेक्यूलर डेमोक्रेसी**, ११ अप्रैल १९७७।

४५. हरचरनसिंह जोश गोरे रंग, लंबे क़द के एक ख़ूबसूरत तैंतीस-वर्षीय वकील और युवक नेता हैं। इस दिशा में उनकी रुचि छात्र संघ की राजनीति से

आरम्भ हुई। १९६९ में उन्होंने हंगरी में अंतर्राष्ट्रीय युवक कांग्रेस में भारतीय युवक कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया था। १९७४ में वह अखिल-भारतीय युवक कांग्रेस के जनरल-सेक्रेटरी बने। १९७५ में संजय की शुरू की हुई मुहिम के अनुसार उन्होंने परिवार नियोजन कैंप लगाये लेकिन उनका कहना है कि इनके सिलसिले में उनका रवया 'प्रशासनात्मक' नहीं बल्कि 'राजनीतिक' था। माच १९७७ के चुनाव में कांग्रेस की हार का लेखा-जोखा करने के लिए वह मध्य प्रदेश के लिए पर्यवेक्षक नियुक्त किये गये थे।

४६. के० रघुरमैया का जन्म १९१२ में आंध्र प्रदेश के संगमजागरलामुडी नामक स्थान में हुआ था। वह श्रीमती गांधी की सरकार में संसदीय मामलों और निर्माण तथा आवास के केंद्रीय मंत्री रहे लेकिन इन्दिरा-विरोधी प्रबल लहर भी १९७७ के चुनाव में उनके जीतने में बाधक नहीं हो सकी और वह लगातार पाँचवीं बार लोकसभा में चुनकर आये। कॉलेज के दिनों में वह एक प्रभावशाली वक्ता के रूप में स्वर्ण-पदक जीत चुके थे। उन्होंने मिडिल टेंपुल (लंदन) में वकालत पढ़ी, फिर सरकारी अफ़सर बने ओर ट्रेड-यूनियन नेता रहे। अंत में वह राजनीति में आये और १९५७ में उन्होंने नेहरू के ज़माने में रक्षा उप-मंत्री की हैसियत से अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया और अंतिम कांग्रेस सरकार तक विभिन्न मंत्रालयों में मंत्री रहे। वह बड़े गर्व के साथ दावा करते थे कि वह नेहरू-परिवार की दो पीढ़ियों की सेवा कर चुके हैं और तीसरी पीढ़ी की—संजय की—सेवा करने को तैयार हैं।

४७. भूरी आँखों, गोल चेहरे और शिष्ट आचरण वाले सत्तावन-वर्षीय प्रकाशचंद्र सेठी देखने में इतनी उम्र के नहीं लगते। केवल अपने दृढ़ संकल्प और साहस के बल पर वह मुख्यत: केंद्र की राजनीति में उन्नति करते-करते शिखर तक पहुँच गये। उनका जन्म राजस्थान में हुआ था पर वह मध्यप्रदेश के रहने वाले हैं। १९६१ में पहली बार वह राज्यसभा के सदस्य चुने गये, १९६७-७० में लोकसभा के सदस्य और इस्पात तथा खान-मंत्रालय म उप-मंत्री रहे। उसके बाद से वह लगातर विभिन्न मंत्रालयों में किसी-न-किसी मंत्रि-पद पर रहे। १९७२-७५ में वह मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री भी रहे, उसके बाद फिर पेट्रोलियम तथा रसायन-मंत्री की हैसियत से केंद्र में लौट आये, और ए० आई० सी० सी० के कोषाध्यक्ष बने। इमर्जेंसी की परिस्थितियों के कारण उन पर काम का बोझ और बढ़ गया था।

४८. बत्तीस-वर्षीय प्रियरंजन दासमुंशी टैगोर के गीत गाते हैं और कविता लिखते हैं, जो बंगाल की क्रांतिकारी राजनीति की काय-शैली के सर्वथा अनुकूल है। मुंशी बहुत जोशीले क़िस्म के कांग्रेसी हैं, जो सिद्धार्थशंकर रे के ख़िलाफ़ थे, लेकिन बाद में जब उन्होंने संजय गांधी से टक्कर ली तो वह उनके साथ हो गये।

४९. वायलर रवि का कहना है कि उन्हें पढ़ने और राजनीतिक बहस करने का शौक है। ये दोनों ही बातें उनके व्यवसाय का भी अंग है। उनकी उम्र इस समय चालीस वर्ष की है; वह केरल में वकालत करते हैं और उन्होंने अपना ध्यान युवकों की राजनीति पर केंद्रित किया है। वह केरल छात्र संघ के संस्थापक, जनरल-सेक्रेटरी और अध्यक्ष, केरल युवक कांग्रेस के संचालक,

भारतीय युवक कांग्रेस के सेक्रेटरी और ए० आई० सी० सी० के सदस्य रह चुके हैं।

५०. ए० आई० सी० सी० के महिला विभाग में लोग वर्षों तक मुकुल बनर्जी के चेहरे से परिचित रहे, जिस हर वह बहुत-सा पाउडर और माथे पर बड़ी-सी बिंदी लगाती थीं। वह इन्दिरा गांधी की वफ़ादार प्रशंसक और अच्छी प्रशासक थीं, लेकिन १९७१ में इन्दिरा-लहर ने उन्हें लोकसभा एक ऐसी चहल-पहल के बीच पहुँचा दिया जिसकी उन्हें आदत नहीं थी। मुकुल का जन्म १९२५ में बनारस में हुआ था।

५१. तेंतालीस-वर्षीय गुंडू राव का जन्म मर्कारा (कर्नाटक) में हुआ था; यह कॉफ़ी के बागान के बहुत समृद्ध मालिक हैं। कर्नाटक प्रदेश युवक कांग्रेस के अध्यक्ष बनने से पहले वह बारह वर्ष तक मर्कारा म्युनिसिपल बोर्ड के प्रेसिडेंट रह चुके थे। १९७४ में वह कर्नाटक सरकार में सूचना विभाग के राज्य-मंत्री बने और १९७७ में आवास-मंत्री।

५२. रुखसाना सुल्ताना का असली नाम मीनू बिंविट है। उनकी माँ प्रसिद्ध अभिनेत्री बेगम पारा की बहन हैं, और उनके पिता सिख हैं। उनका विवाह शिवेन्द्रसिंह के साथ हुआ था और उनके एक बारह वर्ष की बेटी है। वह पाकिस्तान के मौजूदा एटार्नी-जनरल पीरज़ादा की भांजी हैं।

५३. नवीनव्रत चावला का जीवनवृत्त बहुत छोटा है और इतना सुखकर भी नहीं है। उनका जन्म १९४५ में हुआ था और १९६९ में वह आई० ए० एस० अफ़सर बने। १९७१ से वह दिल्ली में सब डिवीज़नल मजिस्ट्रेट, जुडीशियल कलेक्टरी के आफ़िसर इंचार्ज और एडिशनल डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट रहे। १९७४ में वह दिल्ली के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर के स्पेशल असिस्टेंट नियुक्त किये गये। संजय के बचपन के दोस्त होने के नाते इमर्जेंसी के दौरान वह आगे आ गये और उन्होंने इतनी सक्रिय भूमिका अदा की कि लेफ़्टिनेंट-गवर्नर को भी पीछे छोड़ दिया। निजी तौर पर वह बहुत शिष्ट-सभ्य नौजवान आदमी हैं—छोटा क़द, गोरा रंग और खूबसूरत।

५४. सरसठ-वर्षीय सी० सुब्रह्मण्यम के जीवन की अब तक की सफलताओं का विवरण एक अत्यन्त प्रतिष्ठित राजनीतिक जीवन का द्योतक है। अपने छात्र-जीवन के समय से ही उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया और तीन बार जेल गये—१९३२ में, १९४१ में और १९४२ में अँग्रेज़ों के ख़िलाफ़ 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान। वह १९४६ में कांस्टीच्यूएंट असेंबली के सदस्य थे और १९५२ तक अंतरिम संसद के सदस्य रहे, जिसके बाद वह मद्रास की राजनीति में कूद पड़े और वहाँ के वित्त, शिक्षा तथा क़ानून-मंत्री रहे। १९६२ में वह लोकसभा के सदस्य चुने गये। उस समय से वह विभिन्न महत्त्वपूर्ण मंत्रालयों के मंत्री रहे। कांग्रेस का पतन होने के समय वह इन्दिरा गांधी की सरकार में केंद्रीय वित्त-मंत्री थे। वह नयी लहर का शिकार होने से बच गये। वह छोटे क़द और काले रंग के बहुत गंभीर व्यक्ति हैं और हमेशा सफ़ेद धोती पहनते हैं; जब किसी को उनसे इसकी आशा भी नहीं होती, सुब्रह्मण्यम अचानक मुस्करा उठते हैं।

५५. बयालीस-वर्षीय पत्रकार और अध्यापक प्रणव मुखर्जी केवल बत्तीस वर्ष की अवस्था में ही बाँगला कांग्रेस के सेक्रेटरी बन गये थे, जिसे कांग्रेस से अलग

हो जाने वाले लोगों ने एक दल के रूप में स्थापित किया था। उन्होंने अकाल-पीड़ितों की सहायता, निरक्षरता दूर करने और समाज-सुधार के अन्य कामों को संगठित करने में सक्रिय रूप से भाग लिया है। उनका जन्म पश्चिम बंगाल के बीरभूम नामक स्थान में हुआ था पर दिल्ली के प्रति उन्हें बहुत आकर्षण था। १९७२-७३ में वह कांग्रेस संसदीय दल की कार्य-कारिणी के सदस्य चुने गये और अंत में १९७३ में औद्योगिक विकास के केंद्रीय उप-मंत्री बने। उन्हें बागवानी का शौक है, और शायद इसीलिए उन्होंने इमर्जेंसी के दौरान बड़े उत्साह के साथ उन लोगों के बारे में खोद-खोदकर जानकारी प्राप्त की जो वित्तीय अपराध करके बच निकले थे।

५६. कर्नारा (कर्नाटक) के पचपन-वर्षीय टी० ए० पै १९५२ में कांग्रेस में आये, और विभिन्न विषयों से संबंधित बोर्डों तथा समितियों में कई पदों पर रहने के बाद वह सिंडीकेट बैंक के मैनेजिंग डायरेक्टर और चेयरमैन बने। उन्होंने इसे एक सर्वाधिक प्रगतिशील, सूझ-बूझवाला बैंक संगठन बना देने में बहुत शानदार काम किया। वह मद्रास और मैसूर दोनों ही की विधान-सभाओं के सदस्य रहे और सबसे पहले १९७२ में रेल-मंत्री की हैसियत से केंद्रीय मंत्रिमंडल में आये और उसके बाद १९७३ में भारी उद्योगों के मंत्री बने। इसी हैसियत से संजय के व्यापारिक हितों से उनका टकराव हुआ।

५७. सफ़ेद बालों वाले इकहत्तर-वर्षीय वाई० एस० पारमार का व्यक्तित्व देखने से ही बहुत प्रतिष्ठित लगता है। इन्दिरा गांधी के नये रूप के अधिक अनुकूल नेताओं को लाने की मुहिम में १९७६ में अपने हद से हटाये जाने से पहले वह लगातार चार बार पूरी अवधि के लिए हिमाचल प्रदेश के मुख्य मंत्री रह चुके थे। पारमार की सूरत-शक्ल से या उनके आचरण से यह लगता ही नहीं कि वह किसी को कोई आघात पहुँचा सकते हैं, परंतु अपने दृढ़ चरित्र का परिचय देते हुए उन्होंने साठ वर्ष की अवस्था में (अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद) सामाजिक क्षेत्रों में बहुत शोर मचाये जाने के बावजूद अपने मंत्रिमंडल की एक मंत्री सत्यवती डाँग के साथ दूसरा विवाह किया।

५८. एंटोनियो डि'ओलिविएरा सालाज़ार (१८८९-१९७०) पुर्तगाल के डिक्टेटर थे। वह १९३२ में प्रधान मंत्री बने और १९३३ में एक नया संविधान बनाया गया। उन्होंने पुर्तगाल को स्थायित्व प्रदान किया, लेकिन अफ्रीका तथा भारत में पुर्तगाल के उपनिवेशों की राष्ट्रवाद की लहर के आगे सर झुकाने से इंकार किया। इतने दीर्घकाल तक अपने निरंकुश शासन के कारण वह लौह डिक्टेटरशिप का प्रतीक बन गये।

४. चाँद का अँधेरा चेहरा

जून १९७६ में एक दिन बंगलौर के जेल में दृढ़ संकल्पवाला एक बूढ़ा आदमी आया। वह भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष लालकृष्ण अडवाणी[1] से मिलना चाहता था, जो इमर्जेंसी लागू होने के उस मनहूस दिन से ही सौ दूसरे नज़रबंद क़ैदियों के साथ उस जेल में बंद थे। जब अडवाणी उसके सामने आये तो उसने देखा कि लंबे क़द और छरहरे बदन का एक गोरा सिंधी उसके सामने खड़ा है जो देखने से ही बहुत प्रतिष्ठित लगता था—सुडौल चेहरा, कतरी हुई घनी मूँछें और शांत भाव से बोलना जिससे अंदर की किसी बात का पता नहीं चलता था।

"कहिये ?" अडवाणी ने मुस्करा कर पूछा।

"मैं पैंसठ साल का हो चुका हूँ," वह बूढ़ा आदमी बहुत उत्तेजित स्वर में बोलने लगा। "वह जो कुछ कर रही हैं उसे अब मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। मैं जो कुछ अपने जीवन में करना चाहता था सब कर चुका हूँ। मुझे अब और किसी चीज़ के लिए जीने की लालसा नहीं है। आप मुझे बताइये कि मुझे क्या करना है। मैं अपनी जान तक देने को तैयार हूँ। मैं जाकर उनको गोली मार सकता हूँ...।"

"नहीं," अडवाणी ने कहा।

लेकिन जेलों में जो सामान्य कार्यकर्त्ता थे वे अधीर होते जा रहे थे। उनमें यह भावना बढ़ती जा रही थी कि जेल के अंदर जो नेता हैं वे निश्चित होते जा रहे हैं और अगली चाल के लिए उनके पास कोई योजनाएँ नहीं हैं।

"ऐसा लगता है कि आप यह सोचते हैं कि अब कुछ करने की ज़रूरत नहीं रह गयी है," जेल में अडवाणी के साथियों ने उनसे शिकायत की।

अडवाणी ने सोचा कि आज तक किसी भी निरंकुश शासन को हिंसा के बल पर नहीं उलटा गया। इसके अलावा और कोई रास्ता ही नहीं था कि जनता के विद्रोह कर उठने का इंतज़ार किया जाये।

"उस वक़्त इन्दिरा गांधी के खिलाफ़ ऐसा कोई गुस्सा नहीं था। क्या आप समझते हैं कि उस वक़्त, या बाद में किसी तरह फिर अगर वह सत्ता अपने हाथ में ले लेतीं, उनकी हत्या की जा सकती थी ?" मैंने पूछा।

"वह जिस हद तक पहुँच चुकी थीं, उसे देखते हुए शायद उनकी हत्या हो सकती थी—अगर कोई दूसरा देश होता तो। लेकिन भारत में नहीं। भारत बहुत बड़ा देश है और यहाँ के लोगों के स्वभाव में यह बात नहीं है; वरना यह

काम यहाँ बहुत पहले हो चुका होता। इसके अलावा जो राजनीतिक शक्तियाँ उनका विरोध कर रही थीं उनके नेता भी इस तरह की बातों के ख़िलाफ़ हैं। वे इस तरह की हरकतों को ठीक नहीं समझते। शांति से उन्हें बहुत गहरा लगाव है।"

"फिर भी महात्मा गांधी की हत्या हुई ही।"

"वह देश के बँटवारे के फ़ौरन बाद का ज़माना था, जब पूरे देश में ग़ुस्से की आग भड़क उठी थी। संगठित विपक्ष, जैसे आज की संगठित शक्तियाँ हैं, राजनीतिक समस्याओं को इस तरह हल करने के विरुद्ध होता है। लेकिन वह सभी डिक्टेटरों की तरह हमेशा यह बात कहती रही हैं या महसूस करती रही हैं। उन्होंने हम लोगों पर सीधा आरोप लगाया है। उन्होंने कहा कि जनसंघ मेरी हत्या करने की योजना बना रहा है। यह बहुत पहले की बात है। फिर भी हमने महसूस किया कि प्रधान मंत्री जैसे ज़िम्मेदार आदमी को इस तरह का आरोप नहीं लगाना चाहिए। इसलिए हम लोग, हममें से कुछ लोग, इस सवाल के बारे में उनसे मिले। वह कुछ कहने को तैयार नहीं थीं। वह न इस आरोप की पुष्टि करने के लिए कोई ठोस तथ्य बताने को तैयार थीं और न ही उसे वापस लेना चाहती थीं। अगर कोई चाहे तो इस तरह की स्थिति से बच निकलने के कई रास्ते हो सकते हैं। आप तो जानती ही हैं कि आप यह कह सकती हैं कि आपकी बात को ग़लत ढंग से पेश किया गया है, या यह कि दो अलग-अलग बयान एक साथ रख दिये गये थे जिसकी वजह से ग़लतफ़हमी पैदा हो गयी। लेकिन उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। मालूम नहीं, शायद वह सचमुच इस पर विश्वास करती थीं।"

लेकिन जनवरी १९७५ में एक बम-विस्फोट में ललितनारायण मिश्रा की हत्या, उसके कुछ ही समय बाद चीफ़ जस्टिस ए० एन० रे[१] की हत्या की कोशिश, और २५ जून के उस निर्णायक दिन अपनी गिरफ़्तारी से कुछ ही घंटे पहले मोरारजी ने जो कुछ कहा था उसे देखते हुए यह मानना ही पड़ता है कि हत्या का कुछ वातावरण तो था और प्रधान मंत्री के दिमाग़ में भी यह बात बैठ गयी थी। मोरारजी ने इटली के अख़बार **ल'योरोपियो** के संवाददाता से कहा था, "अगर सत्ता किसी मर्द के हाथों में हो तो उसे हटाना उतना मुश्किल नहीं है जितना उस औरत को हटाना जिसके हाथ में सत्ता हो।" अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वे जो अहिंसात्मक सत्याग्रह संगठित करने की योज़ना बना रहे थे उसका मोरारजी ने बहुत सजीव चित्रण किया, लेकिन वह अपना ग़ुस्सा नहीं छिपा सके, "हम लोग उनसे छुटकारा पाना चाहते हैं, हम उन्हें इस्तीफ़ा देने पर मजबूर कर देना चाहते हैं।...हम लोग धरना देकर बैठ जायेंगे और उनके इस्तीफ़े की माँग करेंगे, दिन-रात शोर मचायेंगे। चाहे पुलिस हमें गिरफ़्तार कर ले, या हमारे ऊपर डंडे बरसाये, या हमें मार ही क्यों न डाले। आख़िर कितने लोगों को मार डालेंगे? और फिर वे इतनी लाशों का क्या करेंगे? इसे श्रीमती गांधी तभी रोक सकती हैं जब वह आज रात ही हम सबका सफ़ाया कर दें।" मोरारजी देसाई ने आगे चलकर यह भी स्वीकार किया कि शायद कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सत्याग्रह के बजाय अधिक हिंसात्मक तरीक़े अपनाने का इरादा रखते हैं। उन्होंने एक घटना का उदाहरण भी दिया जो बिलकुल वैसी ही घटना थी जैसी अडवाणी के साथ पेश आयी थी। लेकिन १९७६ में जो बूढ़ा आदमी अडवाणी से बंगलौर में मिला था वह भारत की राजधानी से एक हज़ार मील दूर दक्षिण का रहने वाला था, जबकि जिस आदमी का ब्यौरा मोरारजी देसाई ने दिया वह उत्तर का रहने वाला एक

हट्टा-कट्टा सिख था, जिसका गुस्सा बहुत पहले १९७३ में ही भड़क उठा था। "वह मेरे पास आया और मुझसे बोला, 'मैं बूढ़ा हो चुका हूँ, साठ पार कर चुका हूँ; मेरी ज़िंदगी तो ख़त्म हो चुकी है। मरने से पहले मैं अपने देश की एक सेवा करना चाहता हूँ। इससे पहले कि वह औरत भारत को पूरी तरह तबाह कर दे मैं उसे मार डालूँगा। लेकिन इसके लिए मुझे आपकी मंजूरी चाहिए, क्योंकि मैं चाहता हूँ कि जब मैं उसे मार डालूँ तो उसके बाद कोई इंसाफ़से काम लेने वाला आदमी उसकी जगह ले।' " मोरारजी ने उस घटना को दोहराते हुए कहा, "घंटों मैं उसे समझाता रहा कि उसे इस काम के लिए मेरी मंजूरी कभी नहीं मिल सकती, कि मैं समस्या को इस तरह हल करने पर हमेशा एतराज़ करूँगा, कि मैं हिंसा का, यानी हत्या का, हमेशा विरोध करता रहूँगा। वह बराबर अपना सिर हिलाता रहा और यही दोहराता रहा, 'बस मुझे आप इसकी इजाज़त-भर दे दीजिये।' मैं उम्मीद करता हूँ कि कोई भी कभी ऐसा नहीं करेगा," मोरारजी ने कहा, और फिर इसके साथ ही यह भी कहा, "लेकिन अगर किसी ने यह कर ही दिया तो मैं उसे कैसे रोक लूँगा?"

मोरारजी और दूसरे लोगों के जेल में ठूँस दिये जाने के मुश्किल से तीन ही हफ़्ते बाद श्रीमती गांधी ने कहा, जैसा कि मोरारजी को उम्मीद थी कि वह कहेंगी, कि "लोकतंत्र को बिलकुल त्याग नहीं दिया गया है, बस वह कुछ समय के लिए पटरी से उतर गया है," हालाँकि उन्होंने इसके लिए अपनी किसी हरकत को नहीं बल्कि विपक्ष को दोषी ठहराया। इसके कुछ ही समय बाद उन्होंने कहा कि "राष्ट्र का महत्त्व लोकतंत्र से अधिक है।" सच तो यह है कि **नेशनल हेराल्ड** ने एक संपादकीय लिखकर तंज़ानिया जैसे अफ्रीकी देशों में एक पार्टी की प्रणाली की प्रशंसा करते हुए कहा कि यह प्रणाली बहु-दलीय प्रणाली से किसी भी प्रकार कम सशक्त नहीं होती। **नेशनल हेराल्ड** जवाहरलाल नेहरू का स्थापित किया हुआ दैनिक अखबार है और उसे इन्दिरा गांधी का भी संरक्षण प्राप्त रहा है। इसलिए यह माना जा सकता है कि वह उनके विचारों को व्यक्त करता है। इस संपादकीय में कहा गया था, "ज़रूरी नहीं है कि वेस्टमिनिस्टर प्रणाली ही सबसे अच्छी प्रणाली हो, और कुछ अफ्रीकी राज्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि लोकतंत्र का बाहरी ढाँचा कैसा भी हो, जनता की आवाज़ का हमेशा बोलबाला रहेगा।... एक मज़बूत केंद्रीय सरकार की ज़रूरत पर ज़ोर देकर प्रधान मंत्री ने भारतीय लोकतंत्र की सशक्तता की ओर संकेत किया है। कमज़ोर केंद्रीय शासन से देश की एकता, अखंडता और स्वयं स्वतंत्रता के अस्तित्व के लिए भी ख़तरा पैदा हो जाता है। उन्होंने सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल उठाया है। अगर देश की स्वतंत्रता ही नहीं बाक़ी रहेगी, तो लोकतंत्र कैसे बाक़ी रह सकेगा?"

यही **नेशनल हेराल्ड** २५ अगस्त तक बड़ी ईमानदारी के साथ यह कहने लगा था कि "इधर पिछले कुछ दिनों में प्रधान मंत्री ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि इस देश में एक पार्टी की प्रणाली स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जायेगा और यह कि वह नयी संविधान सभा बुलाने या नया संविधान बनाने की बात नहीं सोच रही हैं।...जहाँ तक पार्टी प्रणाली का सवाल है, एक पार्टी की प्रणाली सैद्धांतिक रूप से आवश्यकताओं को कितनी ही अच्छी तरह क्यों न पूरा करती हो, ज़बर्दस्ती थोपी नहीं जायेगी; वह केवल एक स्वाभाविक विकासक्रम के फल-स्वरूप ही आ सकती है और फ़िलहाल इसकी कोई संभावना नहीं है।"

११ जुलाई और २५ अगस्त के बीच क्या हुआ?

लालकृष्ण अडवाणी ने जवाब दिया, "मुजीब की हत्या। मैं समझता हूँ, उससे उनके दिल में डर बैठ गया। शायद वह इस निष्कर्ष पर पहुँच गयीं कि लोकतंत्र के सार-तत्त्व को बाक़ी रखा जाना चाहिए।"

"मैं अंडरग्राउंड कार्यकर्त्ताओं के नेता से मिलना चाहता हूँ," मेट्रोपोलिटन कौंसिल के कांग्रेसी सदस्य पी० एन० सिंह ने अपने एक पत्रकार दोस्त से टेलीफ़ोन पर कहा, जो अंडरग्राउंड आंदोलन से संबंध रखते थे। यह जुलाई के आख़िर की बात है। पी० एन० सिंह चंद्रशेखर के घर में, पुलिस के बहुत क़रीब रहते हुए भी २६ जुलाई को पुलिस के चंगुल में आने से बच गये थे। २७ तारीख़ को वह बस से रामपुर गये जहाँ वह कुछ दोस्तों को जानते थे। उन्होंने वहाँ से कुछ छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ और दूसरी चीज़ें छापीं, लेकिन जल्द ही उन्हें भागना पड़ा। फिर वह तराई के इलाक़े में एक किसान दोस्त के यहाँ गये जो बहुत दूर एक गाँव में रहता था। नैनीताल जिले में रुद्रपुर नाम की जगह में उन्होंने एक छापेख़ाने की व्यवस्था की और चोरी-छिपे चीज़ें छापने लगे। इन लोगों ने दस हज़ार पैम्फ़लेट छापे थे जब इस प्रेस पर भी छापा पड़ा और ताला डाल दिया गया। लखनऊ में सिंह चालीस दिन रहे, लेकिन वहाँ सबका डर के मारे दम निकला जाता था; कांग्रेसियों तक का यही हाल था। उन्होंने यूनिवर्सिटी के कुछ लड़कों को जुटाया और चुपके-से कुछ छपी हुई चीज़ें, जिनमें बहुत-सी ख़बरें थीं, जेलों में पहुँचवा देने में सफल हो गये, जिससे इमर्जेंसी के शिकार क़ैदियों का मनोबल बढ़ाने में बड़ी सहायता मिली। लेकिन उन्होंने महसूस किया कि वह काफ़ी काम नहीं कर पा रहे हैं। दिल्ली वापस आकर वह दिन-भर घर पर रहते और रात को बाहर निकलते; आखिरकार उन्होंने उस आदमी से संपर्क स्थापित कर ही लिया जो उन्हें सही रास्ता दिखा सकता था।

"मेरे घर आ जाइये," उस नेता का टेलीफ़ोन आने पर सिंह ने उनसे कहा, "किसी को मालूम नहीं है कि मैं यहाँ हूँ। कुछ पहले ही उतर कर पैदल चले आइयेगा।"

जब दोनों की मुलाक़ात हुई तो सिंह ने उन्हें फ़ौरन पहचान लिया; वह उन्हें बहुत अच्छी तरह जानते थे। दोनों ने साथ खाना खाया। उस नेता ने एक बहुत बड़ी कंपनी के संपर्क अधिकारी के साथ मुलाक़ात तय की जिसने कहा था कि वह कुछ मदद कर सकता है। वे नयी दिल्ली साउथ एक्सटेंशन इलाक़े के एक छोटे-से रेस्टोराँ 'ल्हासा' में मिले। उन्होंने विस्तार के साथ अपनी योजनाओं के बारे में बातचीत की, और इसके बारे में भी कि काम को संगठित करने के बारे में उनका क्या सुझाव है।

"मुझे एक छापेख़ाने की सख़्त ज़रूरत है। मेरे पास पंद्रह-बीस लड़के हैं जो मेरे साथ काम कर सकते हैं," सिंह ने कहा।

"आपको जितना पैसा चाहिए मिल सकता है, पंद्रह लाख या बीस लाख जो भी चाहें," संपर्क अधिकारी ने कहा।

वे चारों तीन बार 'ल्हासा' में मिले और ब्यौरे की सारी बातें तय करने में उन्होंने बहुत सिर खपाया। उन्होंने सिंह से पूछा कि वह इतने दिन कहाँ रहे, कहाँ-कहाँ ठहरे, किन-किन लोगों से मिले और उनके घर के पते क्या हैं, वे कैसे काम करते हैं और उनका किन दूसरे लोगों से संपर्क है। सिंह को कुछ शक तो हुआ लेकिन उन्होंने सारी बातें बता दीं। उनके साथ जो आदमी था उसका

दिल्ली में पूरे अंडरग्राउंड आंदोलन पर नियंत्रण था इसलिए कोई गड़बड़ी होने का ख़तरा नहीं है, उन्होंने सोचा। आख़िरकार उन्होंने पैसा लेने के लिए संपर्क अधिकारी के घर पर मिलने का फ़ैसला किया।

६ अगस्त की रात थी—नौ बजे का वक़्त। सिंह के साथ उनके एक दोस्त कुलवंतकुमार गुप्ता थे। जब वे महारानी बाग़ की ठाठदार कालोनी में पहुँचे उस वक़्त पानी बरस रहा था। संपर्क अधिकारी वहीं रहता था।

दोनों उसके मकान के सामने टैक्सी से उतरे। चारों तरफ़ अँधेरा था। बाहर कोई बत्ती भी नहीं जल रही थीं। सिंह को कुछ बेचैनी-सी होने लगी। उन्हें ऐसा लगा जैसे कोई उनका पीछा कर रहा है। उन्होंने यह भावना अपने मन से निकाल देने की कोशिश की। उस नेता ने उनकी मुलाक़ात किसी ग़लत आदमी से तो नहीं करायी होगी। वे घर के अंदर गये। वह आदमी एक लंबे-चौड़े पूरी तरह सजे हुए ड्राइंग-रूम में अकेला बठा था। जब एक नौकर ट्रे में चाय लेकर आया तो सिंह को फिर शक हुआ। वह सादी पोशाक में कोई पुलिस वाला मालूम होता था—वही छोटे कटे हुए बाल और चाल-ढाल में बहुत चुस्त। इतने में वह नेता भी आ गये; सिंह को कुछ तसल्ली हुई और उन्होंने अपने मित्र का परिचय कराया। उन लोगों ने एक बार फिर उन तमाम लोगों के बारे में विस्तार के साथ बातचीत की जिनका इस काम से संबंध रहेगा और एक बार फिर रामपुर, तराई और लखनऊ के लोगों का सारा ब्यौरा दोहराया गया। इसके बाद संपर्क अधिकारी ने नये नोटों की दस हज़ार रुपये की गड्डी निकाली। उन्होंने पाँच हज़ार रुपये देते हुए कहा, "बाक़ी के लिए कल किसी को भेज दीजियेगा।" सिंह सोच रहे थे कि आख़िर पूरी रक़म एक साथ क्यों नहीं दे दी। उन्होंने सोचा शायद हम लोगों को परख रहे होंगे, फिर भी उन्हें कुछ बेचैनी महसूस हो रही थी। चारों टैक्सी पर बैठकर 'ल्हासा' गये। नेता किसी मीटिंग में चले गये। इस पर सिंह का माथा फिर ठनका। संपर्क अधिकारी, सिंह और कुलवंत ने वहीं खाना खाया और आधी रात तक बातें करते रहे।

सिंह रात को साढ़े बारह बजे घर पहुँचे। उनके मन में जो शंका थी उसे वह स्वयं भी स्वीकार करने का साहस नहीं कर पा रहे थे। कुछ ही सेंकड बाद किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। उन्हें इसका कुछ-कुछ अंदेशा पहले ही से था। तो मेरा शक ठीक ही था, उन्होंने अपने मन में सोचा। उनके सामने सरोजिनी नगर के आस-पास के इलाक़े के डिप्टी सुपरिंटेंडेंट-पुलिस और दो थानेदार खड़े थे। इसी इलाक़े में उनका घर होने की वजह से सिंह इन लोगों को अच्छी तरह जानते थे। वे कुछ शर्मिंदा-से लग रहे थे।

"चलिये, सिंह साहब।"

"आपने तकलीफ़ क्यों की, टेलीफ़ोन कर देते," सिंह ने जवाब दिया।

कुलवंत भी पकड़ा गया था, लेकिन इन लोगों ने सिंह को बताया नहीं।

वे लोग सिंह को बड़े ठाठ के साथ जीप पर बिठाकर ले गये जिसके ऊपर पुलिस की लाल बत्ती जल-बुझ रही थी। जीप बड़ी तेज़ी से लाल क़िले के सामने से गुज़र रही थी, कि इतने में पुलिस की जीप में लगे हुए वायरलेस से आवाज़ आने लगी, "रेड फ़ोर्ट, रेड, फ़ोर्ट!" जीप तेज़ी से मुड़ी और सिंह को पता चल गया कि उन्हें कहाँ ले जाया जा रहा है।

उन लोगों ने उन्हें एक अँधेरी बदबूदार छोटी-सी कोठरी में बंद कर दिया। "मैं यहाँ नहीं रहूँगा!" सिंह ने चिल्लाकर कहा। लेकिन तब तक स्थानीय पुलिस

वाले जा चुके थे। उन्हें इंटेलिजेंस ब्यूरो (आई० बी०), सी० आई० डी० और कुछ दूसरे अफ़सरों के एक गरोह के हवाले कर दिया गया था जिनके बारे में उन्हें बाद में मालूम हुआ कि वे उस ख़ौफ़नाक संगठन 'रा' (रिसर्च एंड एनालिसिस विंग) के लोग थे जो आमतौर पर विदेशी जासूसों की खोज-ख़बर रखता है। सी० आर० पी० के कुछ जवान भी वहाँ मौजूद थे जिनसे सिंह को कोठरी में ढकेल देने को कहा गया। अब उनके सामने कोई चारा ही नहीं रह गया था। वहाँ एक बहुत गंदी बदबूदार चारपाई पड़ी थी जिस पर वह बैठ गये। रात के ढाई बजे थे। उन्होंने सोचा, किसी तरह रात तो काटनी ही होगी। उन्होंने चारपाई जंगलेदार दरवाज़े के पास खींच ली ताकि कुछ ताज़ी हवा तो आ सके। सारी रात कोठरी के बाहर एक आदमी राइफ़िल लिये टहलता रहा; उसके भारी जूतों की आवाज़ रात के सन्नाटे को चीरती रही।

सुबह सात बजे आई० बी० के सुपरिंटेंडेंट-पुलिस ने दरवाज़ा खोला। "हमें बहुत अफ़सोस है," उन्होंने माफ़ी माँगते हुए कहा, "फ़ोन ख़राब था इसलिए मुझे ख़बर नहीं मिल सकी।" उनके लहज़े में बड़ी हमदर्दी थी। "आपके साथ बेहतर सलूक़ होना चाहिए था। हम आपको इससे ज्यादा अच्छी जगह ले जायेंगे। लेकिन हमें आपकी आँखों पर पट्टी बाँधनी होगी। उम्मीद है कि आपको कोई एतराज़ नहीं होगा।"

सिंह को इससे थोड़ी ही तसल्ली हुई। वह पुलिस के हथकंडों के बारे में बहुत-कुछ सुन चुके थे। लेकिन वह सोच रहे थे, आख़िर ये लोग उनसे क्या चाहते हैं?

सिंह की आँखों पर पट्टी बाँध दी गयी, उन्हें कुछ देर इधर-उधर घुमाया गया, फिर कुछ सीढ़ियाँ चढ़ायी गयीं और आखिरकार वह एक कमरे में पहुँचे। जब उनकी आँखों पर से पट्टी खोली गयी तो उन्होंने देखा कि वह एक बिलकुल बंद कमरे में बैठे हैं जिसकी दीवारों को चारों तरफ़ लकड़ी के तख्तों से ढँक दिया गया है और वहाँ एक पहियोंदार कुर्सी रखी है। फ़र्श पर क़ालीन बिछा था जिसके नीचे लगता था कि बहुत-से तार थे। कमरे मे एक मेज़ और चार कुर्सियाँ और थीं और एक कूलर लगा हुआ था जो काम नहीं कर रहा था। छत पर बिजली का पंखा चल रहा था और लगातार गर्म हवा फेंक रहा था।

सबसे पहले कमरे में सी० आई० डी० की अपराध शाखा के चार आदमी आये। सिंह पहियोंदार कुर्सी पर बैठे थे। वे चारों आदमी सामने बैठ गये। उन्होंने सबसे पहले उनके बारे में कुछ निजी बातें पूछना शुरू किया—कहाँ पैदा हुए, पढ़ाई-लिखाई कहाँ हुई, राजनीतिक संबंध क्या हैं, चंद्रशेखर से मुलाक़ात कैसे हुई और जयप्रकाश नारायण से क्या संबंध है?

"आपने १२ जून और २५ जून के बीच क्या किया? आप उस वक़्त क्या महसूस करते थे?" उन लोगों ने सिंह से पूछा।

"श्रीमती गांधी को इस्तीफ़ा दे देना चाहिए था। यह सरकार के लिए भी अच्छा रहता और पार्टी के लिए भी। ऐसा न करने से पार्टी को बहुत नुक़सान पहुँचा है।"

वे चारों वही सवाल बार-बार पूछते रहे। जब एक सवाल पूछना ख़त्म करता और सिंह जवाब दे चुकते, तो दूसरा शुरू करता, फिर तीसरा, फिर चौथा और उसके बाद फिर वही क्रम—पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा। चार घंटे बीत गये। उसके बाद ये लोग अपनी कुर्सियाँ पीछे खिसकाकर उठ खड़े हुए। "अच्छा, सिंह साहब, फिर मुलाक़ात होगी," उन लोगों ने कहा।

अभी ये लोग कमरे से बाहर भी नहीं निकल पाये थे कि चार और आदमी अंदर आये। ये इंटेलिजेंस ब्यूरो के लोग थे। अपनी कुर्सियाँ आगे सरकाकर उन्होंने पूछना शुरू किया, "हाँ, तो सिंह साहब...?"

इन लोगों ने भी वही सवाल पूछे, और उसी ढंग से। एक-एक करके चारों आदमी सवाल करते और फिर पहले आदमी से सिलसिला शुरू हो जाता। सिंह बिलकुल मशीन की तरह जवाब देते जा रहे थे। "उन्हें इस्तीफ़ा दे देना चाहिए था। इसी में पार्टी का भला था। ऐसा न करके उन्होंने सरकार और पार्टी दोनों को बहुत नुक़सान पहुँचाया। उन्हें इस्तीफ़ा दे देना चाहिए था। इसी में पार्टी का भला था...।" सिंह को नींद आने लगी। उन लोगों ने उन्हें कुछ चाय पीने को दी। 'हाँ, सिंह साहब, आप कहाँ पैदा हुए थे? आपकी पढ़ाई-लिखाई कहाँ हुई? आपकी मुलाक़ात चंद्रशेखर से किस तरह हुई? जयप्रकाश नारायण से आपका क्या संपर्क है? १२ जून और २५ जून के बीच आपने क्या किया? आप क्या महसूस करते थे?"

"उन्हें इस्तीफ़ा दे देना चाहिए था, मैं आपको बता चुका हूँ। मैं महसूस करता था कि उन्हें इस्तीफ़ा दे देना चाहिए था," सिंह लगातार वही जवाब दोहराते रहे। "यही पार्टी के लिए बेहतर होता, इससे सरकार को भी मदद मिलती...।"

अचानक उन्होंने एक नया सवाल पूछा, "आपका जगजीवनराम से क्या संबंध है?"

यह सवाल सुनते ही सिंह अपनी बढ़ती हुई बेहोशी से चौंक पड़े।

"मैं उन्हें अपनी पार्टी के नेता की हैसियत से जानता हूँ। इसके अलावा हम लोगों का, पूर्वी-उत्तर प्रदेश और बिहार के लोगों का एक भोजपुरी समाज है। वह उसके अध्यक्ष थे और मैं सेक्रटरी था।"

उन लोगों ने सिंह से २६ तारीख को सुबह जगजीवनराम से उनकी मुलाक़ात के बारे में पूछा। सिंह ने उन्हें बताया कि वह किस तरह जगजीवनराम से मिले थे और उन्होंने उनसे क्या कहा।

"नहीं, यह झूठ है," वे सब एक साथ बोल उठे। "उन्होंने कहा था, 'जब तक इन्दिरा गांधी, संजय और बरुआ ज़िंदा हैं तब तक लोकतंत्र दुबारा क़ायम नहीं किया जा सकता। इसलिए जितना पैसा भी तुम लोगों को चाहिए मैं इंतज़ाम कर देता हूँ।' यही कहा था उन्होंने।"

"नहीं, आप झूठ बोल रहे हैं!" सिंह ने चिल्लाकर कहा।

"हमारे पास टेप मौजूद है।"

"मुझे टेप सुनाइये तो मैं मान लूँगा।"

"ख़ैरियत इसी में है कि जो हम कहते हैं उसी को दोहरा दीजिये नहीं तो आपका परिवार, आपके बच्चे, हर चीज़ तबाह हो जायेगी।"

"नहीं! यह झूठ है!"

"अगर आप यह बात कह दें तो हम आपको श्रीमती गांधी के पास ले जायेंगे और आप जो भी राजनीतिक फ़ायदा या जो भी ओहदा चाहेंगे आपको मिल जायेगा। अगर आप बात मान लें तो इससे उनको बहुत मदद मिलेगी और आप जो भी चाहेंगे आपको मिल जायेगा।"

"नहीं, नहीं।"

"नतीजा बहुत बुरा होगा। हमें आपके साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी पड़ेगी।"

"मुझे परवाह नहीं है," सिंह ने कहा।

ये लोग चार घंटे से उन्हें रगड़ रहे थे।

वे अपनी कुर्सियाँ पीछे सरकाकर उठ खड़े हुए और बोले, "अच्छा सिंह साहब, फिर मुलाक़ात होगी।"

इसके बाद चार आदमियों का तीसरा जत्था आया। इससे पहले जो लोग आये थे उनमें से कुछ को सिंह पहचानते थे। इस नये जत्थे में वह किसी को भी नहीं जानते थे। इससे पहले वाले दोनों जत्थों के लोगों ने उनसे यह जानना चाहा था कि पुलिस, आई० बी० और 'रा' में उनकी जान-पहचान के कौन-कौन लोग हैं। जब उन्होंने 'रा' में अपनी जान-पहचान के लोगों के नाम इस तीसरे जत्थे को बताये तो वे एक-दूसरे को देखने लगे। सिंह को फ़ौरन शक हो गया कि ये लोग कौन हैं। फिर वही चक्कर शुरू हुआ, वही सवाल, और बारी-बारी से यही तीन जत्थे— चौबीस घंटे बीत गये। सिंह को बेहद नींद आ रही थी। अब उनका चाय पीने को भी जी नहीं चाह रहा था। यहाँ आने के बाद से वह न नहाये थे, न मुँह-हाथ धोया था और न पाखाने ही गये थे।

दोपहर को दो बजे उन्हें अदालत ले जाया गया, जहाँ पुलिस ने उन पर एक साज़िश में शामिल होने का आरोप लगाया। उन्हें चार दिन तक हिरासत में रखने का हुक्म दे दिया गया। वहाँ से वापसी पर वे लोग उन्हें फिर उसी कमरे में ले गये। तीसरे दिन शाम तक उन लोगों का धीरज टूट गया और उन्होंने कहा, "आप नहीं मानेंगे। अच्छा, तो हमें कोई तरकीब करनी पड़ेगी।" उन लोगों ने उन्हें दीवार के सहारे खड़ा कर दिया। चार-चार लोगों के जत्थे बदलते जाते थे लेकिन वे लोग बैठे रहते थे। सिंह को नौ घंटे तक इसी तरह खड़ा रखा गया। फिर अचानक एक-एक हज़ार वाट की छः तेज़ बिजली की बत्तियाँ उनके चारों ओर जला दी गयीं जिनकी रोशनी सीधे उनकी आँखों पर पड़ रही थी। एक क्षण के लिए तो सिंह ने बड़ी मूर्खता से यह सोचा कि ये लोग उनकी फ़ोटो लेने जा रहे हैं, लेकिन उनकी आँखें इस चकाचौंध में अपने आप बंद हो गयीं। इसके साथ ही क़ालीन के नीचे छिपे हुए तारों से उनके पाँव में बिजली का एक झटका लगा। उन्होंने इन तारों को इस्तेमाल करना शुरू कर दिया था। इससे उनकी आँखें अचानक एक झटके के साथ खुल गयीं, और फिर तेज़ रोशनी से चकाचौंध होने लगीं। ज्यों ही उनकी आँखें बंद होतीं बिजली का एक तेज़ झटका उनके पाँवों से ऊपर दौड़ जाता। पाँच मिनट के अंदर ही वह पसीने से तर-बतर हो गये। उन्हें इतनी सख़्त तकलीफ़ हो रही थी कि वह चिल्लाने लगे, "मुझे छोड़ दो! अगर चाहो तो मुझे मार डालो!" इतने में बत्तियाँ बुझ गयीं। बिजली के झटके बंद हो गये। चारों ओर घुप्प अँधेरा छा गया। अचानक उन्हें बेहद भयानक और अजीब-अजीब आवाज़ें सुनायी देने लगीं, जो ऐसा लग रहा था कि सीधे उनके दिमाग़ की नाज़ुक रगों से जाकर टकरा रही हैं। उन्हें ऐसा महसूस होने लगा कि उनका सिर फट जायेगा। उनका बदन काँपने लगा, वह फ़र्श पर गिर पड़े, और दर्द से तड़पने लगे। उन्हें ऐसा लग रहा था कि इन आवाज़ों से वह पागल हो जायेंगे। उन्हें यह महसूस हो रहा था कि उनकी मौत क़रीब है। वह लगभग बेहोश हो गये।

फिर अचानक यह सब-कुछ रुक गया। साधारण बत्तियाँ जल उठीं। चार आदमियों का जत्था फिर अंदर आया।

"सिंह साहब, उठिये।"

वह उठ नहीं पाये।

"हम जो कहते हैं वह आपको मानना पड़ेगा, नहीं तो हमें यही सिलसिला जारी रखना होगा।"

उन्होंने किसी तरह बहुत कमज़ोर स्वर में बुदबुदाकर कहा, "तो जारी रखिये। मैं भी जब तक हो सकेगा बर्दाश्त करूँगा।"

"अच्छी बात है, सोच लीजिये।" इतना कहकर वे चले गये।

थोड़ी देर की मोहलत मिल गयी। उनसे खाना खा लेने को कहा गया।

"नहीं," उन्होंने कहा, "मैं नहाना चाहता हूँ।"

उनकी आँखों पर फिर पट्टी बाँधकर उन्हें एक गंदे से ग़ुस्लख़ाने में ले जाया गया, और फिर वापस वहीं ले आया गया। चार दिन तक उनसे सवाल पूछे जाते रहे लेकिन पहले की तरह कोई यातना नहीं दी गयी। सिंह ने उनकी माँग मानने से इंकार कर दिया। आख़िरकार 'रा' के एक अफ़सर ने—सिंह ने कहा, "मैं जानता हूँ कि वह 'रा' का था क्योंकि बाहर ड्यूटी पर जो संतरी थे उन्होंने बाद में मुझे बताया"—बहुत ऊँचे स्वर में मुझे चेतावनी दी, "हम सब उस देवी के नौकर हैं। अगर तुम नहीं मानोगे तो हमें वही करना पड़ेगा जो पाकिस्तान की सेना ने बाँगला देश में किया था। हम लोग तुम्हारी बीवी और बहनों को यहाँ पकड़कर लायेंगे और तुम्हारे सामने उनके साथ बलात्कार करेंगे!"

सिंह मारे गुस्से के आपे से बाहर हो गये। उन्होंने एक कुर्सी उठाकर उस आदमी पर फेंकी। फ़ौरन दूसरे अफ़सर भागे-भागे अंदर आये और माफ़ी माँगने लगे। "उसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए थी। हम उसके ख़िलाफ़ कार्रवाई करेंगे।" सिंह जानते थे कि यह सब उनकी तिकड़म थी। उन्होंने सोचा, सच तो यह है कि दीवार में एक काँच लगा हुआ है जिसमें से ये लोग देख रहे होंगे कि मेरे ऊपर इसका क्या असर होता है। उस रात उन लोगों ने उन्हें सोने दिया।

इसके बाद वे सिंह को रामपुर ले गये, जहाँ उन्होंने उन सब लोगों को पकड़ लिया जिनके बारे में सिंह ने 'ल्हासा' रेस्टोराँ में बातें की थीं। उन्होंने यह भी साबित करने की कोशिश की कि सिंह ने जगजीवनराम के कहने पर श्रीमती गांधी की हत्या कर देने के लिए हथियार ख़रीदे थे। वे लोग उन्हें तराई के इलाके में, लखनऊ और न जाने कहाँ-कहाँ ले गये। वे लोग सिंह के साथ उसी तरह खेल रहे थे जैसे बिल्ली चूहे को पकड़ लेने के बाद उसके साथ खेलती है—कभी उन्हें बहुत आरामदेह रेस्ट हाउस में रखते और कभी रात भर के लिए चूहों से भरी कोठरी में डाल देते। इस कोशिश में कि शायद वे कोई बात मनवा लें, वे लोग हताश होकर कहते, "हम आज रात आपसे राजनीति की बातें करेंगे।"

"क्या आप समझते हैं कि इन्दिरा गांधी का राज कभी ख़त्म होगा?" वे उन्हें डराने-धमकाने की कोशिश में उनसे पूछते। "फ़ौज, पुलिस और भारत की सारी जनता उनके साथ है। उनमें से कोई उनके ख़िलाफ़ आवाज़ नहीं उठाता। आप भी क्यों नहीं उनका साथ देते?"

"डेढ़ साल से ज़्यादा सत्ता उनके हाथ में नहीं रह सकती," सिंह जवाब देते। "वह लगातार यही रटती रहती हैं कि वह लोकतंत्र चाहती हैं। इसका मतलब है कि वह डिक्टेटर बनने से डरती हैं। अगर वह संविधान से चिपकी रहना चाहती हैं तो उन्हें कभी-न-कभी तो चुनाव कराने ही पड़ेंगे। और जब भी यह होगा, उनका पत्ता साफ़ हो जायेगा। अगर अपने डिक्टेटर होने का ऐलान कर देती हैं तब भी वह ज़्यादा दिन नहीं टिक सकतीं। डिक्टेटर के लिए भी ज़रूरी होता है कि वह लोकप्रिय हो या उसके सामने कोई ध्येय हो। उनके पास इन दोनों में से

कोई भी चीज़ नहीं है। कोई उन्हें मार डालेगा। आप ही लोगों में से कोई उनकी हत्या कर देगा। क्या ख़याल है आपका? ख़ुद आपके बेटे और बेटियाँ जो यूनिवर्सिटियों में पढ़ते हैं आपकी बात को सही नहीं समझते!"

"हमें अपना काम तो करना ही पड़ता है," वे कभी-कभी कमज़ोरी के क्षण में कहते। वे लोग यह भी सोचते थे कि शायद सिंह कुछ ढीले पड़ रहे हैं।

दिल्ली वापस पहुँचने पर उन लोगों ने उन्हें फिर अदालत के सामने पेश किया। "तो?" मजिस्ट्रेट ने पूछा, "आपको कोई सबूत मिला?"

"यह राष्ट्र की सुरक्षा के लिए ज़रूरी है," पुलिस ने कहा। "बड़े-बड़े लोगों का इस मामले से संबंध है।"

मजिस्ट्रेट कुछ परेशान दिखायी पड़ने लगा।

"मैं आपको बताता हूँ," अचानक पी० एन० सिंह बोल उठे। "ये लोग मुझे हीरो बनाना चाहते हैं। इन लोगों ने जगजीवनराम के बारे में किसी साज़िश का नक़शा तैयार किया है। ये लोग चाहते हैं कि मैं उसे स्वीकार कर लूँ। इन लोगों को जितना वक़्त चाहिए दे दीजिये।"

लाल क़िले वापस पहुँचने पर पहली बार सचमुच उनके दिल में डर समा गया। सी० आई० डी० के एक बड़े अफ़सर ने उनसे कहा, "ये लोग आज रात को आपकी बीवी और आपके दो चाचाओं को गिरफ़्तार करने वाले हैं किसी को बताइयेगा नहीं कि यह बात आपको मालूम है। आप को मान लेना चाहिए। आपको कह देना चाहिए कि सब-कुछ सही है।

सिंह ने इस पर विचार करने का वादा किया। उन्हें ऐसा लग रहा था कि जैसे वह बिलकुल टूट चुके हैं। उन्हें पूरा यक़ीन था कि ये लोग सचमुच ऐसा ही करने जा रहे हैं। उन्हें याद था कि किस तरह इमर्जेंसी से पहले भी कुछ लोग दरवाज़ा तोड़कर उनके घर में घुस आये थे और हर चीज़ उलटकर फेंक दी थी। उनकी बीवी बेहोश हो गयी थी और बच्चे देर तक रोते रहे थे। एक आदमी ने, जिसने यह सब-कुछ देखा था, बताया कि वे अर्जुनदास के आदमी थे। अब तो हालत और भी बदतर थी, और अर्जुनदास की तलवार तो उनके सर पर लटक ही रही थी। सिंह यह सोचकर ही डर और ग़ुस्से से काँप उठे कि उनकी बीवी को जो एक सीधी-सादी घरेलू औरत थी, जेल जाना पड़ेगा।

"मैं आपकी मदद कर सकता हूँ," सी० आई० डी० के आदमी ने कहा। "बस अपनी बीवी को टेलीफ़ोन कर दीजिये कि वह पिस्तौल वापस कर दें।"

सिंह समझ गये कि इन लोगों ने पिस्तौल वहाँ पहले ही से रखवा दी होगी। उन्हें टेलीफ़ोन दे दिया गया। सिंह ने अपनी बीवी से भोजपुरी में बात करके बचाव का एक रास्ता निकाल लिया। उन्होंने उसे बताया कि ये लोग उन पर दबाव डाल रहे हैं कि वे अपने आपको फँसवा दें।

"इनके चकमे में न आना!" उनकी बीवी ने चिल्लाकर कहा। "कोई बात न मानना। यहाँ कोई पिस्तौल-विस्तौल नहीं है।"

पुलिस वाले भागे हुए सिंह के पास आये और परेशान होकर बोले, "हिंदी में बात कीजिये। हमारी समझ में कुछ नहीं आ रहा है।"

अगले दिन पंद्रह अगस्त थी, भारत का स्वतंत्रता दिवस। शेख मुजीबुर्रहमान की हत्या की भयानक ख़बर सारी दुनिया में आग की तरह फैल चुकी थी। सिंह ने महसूस किया कि वातावरण अचानक बदल गया है। हर आदमी सहम-सा गया था। सब-इंसपेक्टर ने सिंह से डरे हुए स्वर में कहा, "यह भी मार डाली जायेंगी।

मुजीब का तो उनके पूरे परिवार समेत सफ़ाया कर ही दिया गया। इमर्जेंसी भी हट जायेगी।"

एक दूसरे सब-इंसपेक्टर ने, जो पहले वाले की जगह ड्यूटी पर आया था, सिंह से पूछा, "क्या बाबूजी गिरफ़्तार किये जानेवाले हैं?"

"हो सकता है।"

"मैं उन्हें पहले से सचेत कर देना चाहता हूँ।"

"क्यों?"

"मैं भी हरिजन हूँ।"

सिंह ने उससे एक सुपरिंटेंडेंट-पुलिस से मिलने को कहा जिसका जगजीवनराम से बहुत निकट संबंध था। लेकिन उन लोगों को पता चल गया कि वह सब-इंसपेक्टर उस सुपरिंटेंडेंट से मिलने गया था, ज़ाहिर है कि संतरियों पर भी कड़ी नज़र रखी जाती थी। अगले दिन सुबह वह फिर सिंह के पास आया और कहने लगा कि वह ख़ुद जगजीवनराम से मिलना चाहता है। सिंह ने उसे जगजीवनराम के सेक्रेटरी का नाम बता दिया। वह सब-इंसपेक्टर इन्दिरा गांधी के रक्षा-मंत्री से मिला और अगले ही दिन उसे पता चला कि उसे फटकारने के लिए हैडक्वार्टर बुलाया गया है। उसे सिंह की निगरानी करने की ड्यूटी से हटा लिया गया।

लेकिन उसी दिन सुबह सी० आई० डी० और आई० बी० के अफ़सर सिंह के पास आये और बोले, "आपको यह जानकर ख़ुशी होगी कि आप पर जो आरोप लगाये गये हैं, उनमें से वह जगजीवनराम वाली बात निकाल दी जायेगी।"

"आप ही लोगों ने उसे डलवाया था, आपको हक़ है, निकलवा दीजिये," सिंह ने बहुत जलकर जवाब दिया। लेकिन उनके पूरे शरीर में सिहरन दौड़ गयी। वह सोच रहे थे कि और जो कुछ भी उन्हें भुगतना पड़ता वह भुगत लेते, लेकिन इस मामले में तो वह बाल-बाल ही बचे थे।

१३ अप्रैल १९७६ को डी० डी० ए० के मकान गिराने वाले जत्थे तुर्कमान गेट के इलाक़े पर इस तरह टूट पड़े मानो पाँचवीं शताब्दी में हूण हमलावरों की फ़ौज ने हमला कर दिया हो।

"यह सब कुछ धीरे-धीरे नहीं हुआ," इस इलाक़े के एक दुबले-पतले, साठ बरस के बूढ़े कांग्रेसी हाफ़िज़ मुहम्मद यूनुस ने कहा, जो सुन्न-से रह गये थे। "यह अचानक हो गया। अभी ज़रा देर पहले हम लोगों के पास मकान थे, हमारे परिवार थे, नौकरियाँ थीं, हमारी इज़्ज़त थी, हम अपना सर ऊँचा करके चलते थे। और ज़रा ही सी देर में कुछ भी नहीं रह गया था।"

तुर्कमान गेट की ३०० साल पुरानी इमारतें—उनमें से कम-से-कम कुछ तो इतनी ऐतिहासिक थीं ही—और वे ख़ानदान जो मुग़लों से अपना रिश्ता जोड़ते हैं, न केवल पुरानी और नयी दिल्ली की सरहद पर आबाद थे बल्कि वे इन दोनों को जोड़ने वाली सांस्कृतिक कड़ी भी थे। तुर्कमान गेट की घटना इमर्जेंसी के पूरे दौर को दो हिस्सों में बाँट देती है—एक उससे पहले का दौर और एक उससे बाद का दौर। इस घटना से दबे हुए ख़ौफ़ और खुली बेरहमी के बीच की दूरी ख़त्म हो गयी। इमर्जेंसी लागू होने के बाद यह पहली घटना थी जिसमें आमलोगों के ग़ुस्से को संगीनों के बल से दबाया गया। वे सारी समस्याएँ इस एक घटना में सिमट आयी थीं जिन्होंने श्रीमती गांधी को और कांग्रेस को संकट में घेर लिया—अल्प-

संख्यकों का दूर होते जाना; परिवार नियोजन जैसी चीज़ों के प्रति एक रूढ़िवादी समाज की बुनियादी विरोध की भावना और उन्हें पूरा करने के लिए इस्तेमाल किये जानेवाले तरीक़ों की बर्बरता; संजय का दखल; मीसा का दुरुपयोग; धमकियाँ; और जो लोग यों अच्छे-भले संवेदनशील, अच्छे-भले दूसरों की बात सुनने वाले और अच्छे-भले सूझ-बूझ से काम लेने वाले थे—जैसे स्वयं इन्दिरा गांधी—उनमें दूसरों की बात को समझने की कोशिश न करने और उनकी सांस्कृतिक भावनाओं की कोई परवाह न करने की प्रवृत्ति।

ऐसा लगता है कि जैसे इमर्जेंसी के भी दो चेहरे थे। अनुशासन, स्थायित्व, अधिक उत्पादन, वक़्त की पाबंदी, मेहनत से काम करना, विदेशी विनिमय-मुद्रा का बढ़ता हुआ भंडार और पच्चीस-सूत्री कार्यक्रम तो मानो एक बाहरी रेशमी परदा था, जिसमें चमक-दमक थी, नरमी थी और चिकनापन था, लेकिन उसके पीछे घावों और नासूरों से भरा हुआ एक शरीर छिपा हुआ था। किसी ऐसे नौजवान की नसबंदी कर दी गयी जो शादी करने जा रहा था, किसी अध्यापक ने मजबूर होकर आत्महत्या कर ली, कोई परिवार बे-घरबार हो गया, किसी को बिना किसी दाद-फ़रियाद के जेल में ठूंस दिया गया, किसी के कारोबार का दिवाला निकल गया, इनकम-टैक्स के छापों के ज़रिये राजनीतिक बदले निकाले जाने लगे, पार्टी में साथ काम करनेवालों और पुराने साथियों को यंत्रणाएँ दी गयीं, गंदी पेचीदा तिकड़में, और समाज से मार्मिक स्थलों को नष्ट करने, उन्हें कलंकित और अपमानित करने और अंत में उन्हें बिलकुल निष्प्राण बना देने की साज़िशें।[5]

सच तो यह है कि उस दौर में ख़ुद समाज के दो चेहरे थे। एक तरफ़ तो वे लोग थे जिन्होंने मुसीबतें झेली थीं और उनके दिल में डर बैठ गया था और दूसरी तरफ़ वे लोग थे जिन्होंने कोई मुसीबतें नहीं झेली थीं और जिन्हें कुछ भी मालूम नहीं था। शायद ही कोई ऐसा आदमी होगा जिसे कुछ मालूम था और उसने मुसीबत न झेली हो, अलावा श्रीमती गांधी के जिन्होंने यह सब-कुछ अपनी आँखों के सामने होते देखा—जैसे तुर्कमान गेट की घटना, जिसे उन्होंने देखा लेकिन जिसकी उन्होंने कोई परवाह नहीं की।

"हम लोग सिर्फ़ यहाँ तक मकान गिरायेंगे," डी० डी० ए० के एक अधिकारी ने एक लाइन की तरफ़ इशारा करते हुए हाफ़िज़ मुहम्मद से कहा।

"लेकिन वे तो उस लाइन से आगे बढ़ गये हैं," हाफ़िज़ मुहम्मद ने फ़रियाद करते हुए कहा।

वह आदमी देखने के लिए उठा और उसने अपना सर हिला दिया। इतने में एक इमारत धड़ाम से नीचे आ गिरी। "इस औरत को अस्पताल ले जाओ," उसने एक नौजवान औरत की तरह इशारा करते हुए कहा, जिसके अभी हाल ही में बच्चा हुआ था और वह खुले आसमान के नीचे सड़क पर पड़ी हुई थी।

१४ अप्रैल को एक लाइन में बने हुए निजी घरों की एक क़तार सही-सलामत बच गयी थी—इनमें से कुछ बहुत अच्छे, बड़े-बड़े और आलीशान मकान थे जिनमें एयर-कंडीशनर लगे थे और कुछ छोटे-छोटे, गंदे और घुटे हुए मकान थे, जो आरामदेह तो नहीं थे लेकिन थे पक्के। वहाँ न कोई झुग्गी थी और न कोई झुग्गीवाला था, लेकिन घबराये हुए सभी थे। उन्हें कोई नोटिस नहीं मिला था लेकिन अब उन्हें सरकारी काम-काज के तौर-तरीक़ों पर कोई भरोसा नहीं रह गया था। वे सब लोग हुस्न की मलिका रुख़साना के पास गये,

जिसने इस इलाक़े को नसबंदी की मुहिम के लिए चुना था। इस काम में उसकी मुस्तैदी की वजह से संजय उसकी तारीफ़ करते नहीं थकता था और लोग बग़ावत पर आमादा हो गये थे। वे जानते थे कि वह अपनी सम्मोहक आवाज़ से नवीन चावला को बस एक टेलीफ़ोन कर देगी और हुक्म रद्द हो जायेगा। लेकिन रुख़साना इसके लिए क़ीमत चाहती थी।

"मैं उन लोगों को रोक दूँगी," उसने कहा। "लेकिन आप लोगों को तीन काम करने होंगे : एक तो संजय के प्रोग्राम का बोर्ड लगाना होगा, दूसरे कुछ पेड़ लगाने होंगे और तीसरे नसबंदी के लिए लोगों को लाना होगा।"

"हम लोग आपको नसबंदी के लिए १५० आदमी देंगे," उन लोगों ने बड़ी बेबसी से कहा।

"इतने तो बहुत कम हैं। आप तो जानते ही हैं कि मुझे संजयजी को कुछ करके दिखाना है।"

"अच्छी बात है, बाजी, लेकिन हमारे घर बचा लीजिये।"

"मैं जगमोहन से पूछकर आप लोगों को बताऊँगी।"

उसी रात ये लोग खरशीद आलम[१] से मिले। उन्होंने कहा, "अगर रुखसाना ने यक़ीन दिला दिया है तो फिर आप लोगों को फ़िक्र करने की कोई ज़रूरत नहीं है।" १५ अप्रैल को वे लोग रुखसाना से नहीं मिल सके, और मकान गिराने वाले गिरोह उस इलाक़े में ग़ैर-क़ानूनी मकानों या डी० डी० ए० की मिल्कियत की हद से आगे तक धावे मार रहे थे। लोग मिलकर सुभद्रा जोशी के पास गये। उन्होंने जवाब दिया, "हम लोग सिर्फ़ झुग्गियाँ साफ़ कर रहे हैं।" यह बात सुनकर लोग हैरान रह गये। "आप भी यही बात कह रही हैं। सारी दिल्ली में अब कोई झुग्गी-झोंपड़ी नहीं रह गयी है, तो यहाँ कहाँ से आयेगी? हम सब लोग कांग्रेसी हैं, ये हमारे निजी मकान हैं, ये सब-के-सब ३,४०० मकान।" इसके बाद सुभद्रा जोशी ने वह फ़ेहरिस्त ले ली।

१६ अप्रैल को हाजी करामत ने, जो रुखसाना का हाथ बँटाने में बहुत आगे थे, उन लोगों को श्रीमती गांधी से मिलने की सलाह दी। उन्होंने बड़े गर्व से कहा, "मैं उस ख़ानदान को जानता हूँ। मेरा एक बेटा उन्हीं लोगों के साये में पला-बढ़ा है। वह ज़रूर सुनेंगी।"

इसके बाद स्थानीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य दो बसों में भरकर प्रधान मंत्री से मिलने गये। "हम लोगों को यहीं बसा रहने दीजिये। ये मकान हमारे बाप-दादा ने अपने ख़ून-पसीने से बनाये हैं। ये लोग ऐसी बातें करते हैं जैसे अब हमारा कुछ है ही नहीं।"

श्रीमती गांधी ने बड़ी रुखाई और सख़्ती से बात की। "अगर हम आप लोगों को इसी तरह बसाते रहे तो फिर हम इस शहर को ख़ूबसूरत कैसे बना सकेंगे? हम आप लोगों के लिए कुछ नहीं कर सकते," इतना कहकर वह चली गयीं।

१६ अप्रैल को करामत ने उन लोगों से दोजाना हाऊस में रुखसाना के नसबंदी कैंप में जाने को कहा। "मैंने उन्हें और जगमोहन को सब-कुछ समझा दिया है," उन्होंने कहा।

लोग डरे हुए थे। उन्होंने ५०० आदमियों की भीड़ जुटा ली। लेकिन फिर भी वे घबराये हुए थे। उन्हें नसबंदी के लिए पकड़ा जा सकता था, जिससे वे सभी थरथर काँपते थे।

"बाजी, हम आपके पास नसबंदी के लिए २०१ आदमी लाये हैं," उन्होंने रुखसाना से कहा, "हर आदमी के बदले हमें एक घर दिला दीजिये।"

"मैं इसके बारे में सोचूंगी," रुखसाना ने बड़ी अदा से बात को टालते हुए कहा।

रात को वे लोग ट्रकों में भर-भरकर अर्जुनदास से मिलने गये।

"हमें दूसरी जगह ढूंढ़ने के लिए बस थोड़ा-सा वक़्त चाहिए। हम और कुछ नहीं चाहते। हमें पहली तारीख़ तक की या २९ तारीख़ तक की ही मोहलत दे दीजिये—तब तक आप सारा इलाक़ा ख़ाली पायेंगे।"

"मैं कुछ नहीं कर सकता," उन्होंने कहा, "वह रुखसाना का इलाक़ा है।"

उस रात, एक दोस्त ने, जिनका नाम वे नहीं बताना चाहते, उनको प्रधान मंत्री के नाम एक अर्ज़ी भेजने की सलाह दी। उन्होंने वादा किया कि उनकी अर्ज़ी प्रधान मंत्री की मेज़ पर पहुँचा दी जायेगी, जहाँ वह उसे ज़रूर देखेंगी।

उन लोगों ने एक अर्ज़ी श्रीमती गांधी के नाम लिखी और दूसरी संजय के नाम। जब वे सारे क़ाग़ज़ात लेकर १ सफ़दरजंग रोड पर गये तो श्रीमती गांधी उस वक़्त बड़ी तेज़ी से मोटर पर कहीं जा रही थीं। वे अर्ज़ी लेकर रात को ग्यारह बजे फिर गये, जब वह लौटकर आने वाली थीं। अर्ज़ी मेज़ पर रख दी गयी। बाद में इन लोगों को अपने दोस्त से मालूम हुआ कि अर्ज़ी संजय ने उठाकर पढ़ी थी और एक तरफ़ फेंक दी थी। इन्दिरा गांधी ने उसे उठाकर पढ़ा और वापस रख दिया। उसके बाद वह परदा एक तरफ़ को सरकाकर अपने कमरे की तरफ़ चली गयीं।...दूसरे दिन सुबह पूरा परिवार शिमला चला गया।

१८ तारीख़ को उस इलाक़े के चार रहनेवाले बेहद परेशान हालत में करामत को लेकर जगमोहन के पास गये; करामत डी० डी० ए० के ठेकेदार भी थे।

"अगर तुम लोग इसी तरह एक इलाक़े में घुस-पिलकर रहते रहोगे तो कभी कोई तरक़्क़ी नहीं कर पाओगे।"

"न सही, लेकिन आप हम लोगों को यहीं रहने दीजिये।"

जगमोहन ने गुस्से से अपनी ऐनक मेज़ पर पटक दी और करामत की ओर मुड़कर बरस पड़े, "मैं यहाँ एक और पाकिस्तान नहीं चाहता!"

चारों इतना डर गये कि चुपचाप वहाँ से चले आये। इसके बाद वे मीर मुश्ताक़ के पास गये; कांग्रेस के अध्यक्ष बरुआ से मिले, जिन्होंने उनसे आँख तक नहीं मिलायी, बिना कुछ कहे बस अर्ज़ी ले ली। वे फिर सुभद्रा जोशी के पास गये। अभी सुभद्रा जोशी ने उनके साथ उस इलाक़े में जाने की हामी भरी ही थी कि इतने में किसी का टेलीफ़ोन आया। उन लोगों ने भाँप लिया कि यक़ीनन बरुआ का टेलीफ़ोन रहा होगा, जिन्होंने सुभद्रा जोशी को सचेत कर दिया होगा कि अगर वह संजय की योजना में दख़ल देंगी तो उसका क्या अंजाम होगा। सुभद्रा जोशी यह कहती हुई बाहर निकलीं, "मेरी तबीयत ज़रा ठीक नहीं है। मैं शायद जा नहीं सकूँगी।"

१८ तारीख़ को सुबह रोती हुई औरतों, बिलखते हुए बच्चों और पत्थर के बुतों की तरह ख़ामोश मर्दों के बीच से दनदनाते हुए बुलडोज़रों ने उस इलाके पर चढ़ाई कर दी। इसके बाद तो विरोध की आग भड़क उठी! एक तरफ़ से किसी ने पत्थर फेंका, एक अट्ठारह बरस के लड़के को गोली लगी, और चारों तरफ़ एक

कुहराम मच गया ! इलाक़े की पुलिस ने वहाँ के रहने वालों को बचाने की कोशिश की, ख़ासतौर पर उन नौजवान लड़कियों को, जिनका पीछा सी० आर० पी० के बदकार सिपाही भूखे भेड़ियों की तरह कर रहे थे। जिन लोगों ने ये बातें अपनी आँख से देखी थीं और बयान कीं, उनके दिल अब तक दहले हुए थे। जो औरतें नहीं भाग सकीं वे अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए मकानों की छतों पर से नीचे कूद पड़ीं। घर लूट लिये गये, नयी-नवेली दुल्हनों के ज़ेवर छीन लिये गये और मर्दों को उनके घरों के अंदर घुस-घुसकर बुरी तरह पीटा गया। औरतों के साथ न सिर्फ़ बलात्कार किया गया बल्कि जलती सिगरेटों से उनके स्तन दाग़ दिये गये।

कर्फ़्यू लागू कर दिया गया।

अगले दिन सुबह जो परिवार बेघर हो गये थे उन्हें इसके बदले में ख़ाली ज़मीन के टुकड़े देने के लिए सफ़ेद काग़ज़ की पर्चियाँ दी गयीं—लेकिन वहाँ से पंद्रह मील दूर खिचड़ीपुर में। हाजी मुहम्मद इद्रीस ने, जिनकी बीवी को पिछली रात भीड़ में बुरी तरह पीटा गया था, बुझे हुए स्वर में कहा, 'मेरा बड़ा-सा घर था। कमरों में एयर-कंडीशनर लगे थे। फ़र्नीचर था, टेलीविज़न था, रेफ्रीजरेटर था, कपड़े-लत्ते सभी कुछ था...।"

"हलफ़िया बयान दाख़िल करो," पर्चियाँ बाँटने वाले अफ़सर ने कहा।

सारे देश में मुस्लिम जगत में मातम छा गया। सेंसर ने अख़बारों में बस एक छोटी-सी ख़बर छपने की इजाज़त दी, लेकिन ख़ुफ़िया तौर पर एक पर्चा बाँटा गया, जो कई लोगों तक पहुँचा, जिसमें मरने वालों के नाम दिये गये थे...।

प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी शिमले से लौटने के बाद भी उस इलाक़े में नहीं गयीं। लेकिन जब शेख़ अब्दुल्ला बहुत दुःखी होकर, इस घटना के लगभग फ़ौरन ही बाद, दिल्ली यह मालूम करने पहुँचे कि क्या हुआ है तो श्रीमती गांधी ने यूनुस को टेलीफ़ोन किया, "इतनी तरह-तरह की बातें सुनने में आ रही हैं, आप जाकर देखते क्यों नहीं ?"

"जी हाँ," यूनुस ने कहा, "शेख़ साहब मुझसे पहले ही कह चुके हैं।"

जब ये दोनों उन बस्तियों का दौरा करने गये जहाँ तुर्कमान गेट के उजड़े हुए लोग ले जाकर बसाये गये थे, तो डी० डी० ए० के कर्त्ता-धर्त्ता जगमोहन भी उनके साथ थे। इसी बात से उन पर से लोगों का भरोसा फ़ौरन उठ गया होगा। लेकिन एक बात बिलकुल साफ़ तौर पर उभरकर सामने आयी। जो लोग उजाड़े गये थे वे झुग्गी वाले नहीं थे। वे एक ऐसे इलाक़े में रहते थे जहाँ उनके बाप-दादा रहते आये थे। वे अपने मकानों का टैक्स भी देते थे। उन लोगों ने मकान किसी से ज़बर्दस्ती नहीं हथियाये थे, और उन्हें जिस बेदर्दी से वहाँ से निकाल फेंका गया वह सामाजिक उन्नति के किसी भी कार्यक्रम को सफल बनाने का तरीक़ा तो नहीं हो सकता। खिचड़ीपुर बस्ती का एक रहने वाला यूनुस साहब और शेख़ साहब के साथ तुर्कमान गेट गया। वहाँ उन्होंने 'सताये जाने' की बातें सुनीं लेकिन किसी ने 'ज़ुल्म' लफ़्ज़ का इस्तेमाल नहीं किया। उन्हें डी० डी० ए० की 'मनमानी धाँधली' की बात तो सुनने को मिलीं लेकिन 'संजय' का नाम किसी ने नहीं लिया।

"क्या आप समझते हैं कि वे इतना डरे हुए थे कि कुछ कह नहीं सकते थे ?" मैंने यूनुस साहब से पूछा।

"नहीं, मैं समझता हूँ कि जिस तरह मैं किसी बात के बारे में जो महसूस करता हूँ वही कहता हूँ, उसी तरह दूसरे लोग भी ऐसा ही करते होंगे। जो कुछ

बाद में पता चला उसका एक थोड़ा-सा हिस्सा भी मुझे नहीं बताया गया था।"

लेकिन जब वे सही हालात का पता लगाने के लिए उस इलाक़े का दौरा कर रहे थे तो जो आदमी उन्हें ले जाकर हर चीज़ बताना चाहता था, उसे उनके सामने ही गिरफ़्तार कर लिया गया। शेख़ साहब बेहद बिगड़कर कश्मीर चले गये। लेकिन यूनुस प्रधान मंत्री के पास गये।

"वहाँ पुलिस के बारे में कुछ करना पड़ेगा। मैंने लेफ़्टिनेंट-गवर्नर से कह दिया है। इसका सबूत यह है कि हमारा अपना आदमी हमारी आँखों के सामने गिरफ़्तार कर लिया गया।"

"हमें इस मामले की जाँच करनी होगी," प्रधान मंत्री ने कहा।

उसी दिन शाम को जब प्रधान मंत्री ने दूसरे लोगों से तुर्कमान गेट के बारे में पूछा, तो मीर मुश्ताक़ अहमद ने पुलिस की तरफ़दारी करने की कोशिश की।

"वह आदमी गिरफ़्तार नहीं किया गया था!" मीर साहब ने प्रधान मंत्री को बताया। "उसका पाँव मेरे पाँव पर पड़ गया था इसलिए पुलिस ने उससे दूर रहने को कहा था।"

लेकिन बेगम आबिदा अहमद भी उस इलाक़े में गयी थीं और उनसे भी उसी पुलिस अफ़सर के ख़िलाफ़ शिकायतें की गयी थीं, जो इतनी बदतमीज़ी के साथ पेश आया था। उन्होंने यह बात यूनुस को बतायी। जब वह दुबारा प्रधान मंत्री के पास गये तो वह बरस पड़े, "अब मुझे किसी ऐसी जगह न भेजा जाये जहाँ मुझे इतनी शर्मिंदगी उठानी पड़े। एक छोटे-से पुलिस अफ़सर तक के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती।"

"आप ही बताइये, मैं क्या करूँ!" प्रधान मंत्री ने कहा। "देखिये, ये सब लोग क्या कहते हैं।" जिन तीन आदमियों का इस घटना से दरअसल संबंध था—मीर मुश्ताक़, लेफ़्टिनेंट-गवर्नर और इंस्पेक्टर-जनरल पुलिस—उन तीनों ही ने प्रधान मंत्री को बताया था कि कोई गिरफ़्तार नहीं किया गया था।

ज़ाहिर है, श्रीमती गांधी ने उन लोगों पर ही यक़ीन करना बेहतर समझा। इसमें शक नहीं कि उस रवैये में उन्हें संजय के इस दृढ़ विश्वास से बहुत सहारा मिला था कि यहाँ-वहाँ कुछ लोगों के मर जाने से किसी योजना को पूरा करने में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। शशिभूषण ने एक सेमिनार किया था जिसमें उन्होंने संजय को भी बुलाया था। इस सेमिनार में राजनीति के क्षेत्र के इस नये सूरमा ने व्यंग्य करने के लिए सिर्फ़ प्रेमसागर गुप्ता की मिसाल चुनी थी, जिन्होंने पी० एन० धर को लोगों के नयी बस्तियों में बसाये जाने के बारे में आँकड़े दिखाये थे। संजय ने कहा, "उन्होंने प्रधान मंत्री की कोठी पर काग़ज़ के पुलिंदे-के-पुलिंदे शिकायतों से रँगकर दाख़िल किये थे। लेकिन सब झूठी निकलीं।" ज़ाहिर है कि इस पृष्ठ-भूमि में जब एक प्रतिनिधिमंडल राष्ट्रपति फ़ख़रुद्दीन अली अहमद के पास गया, जिनको इस पूरी घटना ने बुरी तरह झँझोड़ दिया था, और उन्होंने प्रधान मंत्री से शिकायत की, तो उन्होंने राष्ट्रपति की बात यह कहकर टाल दी कि उन्हें इस मामले में सांप्रदायिक दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए। प्रधान मंत्री ने यह बात भी कही कि उनकी राय में बेगम आबिदा ने लोगों को नयी बस्तियों में बसाने की समस्या के बारे में जो मूल्यांकन किया था वह सही नहीं था।

स्पष्ट है कि श्रीमती गांधी ने यह तय कर लिया था कि वह किस पर विश्वास करना चाहती हैं।

जामा मस्जिद के इलाक़े में रहने वाले कुछ लोगों को १० दिसंबर १९७६

को वह जगह दिखाने के लिए ले जाया गया जहाँ उन्हें बसाया जाने वाला था। लेकिन जिस वक़्त वे डी० डी० ए० के अफ़सरों और पुलिसवालों के साथ जीप पर जा रहे थे तो उन्होंने एक अफ़सर को कहते सुना : "जो भी चूँ करे उसे मीसा में पकड़-कर बंद कर दो।" अगले दिन जामा मस्जिद के इलाक़े की खानख़ाना गली की२०० औरतें प्रधान मंत्री के पास यह फ़रियाद लेकर गयीं कि उन्हें अपनी मौजूदा जगह से हटाया न जाये। प्रधान मंत्री ने उन्हें यक़ीन दिलाया, "हमारा इस तरह का कोई इरादा नहीं है। आप इत्मीनान से जाकर बैठिये।"

इसके बाद इज़्हार असर, जो लेखक हैं और उस इलाक़े के सामाजिक कार्य-कर्ता हैं, रुख़साना के पास गये। "देखिये, लोगों को मजबूर न कीजिये। प्रधान मंत्री ने उन्हें यक़ीन दिलाया है, इसलिए कोई यहाँ से हटने को तैयार नहीं है।"

रुख़साना ने एक फ़ाइल खोली। "जी हाँ, मेरे पास उन तमाम लोगों के नाम मौजूद हैं जो गड़बड़ी पैदा कर रहे हैं। मैं जानती हूँ, किन लोगों ने अपनी बीवियों को भेजा था, एक-एक को जानती हूँ। उन सबको यहाँ से हटना पड़ेगा। जो नहीं हटेगा, उसे उसका नतीज़ा भुगतना पड़ेगा। दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी के मम्मन साहब आपको सब-कुछ बता देंगे। मैं उनको संजयजी के पास ले गयी थी—संजयजी ने उनके सामने ही कहा कि पुलिस की मदद से सबको हटवा दिया जाना चाहिए। मैंने संजयजी से कहा कि मैं उन्हें ज़बर्दस्ती नहीं बल्कि प्यार-मुहब्बत से समझा-बुझाकर हटवा दूँगी। इसलिए मेहरबानी करके उनसे जाकर कहिये कि अगर वे रज़ामंदी से चले जायेंगे तो इसमें उन्हीं का फ़ायदा है।"

इसके बाद धमकियाँ शुरू हुईं। लोग कहने लगे, "अगर तुम नहीं हटोगे तो यहाँ भी वही होगा जो तुर्कमान गेट में हुआ था।"

लोग फिर एक बार हिम्मत करके प्रधान मंत्री के पास गये। "आपने तो कहा था कि कुछ नहीं होगा लेकिन उन लोगों ने तो हमें वहाँ से निकालना शुरू कर दिया है।"

वह चुप रहीं। बस इतना कहा, "धवन साहब आ रहे हैं, उनसे बात कर लो।"

धवन ने आकर उन लोगों से प्रधान मंत्री के सामने ही कहा, "हमने मीर साहब से पता किया था। वह तो कहते हैं कि सब लोग अपनी रज़ामंदी से जा रहे हैं।"

मीर साहब उस ज़माने में शायरी करते थे। उनके मिज़ाज में उन दिनों बड़ी रवानी थी और शेर थे कि दरिया की मौजों की तरह चले आ रहे थे। मिसाल के तौर पर उन्होंने अँग्रेज़ी में एक कविता लिखी थी जिसका आशय कुछ इस प्रकार था :

जो झूठ पर पल रहे, मुटिया रहे और बढ़ रहे,
उन तक सच्चाई नहीं पहुँचने देते हैं।
वे जनता के गौरव के लिए संघर्षशील,
और सच्चाई से स्वयं हीं सुपरिचित हैं।

वक़्त की माँग है कि चापलूस लोग चेतें—
नहीं तो उनकी करतूतें उन्हें जल्दी ही नंगा कर छोड़ेंगी।

किसी ने श्रीमती गांधी को यह नहीं बताया कि सबसे बड़ा चापलूस वह था जिसने बादशाह को इस भ्रम में रखा कि कोई उनकी चापलूसी करके अपना उल्लू

सीधा नहीं कर सकता। शायद मीर साहब ने जो बात कही थी वह उन्हें अच्छी लगी थी। शायद उन्होंने उसमें छिपे हुए अर्थ को जानते हुए भी अनजान ही बने रहना चाहा।

राधारमण कहते हैं, "मैंने उनको १९७४ में लिखा कि मैं उनका वफ़ादार भक्त हूँ, लेकिन वफ़ादारी का अर्थ उस भाषा के अनुसार नहीं लगाया जाना चाहिए जो उन दिनों इस्तेमाल हो रही थी। वफ़ादारी किसी एक आदमी के व्यक्तित्व के प्रति नहीं होनी चाहिए, हमें व्यक्ति-पूजा से बचना चाहिए।' धवन ने यह ख़त उन्हें कभी दिया ही नहीं। मुझे वापस कर दिया!"

दोजाना हाउस में रुख़साना रोज़ शाम को अपने सभी काम करने वालों और प्रशंसकों को जमा करके इस बात का लेखा-जोखा करती थीं कि दिन-भर में क्या-क्या हुआ? एक दिन शाम को इसी तरह के एक दरबार में रुख़साना ने बड़े अर्थ-पूर्ण ढंग से इठलाकर अपने क़दमों में बैठे हुए लोगों कहा, "आप लोग जानते हैं, मैंने आज संजयजी से क्या कहा? मैंने कहा, 'डार्लिंग, शहर में लोगों में मुख़ालफ़त बढ़ती जा रही है,' और आप जानते हैं उन्होंने क्या कहा? उन्होंने कहा, 'डार्लिंग, तुम आधी दिल्ली को जलाकर ख़ाक भी कर दो तो मैं पलट कर नहीं पूछूंगा...।'"

"संजय अफ़सरों पर अपना हुक्म चला रहा था, वह किशनचंद तो बिलकुल गोबर-गणेश थे जिन्हें नवीन चावला ने वहाँ बिठा दिया था, पुलिस रुखसाना के इशारों पर नाचती थी, यहाँ तक कि रुखसाना जिस तरह से काम कर रही थी और उससे जो नुक़सान हो रहा था, उसे कुछ हद तक कम करने के लिए मेरी बीवी ने भी परिवार नियोजन का काम शुरू कर दिया था। मैंने उसको समझाया भी कि हम लोग तो इसमें फँस गये हैं, तू इसमें जान-बूझकर क्यों फँसना चाहती है? हमने इन्दिराजी को सब बताया कि क्या हो रहा है, वह कैसे कह सकती हैं कि उन्हें कुछ भी मालूम नहीं? जो छापे पड़ रहे थे और दबाव डालकर जिस तरह पैसा वसूल किया जा रहा था, उसके बारे में ख़ुद मैंने कई बार संजय से बात की। वह कह देता, 'क्या सबूत है?' अब इस तरह सबूत क्या दिया जा सकता है? यह तो काम करने का ढंग था। जब मैंने मकान गिराये जाने के बारे में बात की तो उसने कहा, 'आप इसमें टाँग न अड़ाइये।' पॉलिसी के मामले में वह प्रधान मंत्री से पूछे बिना कोई क़दम नहीं उठाता था, लेकिन रोज़मर्रा की ब्यौरे की बातों के सिलसिले में ऐसा नहीं था। वह भी 'हाँ' कह देती थीं। और नतीजा यह होता था कि वह जो कुछ कह देता था, वह काम ज़रूरत से ज़्यादा मुस्तैदी के साथ पूरा किया जाता था। वह जिस तरह से चढ़कर बात करता था उसका मैं मुक़ाबला नहीं कर सकता था। जी हाँ, वह मुझसे 'तू' कहकर बात करता था। मैं सोचता था कि शायद इसे धीरे-धीरे ढालकर अच्छा नेता बनाया जा सकता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं था कि आगे चलकर वह प्रधान मंत्री ही बन जाये। ख़ुशामदियों का असर लगातार बढ़ता जा रहा था। मैं मानता हूँ कि मुझमें इतनी हिम्मत नहीं हुई कि कह दूँ कि यह काम मेरे बस का नहीं है।" ये थे सत्तर बरस के बूढ़े राधारमण जिन्हें संजय जैसा नौसिखिया महज़ इसलिए अपनी उँगलियों पर नचा रहा था कि वह प्रधान मंत्री का बेटा था। "अंदर-ही-अंदर कुढ़ते सब थे, ये कांग्रेसी नेता, लेकिन उनके दिल में डर बढ़ता जाता था, और वे हर बात मानते जाते थे।"

"क्या आपको मालूम नहीं था कि देश में क्या हो रहा है? आप लोगों ने

प्रधान मंत्री के पास जाकर एतराज़ क्यों नहीं किया ?" मैंने कमलापति त्रिपाठी से पूछा। वह अपनी कुर्सी पर पैर पसारे बैठे थे और जो भी मिलने आता था वह उनके ब्राह्मण होने के नाते उनके पाँव छूता था।

त्रिपाठीजी राजनीति के मैदान के मँझे हुए पुराने खिलाड़ी थे और कितने ही तूफ़ान झेल चुके थे। लेकिन अब वह इस वक़्त कुछ उलझन में पड़ गये थे। उन्होंने जवाब दिया, "मैं बेहद उलझ गया हूँ, कुछ ठीक से समझ में नहीं आता। अगर हम अपने-आपको यह दलील देकर समझाने की कोशिश करें कि देश की अखंडता ख़तरे में थी, कि विदेशी पैसा धड़ल्ले से चल रहा था और कोई साज़िश रची जा रही थी, जैसा बाँगला देश में हुआ था और वही चीज़ यहाँ भी हो सकती थी, तो यह सोचकर दिल काँप उठता है कि अगर इमर्जेंसी न लागू की गयी होती तो क्या होता! दूसरी तरफ़, अगर हम उन बातों के बारे में सोचें जो बाद में हुईं, जो ज़्यादतियाँ यक़ीनन की गयीं, अध्यापकों की तनख़्वाहें रोकी गयीं, पूरे-के-पूरे गाँवों की नसबंदी कर दी गयी, कम-उम्र नौजवानों को और सत्तर-सत्तर बरस के बूढ़ों को भी इसके लिए पकड़ कर ले जाया गया, लोगों को ज़ाती बदला निकालने के लिए जेलों में ठूँस दिया गया, तो हमारे दिमाग़ में एक तस्वीर उभरती है कि अगर यह सब-कुछ न हुआ होता तो क्या होता। बहरहाल, मुझे बड़ा दुःख होता है।"

चंद्रशेखर का कहना है कि कांग्रेस के नेताओं के दिल में उन ज़्यादतियों की वजह से सिर्फ़ डर नहीं था जो उन्होंने की थीं, बल्कि वे बड़े धीरज से राह भी देख रहे थे और इन्दिरा गांधी को अपने फंदे में ख़ुद फँस जाने का पूरा मौक़ा दे रहे थे।...

जब सुप्रीम कोर्ट ने ५ नवंबर १९७५ को चुनाव वाले मुक़द्दमे में इन्दिरा गांधी के पक्ष में फ़ैसला दिया, तो उस वक़्त एल० के० अडवाणी ने जेल में अपनी डायरी में लिखा था, "मैं तो यही प्रार्थना कर रहा हूँ कि वह कहीं हम लोगों को रिहा न कर दें।" उन लोगों को पूरा यक़ीन था कि अगर फ़ैसला इन्दिरा गांधी के ख़िलाफ़ होता तो वह ज़रूर कोई सख़्त कार्रवाई करतीं। लेकिन उन्होंने इस बात का पक्का बंदोबस्त कर लिया था कि फ़ैसला उनके ख़िलाफ़ न जाने पाये। उन्होंने २१ जुलाई को संसद की एक विशेष बैठक बुलाकर उसमें **जन प्रतिनिधित्व अधिनियम** में इस तरह के संशोधन करवा दिये थे कि जिन बातों को जस्टिस सिन्हा ने अपने फ़ैसले की बुनियाद बनाया था उनकी ही कोई क़ानूनी हैसियत नहीं रह गयी। मीसा के साथ ही **जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम** को भी अदालतों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर कर दिया गया था।

विपक्ष वाले यह महसूस करने लगे थे कि गद्दी से हटा दिये जाने का ख़तरा हट जाने पर शायद वह कुछ नरम पड़ें और उन लोगों को रिहा कर दें। इन्दिरा गांधी ने इस घटना के दो-तीन महीने बाद तक भी ऐसा नहीं किया, यह उनकी इस दौर की दूसरी ग़लती थी। जून की तरह ही नवंबर में भी विपक्ष के सामने दूर-दूर तक इस बात की कोई संभावना नहीं दिखायी देती थी कि वह एकबद्ध हो सके और एक सशक्त मोर्चा बना सके। लोगों को जेल में बंद रखा गया। सत्याग्रह आंदोलन उसी वक़्त शुरू हुआ, और इस काम के लिए जो एकता क़ायम हुई उसी में आगे चल कर जनता पार्टी का रूप धारण कर लेने वाले वृक्ष के अंकुर मौजूद थे। १६ नवंबर से २० नवंबर तक एक हफ़्ते के अंदर दिल्ली में १७५, पंजाब में

४५०, हरियाणा में २५५, राजस्थान में ३६०, हिमाचल प्रदेश और जम्मू-कश्मीर में ६०, उत्तर प्रदेश में १,३२५, विहार में १,८००, पश्चिम बंगाल में १३२, असम तथा मणिपुर में १२४, उड़ीसा में १०३, आंध्र प्रदेश में ३६०, तमिलनाडु में १०८, केरल में ५४०, कर्नाटक में १,३७५, महाराष्ट्र में १,४३०, गुजरात में २०० और मध्य प्रदेश में ४१८ लोगों ने सत्याग्रह किया। फिर इसके साथ ही अंडरग्राउंड आंदोलन था। "हमारे सामने तीन काम थे : जनता से संपर्क स्थापित करना, कांग्रेस सरकार के अत्याचारों का पर्दाफ़ाश करते हुए पर्चे छापना, और अपनी सरगर्मियों का ज्यादा-से-ज्यादा प्रचार करना," सोशलिस्ट नेता व्रजमोहन तूफ़ान" ने, जिन्होंने उत्तर भारत में संगठन का काम अपने हाथों में सँभाल लिया था, इस आंदोलन का विवरण देते हुए कहा। उन्होंने कहा कि दिल्ली में हर तरफ़ सी० आई० डी० वालों की भरमार थी और वह जगह ख़तरे से ख़ाली नहीं थी। जब नेता गिरफ़्तार होने लगे तो रणनीति बदल दी गयी और यह फ़ैसला किया गया कि टेप पर ख़बरें भरकर विदेशों को भेजी जायें। तूफ़ान ने बताया, "बर्लिन, लंदन और स्टाकहोम में इनका बहुत स्वागत किया गया और जो ख़बरें वहाँ पहुँचीं उनसे मित्रों को छोटे-छोटे अख़बार शुरू करने का प्रोत्साहन मिला। १९७५ के अंत में विदेशों में कुछ दूत भेजने की कोशिश की गयी। जाली पासपोर्टों से इसमें बहुत मदद मिली और वे उन दिनों दो-दो हज़ार रुपये में बन जाते थे। जनवरी १९७६ तक हमारे सारे साधन ख़त्म हो चुके थे, दोस्तों को ज़रा-से शुबहे पर गिरफ़्तार कर लिया जाता था, उनके घरों पर छापा मारा जाता था और उनके रिश्तेदारों को दिन-रात सताया जाता था। लेकिन बिहार से एक नये अध्याय का श्रीगणेश हुआ। जयप्रकाश नारायण जेल से बाहर आ चुके थे। हम लोगों ने बाक़ायदा उनसे सलाह लेना शुरू किया। हमारे अंडरग्राउंड कार्यकर्त्ता फ़िल्म अभिनेताओं के वेश में उनसे मिलने जाते थे।"

सत्याग्रह समाचार. जनवाणी, रेज़िस्टेंस, सत्य वार्त्ता मिनी मदरलैंड, क्रांति-दूत आदि कितने ही बुलेटिन चोरी-छिपे प्रसारित किये जाने लगे, जिनमें हर तरह की हिदायतें दी जाती थीं : "इस बात को कभी न भूलिये...कि हमारे नेता जेलों में सड़ रहे हैं; हर महीने अपनी आमदनी का एक हिस्सा परीक्षा की इस कठिन घड़ी में राष्ट्र को अर्पित कर देने के लिए अलग रख लीजिये; जब तक यह चुनौती सामने है उसके ख़िलाफ़ लड़ने के लिए अपने परिवार का एक सदस्य दीजिये।"

इसके जवाब में श्रीमती गांधी ने एक के बाद एक संविधान में और क़ानूनों में कितने ही संशोधन कराये जिनकी वजह से उनकी स्थिति इतनी मज़बूत हो गयी कि कोई उन्हें हिला नहीं सकता था, और उन्हें अपने आर्थिक उपायों में कुछ सफलता प्राप्त करने का मौक़ा मिल गया। संसद को सर्वोपरि बना दिया गया, मूल अधिकार छीन लिये गये, अदालतों से प्रधान मंत्री, राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति और लोकसभा के अध्यक्ष के चुनाव के संबंध में किसी भी मुक़द्दमे की सुनवाई करने का अधिकार ले लिया गया। जब स्वयं सुप्रीम कोर्ट ने श्रीमती गांधी की सरकार के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया कि वह अदालत में सुनवाई के बिना अपने राजनीतिक विरोधियों को गिरफ़्तार कर सकती हैं, तो अकेले जस्टिस एच० आर० खन्ना थे जिन्होंने इसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते हुए यह दलील दी कि हेबियस कार्पस का रिट जारी करने का अधिकार "उन लोकतांत्रिक राज्यों का एक सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है जहाँ क़ानून का शासन चलता है।" इस दलील के जवाब में कि इमर्जेंसी के अंतर्गत संविधान में जो अधिकार दिये गये हैं उनके

अनुसार यह फ़ैसला वैध है, जस्टिस खन्ना ने कहा कि "अगर शुद्धत: औपचारिक दृष्टि से देखा जाये तो नाज़ी शासन के दौरान जो नरसंहार किया गया था वह भी पूरी तरह क़ानूनी था।"

श्रीमती गांधी ने कहा, "मैं और मेरे पिता उन पहले लोगों में से थे जिन्होंने उस वक़्त हिटलर और मुसोलिनी के खिलाफ़ आवाज़ उठायी थी जब इंगलैंड और अमरीका में और योरुप के बहुत-से देशों में लोग उन्हें बड़ी प्रशंसा की दृष्टि से देखते थे। मेरे कितने ही निजी दोस्त नाज़ियों के कन्सेंट्रेशन कैंपों में जान से मारे गये। इसलिए मैं इस बात को ज़्यादा अच्छी तरह महसूस कर सकती हूँ...।"[८]

लेकिन जो बेशुमार अंडरग्राउंड परचे छापे जा रहे थे उनमें ठीक इसी बात पर ज़ोर दिया जा रहा था कि नाज़ियों ने भी इसी तरह डिक्टेटरशिप को संविधान के सहारे वैध ठहराया था। जून १९७६ तक आख़िरी लोकतांत्रिक आदर्शों को भी दफ़न किया जा चुका था। उस साल फ़रवरी में जो चुनाव होने वाले थे उन्हें टाल दिया गया था और संसद की अवधि एक साल के लिए बढ़ा दी गयी थी। बाहर विपक्ष के जो लोग थे उन्होंने दबी ज़बान से इसका विरोध किया कि जिस संसद को जनता का समर्थन न प्राप्त हो उसे संविधान में कोई संशोधन करने का क़ानूनी अधिकार नहीं है।

निरंकुश शासन के लिए जो ये सामूहिक उपाय किये जा रहे थे उनके साथ ही प्रचार के माध्यमों पर भी पूरा नियंत्रण स्थापित कर दिया गया था। सेंसरशिप तो इमर्जेंसी के साथ ही लागू हो गयी थी और उस पर बड़ी सख़्ती से अमल किया जा रहा था। लेकिन चार समाचार एजेंसियों को मिलाकर, जो उस वक़्त अलग-अलग काम कर रही थीं, एक एजेंसी बना देने का फ़ैसला एक ऐसा बुनियादी और ढाँचे को सिरे से ही बदल देने वाला क़दम था, जो इमर्जेंसी उठ जाने के बाद भी—अगर कभी इमर्जेंसी हटती—सेंसरशिप हट जाने के साथ-साथ अपने आप ही ख़त्म नहीं हो सकता था। 'समाचार' की कल्पना इमर्जेंसी के साथ नहीं पैदा हुई, बल्कि दूसरे कई उपायों की तरह इसे भी इस दौर में व्यावहारिक रूप दिया गया जब माध्यमों की ओर से कोई भी विरोध इसकी स्थापना को रोक नहीं सकता था। अख़बारों और पत्रिकाओं पर तो सिर्फ़ इतनी पाबंदी थी कि शुरू में उन्हें हर चीज़ छापने से पहले सेंसर करानी पड़ती थी और बाद में सरकार की निर्धारित की हुई मार्गदर्शक दिशाओं का पालन करना पड़ता था, लेकिन इसके बावजूद उनके हाथ में स्वतंत्र अधिकार बाक़ी थे जिन्हें वे अधिक अनुकूल परिस्थितियों में इस्तेमाल कर सकते थे; लेकिन प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया (पी० टी० आई०), यूनाइटेड न्यूज़ ऑफ़ इंडिया, समाचार भारती और हिन्दुस्तान समाचार से तो उनका स्वतंत्र अस्तित्व ही छीन लिया गया था, और एक इकाई के रूप में वे शासन सत्ता का सरकारी स्वर बन गये थे।

जब अल्जियर्स में १९७३ में पहली बार गुट-निरपेक्ष जगत के अख़बारों से संबंधित समस्याओं पर औपचारिक रूप से विचार-विमर्श हुआ था, उसी समय इस क्षेत्र में गुट-निरपेक्ष देशों का सही रूप प्रस्तुत करने के लिए एक उपयुक्त व्यवस्था तैयार करने के प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया था। उस समय मुहम्मद यूनुस अपनी अफ़्रीका, एशिया तथा लैटिन अमरीका के विभिन्न देशों की यात्रा के दौरान समय-समय पर प्रधान मंत्री के पास इस सम्बन्ध में सूचनाएँ भेजते रहते थे। ये देश बार-बार यह पूछते रहते थे कि वे किस भारतीय समाचार एजेंसी के साथ सम्पर्क स्थापित करें। यूनुस महसूस करते थे कि भारत के विस्तार

और उसकी क्षमताओं को देखते हुए ज़रूरत इस बात की है कि एक बहुत विशाल और व्यापक व्यवस्था बनायी जाये—जैसे इंगलैंड में रायटर्स, फ्रांस में ए० एफ़० पी०, सोवियत संघ में तास और इंडोनीशिया में अंतारा। केवल अमरीका में दो एजेंसियाँ थीं। लगभग अन्य सभी देशों में केवल एक एजेंसी थी। १९७५ के मध्य में यह समस्या और भी तात्कालिक हो गयी। "पाकिस्तान एक मुस्लिम समाचार एजेंसी बनाने और अरब देशों और दूसरे मुस्लिम राज्यों को उसमें घेरकर लाने की कोशिश कर रहा है," युनुस ने प्रधान मंत्री से कहा। "हम बिलकुल अकेले पड़ जायेंगे। कुछ अफ्रीकी देश भी कुछ गरोहबंदियों की बात सोच रहे हैं। इससे गुट-निरपेक्ष जगत में फूट पड़ जायेगी और हम एक बार फिर पश्चिमी देशों की ताक़तवर एजेंसियों के चंगुल में फँस जायेंगे।"

"हाँ, मैं समझती हूँ कि यह काम फ़ौरन किया जाना चाहिए," प्रधान मंत्री ने उत्तर दिया।

इसके बाद केन्द्रीय सूचना तथा प्रसारण-मंत्री ने मोर्चा सँभाल लिया और चूँकि वह इमर्जेंसी का ज़माना था इसलिए **समाचार** की स्थापना के चारों ओर जिस विशाल और विस्तृत व्यवस्था का विकास हुआ वह पूरी तरह सरकार के हाथ में थी, हालाँकि भारत के एक सबसे प्रतिष्ठित संपादक, हिन्दू के गोपालन कस्तूरी उसके बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स के चेयरमैन बनाये गये थे। **समाचार** में इस बात की पूरी क्षमता निहित थी कि वह संसार के प्रचार-माध्यम के मानचित्र में भारत को एक प्रमुख स्थान दिला सके, लेकिन इमर्जेंसी के कारण वह देश के अन्दर प्रचार-प्रसार के माध्यमों पर कड़े नियंत्रण के कार्यक्रम का एक अभिन्न अंग बन गया और रेडियो या टेलीविज़न की तरह उसकी भी इजारेदारी क़ायम हो गयी। फिर भी वह संसार की छठी सबसे बड़ी समाचार एजेंसी बन गयी, जिसकी बदौलत भारत ने पहल करने का श्रेय यूगोस्लाविया से छीन लिया और नब्बे गुट-निरपेक्ष देशों की समाचार एजेंसियों के सामूहिक संगठन के निर्माण में अगुवाई की। "तय यह किया गया कि भारत के हर छोटे शहर या ज़िले में **समाचार** के संवाददाता होंगे और वह विदेशों में अपने कम-से-कम पचास दफ़्तर खोलेगा—पंद्रह एशिया में, पंद्रह अफ्रीका में, दस योरप में, दस लैटिन अमरीका में और सारी दुनिया में उसके साथ आंशिक रूप से सम्बद्ध ख़बरें भेजने वाले लोग होंगे।" अब तक जो चार एजेंसियाँ थीं वे मिलकर भारत के केवल चौथाई भाग से ही ख़बरें जुटा पाती थीं और देश के बाहर उनके केवल पाँच दफ़्तर थे। यह एक ऐसा विचार था जो एक महत्त्वपूर्ण ताक़त के रूप में भारत की बढ़ती हुई क्षमता के सर्वथा अनुकूल था। ज़रूरत केवल इस बात की थी कि **समाचार** के लिए एक ऐसा स्वायत्त ढाँचा तैयार किया जाये जो उसे बदलती हुई सरकारों के नियंत्रण से मुक्त रख सके। वह अपने लिए काम करने का उतना ही उन्मुक्त, सशक्त और रचनात्मक ढंग विकसित कर सकता था जैसा कि स्वायत्त कार्पोरेशनों के रूप में रेडियो और टेलिविज़न के लिए सोचा जा रहा था।

अपने नियंत्रण का शिकंजा और मज़बूती के साथ कसने की कोशिशों के साथ-ही-साथ इन्दिरा गांधी ने बहुत पहले नवम्बर १९७५ में ही इस बात की टोह लेना शुरू कर दिया था कि अगर लोकतांत्रिक व्यवस्था फिर क़ायम कर दी जाये तो क्या होगा। वह यूनुस से और दूसरे लोगों से बार-बार कहती रहती थीं, "इस तरह हमेशा तो नहीं चलता रह सकता। देखिये, बाहर किस तरह की बातें कही जा रही हैं। पाकिस्तान तक को लोकतंत्र माना जा रहा है, पाकिस्तान तक को

लोकतंत्र का गढ़ कहकर उछालने की कोशिश की जा रही है।" लेकिन जब दिसम्बर १९७५ में चंडीगढ़ में कांग्रेस के अधिवेशन से पहले साठे ने उनसे कहा कि वह चुनाव की घोषणा कर दें तो वह फ़ौरन टालमटोल करने लगीं। "हमने अभी तो इमर्जेंसी लगायी ही है," श्रीमती गांधी ने कहा। "अगर हम विपक्ष के नेताओं को छोड़ दें और हमें फिर इमर्जेंसी लगानी पड़े, तो मज़ाक बन जायेगा।"

"आप उसे लगाये रखिये, लेकिन उसमें कुछ ढील दे दीजिये," साठे ने कहा।

"नहीं, नहीं," उन्होंने कहा, "संविधान में परिवर्तन किये जाने वाले हैं। हमें कुछ दिन इंतज़ार करना होगा। अगर हमने इंतज़ार न किया और हमारा बहुमत कम हो गया तो फिर हम संविधान में ये परिवर्तन नहीं करा पायेंगे।"

बड़ी विचित्र परिस्थिति थी। अगर कभी किसी का राजनीतिक घेराव हुआ था तो वह १९७५-७७ में इन्दिरा गांधी का हुआ था। और अगर कभी किसी ने अपनी तरफ़ से यह चाहा था कि उसका घेराव किया जाये तो वह भी इन्दिरा गांधी ही थीं। वामपंथियों ने मोटे-मोटे तौर पर यह विचार सामने रखा था कि लोकतांत्रिक मानदंडों की परिधि के अन्दर रहते हुए एक ढाँचा तैयार किया जाये, लेकिन उसमें केन्द्रीय सत्ता अधिक मज़बूत हो। शासन की राष्ट्रपति-प्रणाली का विचार बरुआ-रजनी पटेल-रे की धुरी के दिमाग़ की उपज था, लेकिन दूसरी तरफ़ बंसीलाल जैसा आदमी था जिसके दिमाग़ में कोई सिद्धान्त था ही नहीं, जिनके लिए सत्ता के अलावा कोई भगवान नहीं था, औ यह भगवान आकाश पर नहीं बल्कि पृथ्वी पर रहता था—जो पार्थिव था और जिसके पास तक पहुँचा जा सकता था।

"देखिये," एक दिन संसद के सेन्ट्रल हाल में साठे से भारत के रक्षा-मंत्री ने कहा, "जाकर श्रीमती गांधी से कहिये कि हम दस साल तक कोई चुनाव नहीं चाहते—कम-से-कम दस साल तक!"

"क्या आप संजीदगी से ऐसा कह रहे हैं?" साठे ने चकित होकर पूछा।

"जी हाँ, मैं बिलकुल संजीदगी से कह रहा हूँ। हम चुनाव नहीं चाहते। हमें अपनी कामयाबियों की और अपने पार्टी संगठन की बुनियाद पक्की करने के लिए और अर्थतंत्र को सुधारने के लिए वक़्त चाहिए। और एक पार्टी की प्रणाली क्यों न क़ायम हो? मैं तो जाट हूँ। मैंने हरियाणा में बहुत-कुछ किया है। मुझे पूरे हिन्दुस्तान में तीन साल का मौक़ा दीजिये और फिर देखिये मैं क्या कर दिखाता हूँ।"

"कांग्रेस पार्टी में आपकी ताक़त की बुनियाद क्या है? जनता, है न?" साठे ने तर्क दिया, "अगर आप चुनाव नहीं करायेंगे, तो यह बुनियाद नहीं रह जायेगी। फिर आप किसका सहारा लेंगे? फ़ौज का?"

"साठे साहब मिलिटरी किसकी है? जाट की और सिख की। मैं उन्हें क़ाबू कर सकता हूँ। वे मेरे ख़िलाफ़ नहीं जा सकते...।"

"यह देश के टुकड़े-टुकड़े कर देने का सीधा रास्ता होगा," साठे ने जवाब दिया, "महाराष्ट्र को ले लीजिये। हमें एक राष्ट्र बने अभी मुश्किल से पच्चीस साल हुए हैं। आप वहाँ जाकर 'शिवाजी की जय!' जैसा कोई नारा लगा दीजिये—और फिर कोई भी जाट या सिख उसके बाद आपकी मदद नहीं कर पायेगा! फ़ौज भारत जैसे देश को नहीं सँभाल सकती।"

बंसीलाल उस वक़्त तो चुप हो गये लेकिन संसद में उन्होंने इस सवाल पर

लगातार चर्चा जारी रखी। उनका यह रवैया नेशनल हेराल्ड के संपादकीय के साथ और चुनावों के बारे में श्रीमती गांधी की अपनी टिप्पणियों के साथ जुड़ा हुआ था; और साथ ही इसका सम्बन्ध इस बात से भी था कि लगभग रोज़ ही शाम को वह प्रधान मंत्री की कोठी पर मौजूद रहते थे, हालाँकि वह उनके साथ नहीं बल्कि संजय के साथ बैठते थे और शायद अगले दिन के लिए अपने पैंतरे और कार्रवाइयों की योजनाएँ तय करते थे, जबकि धवन एक लाज़िमी विश्वासपात्र सलाहकार की तरह वहाँ मँडराते रहते थे। क्योंकि किसी और मामले के बारे में श्रीमती गांधी का अपने बेटे के साथ कोई मतभेद नहीं था, ज़ाहिर है इस मामले में भी उनका कोई मतभेद नहीं रहा होगा। वह संजय को इस बात की पूरी छूट दे रही थीं कि वह उनकी राजनीतिक चालों का माध्यम बने। राजनीतिक बुद्धि उनके पास थी, संजय के पास नहीं। उसकी रिपोर्टों का उन पर क्या असर पड़ता होगा इसे नज़र-अंदाज़ नहीं किया जा सकता, और चूँकि वह अपना काम निकालने के लिए एक ग़ैर-राजनीतिक आदमी की कल्पित योग्यता का सहारा ले रही थीं, इसलिए वह जान-बूझकर मुसीबत मोल ले रही थीं। निस्सन्देह, कोई उनको अंधों की तरह एक निरंकुश क़दम से दूसरा निरंकुश क़दम उठाने पर मजबूर नहीं कर रहा था। परिस्थिति की व्याख्या इस रूप में करने का अर्थ होगा उनकी उस सत्ता और उनके उस प्रत्यक्ष ज्ञान से इंकार करना जिसके सहारे उन्होंने दस वर्ष तक पूरे देश का शासन सँभाले रखा।

उनके कुछ साथी और राजनीतिक विश्लेषण करने वाले कहते हैं, "जब भी उनके सलाहकार अच्छे रहे हैं, उन्होंने बहुत अच्छा काम किया है। उनकी अपनी कोई बहुत उल्लेखनीय क्षमताएँ नहीं हैं।"

लेकिन सवाल यह है कि सलाहकार चुनता कौन है ? उन्होंने न केवल ऐसे सलाहकार चुने (या ऐसे लोगों को अपने चारों ओर एक साज़िशी गरोह के रूप में काम करने दिया) जो उस ख़ास दौर के तक़ाज़ों के लिए उन्हें उचित लगे—अपने तक़ाज़ों के लिए—बल्कि उन्होंने सभी क्षेत्रों में समरसता का ध्यान रखते हुए ऐसा किया है। इस धारणा के विपरीत कि उन्होंने कभी कोई ऐसी टीम नहीं बनने दी जिसमें सभी लोग एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर काम करें, इन्दिरा गांधी हमेशा टीम के साथ ही काम करती रही हैं। बात बस इतनी है कि उन्होंने सलाहकारों को या टीम को कभी बहुत दिन तक टिकने नहीं दिया। जब उन्हें वामपंथियों की ज़रूरत थी तो उन्होंने हर कार्य-क्षेत्र में वामपंथी रखे; जब उन्होंने इन लोगों को हटा देने की ज़रूरत समझी तो सभी कार्य-क्षेत्रों में उन लोगों को हटाकर उनकी जगह दूसरे लोग रख दिये गये। इमर्जेंसी के बाद उन्होंने अपने चारों ओर जो सलाहकार जुटाये और जिन लोगों की टीम बनायी, वे ज़ाहिर है, ऐसे ही लोग हो सकते थे जो उसमें विश्वास रखते हों, जिन्हें प्रशासन के क़ायदे-क़ानूनों की औपचारिकताओं और बारीकियों या राजनीतिक नैतिकता के प्रति-बन्धों की कोई परवाह न हो। वह बंसीलाल को रक्षा-मंत्री और विद्याचरण शुक्ल को सूचना-मंत्री की हैसियत से लायीं। उन्होंने सिद्धार्थशंकर रे के साथ संजय का नादिरशाही बरताव अपनी आँखों से देखा। अगर इसके बाद भी उन्होंने संजय को लगातार बढ़ते पैमाने पर इसी तरह की हरकतें करते रहने की छूट दी तो इससे यही साबित होता है कि वह ऐसा ही चाहती थीं। वह उस पर इतना भरोसा क्यों करती हैं, या उन्होंने उसे राज-काज के मामलों के इतने निकट रखकर क्यों इस्तेमाल किया, यह बात कुछ लोग के लिए एक पहेली बन गयी है।

ग्वालियर की भूतपूर्व महारानी विजया राजे सिंधिया भी इसी चक्कर का शिकार हुईं—यातनाएँ, जेल, पैरोल, फिर जेल—जिसका सामना इमर्जेंसी के दौरान विपक्ष के सभी लोगों को करना पड़ा था, विशेष रूप से जनसंघ के लोगों को, जिसकी वह सदस्य थीं। वह इन्दिरा गांधी के बारे में कहती हैं, "उनमें न केवल अहंकार है बल्कि वह बेहद बेवक़ूफ़ भी हैं। मैं हमेशा उनकी अनुगामी रही और मैंने हमेशा उन्हें नेता माना, लेकिन वह अपने साथियों के बीच कभी खरे और खोटे की परख नहीं कर पायीं। शायद इसीलिए वह सिर्फ़ अपने बेटे पर भरोसा करती हैं।"

"आप राजनीति के क्षेत्र में हैं और एक माँ भी हैं। क्या आप भी अपने बेटे को इस तरह बढ़ावा देने की कोशिश करेंगी ?"

"कभी नहीं। अगर उसमें इतनी योग्यता होगी तो वह ख़ुद आगे बढ़ जायेगा। शायद संजय में इतनी योग्यता नहीं थी, इसीलिए तीस बरस की उम्र में भी उसे अपनी माँ के सहारे की ज़रूरत पड़ा।"

ग्वालियर की राजमाता, जिन्हें लोग अब भी बड़ी श्रद्धा और प्यार से 'राजमाता' ही कहते हैं, बहुत उत्साहमयी और अपनी धुन की पक्की औरत हैं। उन्होंने अपने इन मूल्यांकन में ऐसे बहुत-से दूसरे लोगों की भावनाओं को भी व्यक्त किया है जो अपने छोटे बेटे के प्रति श्रीमती गांधी के रवये के पीछे ख़ाली राजनीतिक जोड़-तोड़ के अतिरिक्त और भी कोई कारण देखते हैं।

"लोग कहते हैं कि उसके पास कोई ऐसा भेद है और यह कि उसने विदेश में कोई ऐसी चीज़ रख छोड़ी है, उनके ख़िलाफ़ कोई ऐसा सबूत है कि अगर वह उससे अपना नाता तोड़ लें तो वह उस भेद को खोल देगा। मुझे मालूम नहीं, लेकिन और क्या वजह हो सकती है कि कोई माँ इस तरह अपने बेटे की मुट्ठी में रहे ?"

एक ऐसे सृजनात्मक लेखक के दृष्टिकोण से, जो हर चीज़ को सत्ता की राजनीति के बाहरी ताम-झाम से परे जाकर देखने की कोशिश करता है, नाटककार बलवंत गार्गी कहते हैं. "यह एक घरेलू इंसानी नाटक है। वह हमेशा अपने बेटे के दबाव में रही हैं। संजय के बचपन के बारे में जो क़िस्से सुनने को मिलते हैं उनसे तो यही लगता है कि वह लाड़-प्यार में इतना बिगड़ गया था कि वह जो कुछ भी कहता था माँ हमेशा मान लेती थी। वह बड़ी लापरवाही से बेहद तेज़ मोटर चलाता था; उसकी बिगड़े हुए नौजवानों जैसी हरकतें, उसका दंभ, उसकी विवेकहीन ग़ैर-ज़िम्मेदारी की बातें, उसकी मनमानी ज़िदें—माँ यह सब-कुछ देखते हुए भी अनजान बनी रही। आख़िरकार वह एक ऐसा दानव बन गया जिसने उन्हें चूस-चूसकर इतना खोखला कर दिया कि उनमें अपनी इच्छा-शक्ति रह ही नहीं गयी। मैं प्रधान मंत्री की कोठी पर अपनी पत्नी के साथ एक बार रात के खाने पर उनसे मिला था, जिस वक़्त वहाँ कोई और नहीं था। मैंने देखा कि उनमें बेहद गंभीरता और अपार शक्ति है, पर उनकी यह सारी शक्ति ज़रा-सी ठेस से ख़त्म भी हो जाती थी। उनके पोते-पोती बार-बार आकर उनकी साड़ी खींच रहे थे और बातचीत में विघ्न डाल रहे थे। वह बोलीं, 'इनकी परवाह न कीजिये, यह तो पालतू जानवरों जैसे हैं।' वह बच्चों के साथ बेहद लाड़-प्यार से पेश आती हैं, हर माँ की तरह। वह शायद अपने बेटे की हर बात बर्दाश्त कर लेंगी।"

उनके भूतपूर्व वित्त-मंत्री सी० सुब्रह्मण्यम का कहना है, "मैं तो यह कहूँगा

कि १९७५ के शुरू से उन्होंने अपने साथियों की राय पर ध्यान देना बंद कर दिया। पिछली घटनाओं पर दृष्टि डालते हुए मैं सिर्फ़ इमर्जेंसी लागू होने तक की शिकायत कर सकता हूँ।"

"उसके बाद ?"

"मेरी राय में उसके बाद तरह-तरह के ऐसे लोगों के हाथों में, जिन्हें वह पसंद नहीं करती थीं, या तो सचमुच ताक़त आ गयी या वे समझने लगे कि उनके हाथ में ताक़त है। मैं समझता हूँ कि उन्होंने चुनाव कराने का फ़ैसला जिन वजहों से किया उनमें एक वजह यह भी थी कि वह महसूस करती थीं कि शायद इन लोगों के चंगुल से छुटकारा पाने का यह उनके लिए आख़िरी मौक़ा होगा। संजय के बारे में भी मैं अकसर उनसे कहा करता था कि वह सरकार के काम-काज में दखल देता है, लेकिन वह हमेशा यह कहकर टाल देती थीं कि 'नहीं, ऐसी बात नहीं है, ये सब मनगढ़ंत क़िस्से हैं।'"

"वह उससे कुछ कह क्यों नहीं सकती थीं ?" मैंने पूछा।

"यह माँ और बेटे के बीच की बात है, और कुछ निजी बातें भी हैं।"

"कौन-सी निजी बातें ?" उन्हें कुछ अटपटा-सा महसूस करते देखकर मैंने आग्रहपूर्वक पूछा।

"मैं बता नहीं सकता। मैं उन सब बातों में जाना नहीं चाहता।"

"क्या कोई ऐसी बात थी जिसकी वजह से वह पूरी तरह उसकी मुट्ठी में थीं ?"

"हाँ, ऐसा ही समझिये। वह अब से बहुत पहले की बात है।"

बहुत-से दूसरे कांग्रेसियों की तरह सुब्रह्मण्यम कहते हैं कि वह भी संजय से दूर ही रहने की कोशिश करते थे। "मेरे पास कभी उसका टेलीफ़ोन नहीं आया, मैंने कभी उससे बात नहीं की। मेरा काम उसकी माँ से ही पड़ता था। जो भी छोटी-मोटी झड़प हुई होगी वह मिलने का वक़्त तय करने या ऐसी ही दूसरी मामूली बातों के बारे में हुई होगी।" सिर्फ़ एक बार ऐसा हुआ था कि दो बहुत महत्त्वपूर्ण आदमी किसी 'टेढ़ी समस्या' के सिलसिले में उनसे यह कहने गये थे कि वह संजय से उसके बारे में बात कर लें। "मैंने साफ़ मना कर दिया," सुब्रह्मण्यम ने कहा, "अगर बात करनी होगी तो मैं उसकी माँ से बात करूँगा। मुझे मालूम नहीं कि इन लोगों को श्रीमती गांधी ने भेजा था या नहीं।"

संजय ने जो बड़े-बड़े सौदे पटाये उनके बारे में लोग किस तरह बातें करते थे इसका अंदाज़ा दो अफ़सरों की आपसी बातचीत से बहुत अच्छी तरह हो जाता है। ऐसा लगता है कि उनमें से एक को संजय के किसी ठेके के सिलसिले में पूरा सहयोग न देने की वजह से लताड़ा गया था।

"अरे यार, तुम भी बड़े बेवक़ूफ़ हो। तुम्हें यह तक नहीं आता कि ठेका देने में हेरा-फेरी कैसे की जाती है !"

"कैसे की जाती है ?" दूसरे ने उत्सुकता से पूछा।

"बिलकुल मामूली बात है। जिस तरह आमतौर पर टेंडर मँगाये जाते हैं, उसी तरह टेंडर मँगाओ। टेंडर तुम खोलोगे। तुम जिसे ठेका दिलाना चाहते हो अगर उसका टेंडर सबसे कम दर का न हो तो जिसकी दर सबसे कम हो उसके साथ मोल-तोल शुरू कर दो। उसमें कोई अड़चन डाल दो। फिर और मोल-तोल करो। जिसका टेंडर सबसे कम दर का हो उसका पत्ता तुम हमेशा यह कहकर काट सकते हो कि उसे ठेका देना तकनीकी दृष्टि से फ़ायदेमंद नहीं रहेगा,

कि उसके पास वह चीज़ तैयार करने के लिए आवश्यक क्षमता नहीं है, न पैसे का ही इंतज़ाम है। आखिर में तुम जिसको ठेका देना चाहते हो उससे कहो कि वह सबसे कम दर वाले टेंडर के बराबर अपना टेंडर दे।"

"यह सब कुछ तो मैं जानता हूँ," दूसरे अफ़सर ने निराश होकर कहा।

"तो फिर ऐसा किया क्यों नहीं ?"

"मैंने कोशिश तो की थी लेकिन संजय और उनकी कंपनी अपना टेंडर घटाकर सबसे कम दर वाले टेंडर के बराबर लाने को तैयार नहीं थे। वे ठेका तो लेना चाहते थे लेकिन अपनी दर पर ! भला यह कैसे मुमकिन था ?"

जब उद्योग-मंत्रालय में कुछ अफ़सरों को सताने की बात आती थी, और आम लोगों के दिमाग़ में यह बात बैठ चुकी थी कि इसमें हमेशा संजय का हाथ होता था, तो श्रीमती गांधी को सब मालूम रहता था कि असलियत क्या है। संसद में उद्योग-मंत्री टी० ए० पै को मारुति के बारे में एक तारांकित प्रश्न का उत्तर देना था। संजय ने आवश्यक जानकारी देने के लिए मंत्रालय के दफ़्तर जाने से इंकार कर दिया, इसलिए एक अंडर-सेक्रेटरी और एक सेक्शन-अफ़सर को मारुति के कारख़ाने भेजा गया। दोनों ने वहाँ से वापस आकर भारी उद्योगों के डायरेक्टर कृष्णस्वामी को बताया कि उन्हें न सिर्फ़ कोई भी जानकारी देने से इंकार किया गया बल्कि उन्हें संजय ने गालियाँ भी दीं। कृष्णस्वामी ने यह रिपोर्ट फ़ाइल के हवाले कर दी और यह कहा कि मंत्री महोदय संसद में अपने जवाब में यह कह दें कि "जानकारी हासिल की जा रही है, बाद में कभी सदन में पेश कर दी जायेगी।" कुछ ही दिन के अंदर कृष्णस्वामी के घर पर छापा मारा गया और उन पर एक्साइज़ के न जाने किस क़ानून के तहत अपने पास आधी बोतल ह्विस्की रखने का आरोप लगाया गया ! कृष्णस्वामी शराब बिलकुल नहीं पीते और वह बोतल वही थी जो लोग विदेश से आते समय हवाई जहाज़ पर से लाते हैं। उद्योग मंत्री पै और मंत्रालय के सेक्रेटरी मनतोष सोंधी ने बड़ी मुश्किल से उन्हें इस झंझट से छुड़ाया और पै ने श्रीमती गांधी को इसके बारे में लिखा। इस चक्कर में ख़ुद सोंधी भी मुसीबत में फँस गये। जहाँ भी वह जाते, सी० आई० डी० की एक मोटर उनके पीछे लगी रहती, और उनके ख़िलाफ़ भी किसी दूसरी बुनियाद पर आरोप लगाये गये। सोंधी पिछली बातों को याद करके कहते हैं, "उस साल ज़िंदगी नरक हो गयी थी।"

पै ने श्रीमती गांधी को एक पत्र लिखा था। जब स्वर्णसिंह और के० सी० पंत श्रीमती गांधी के पास सोंधी की तरफ़ से पैरवी करने गये तो वह कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थीं। उसके बाद रजनी पटेल गये और पुरानी मित्रता के नाते जितना ग़ुस्सा दिखा सकते थे उन्होंने दिखाया।

"वह बेक़सूर आदमी हैं !" रजनी पटेल ने बड़े आग्रह के साथ कहा, "आप उन पर झूठे इल्ज़ाम लगवाकर उन्हें सज़ा नहीं दे सकतीं।"

श्रीमती गांधी ने उनकी बात तो मान ली पर साथ ही यह भी कहा, "अच्छी बात है, लेकिन उनसे यह कह दीजियेगा कि अब कोई ऐसी हरकत न करें।"

रजनी पटेल की सीधे संजय से कोई बहस नहीं हुई थी। लेकिन विद्याचरण शुक्ला ने उनसे संजय से मिल लेने का अनुरोध किया। शुक्ला ने अपने चिर-परिचित ढंग से संबोधित करते हुए कहा, "दादा, आपको जाकर उससे मिलना चाहिए।"

"वह महज़ एक दोस्त का बेटा है," रजनी पटेल ने जवाब दिया, "मैं उसकी

माँ से मिल लूँगा, उससे नहीं।"

लेकिन राजनीति की हवा ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि एक सार्वजनिक नेता के रूप में संजय के पहले धावे के लिए रजनी पटेल को ही उसे बम्बई आने का निमंत्रण देना पड़ा। इसके कुछ ही समय के बाद रजनी पटेल को नीचा दिखाने और बम्बई प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से उनकी भूमिका को बिलकुल घटा देने की इसलिए कोशिश की गयी कि वह वामपंथी थे; उन्होंने मनतोष सोंधी की तरफ़ से पैरवी की थी; और एक नया संविधान बनाने के लिए संविधान सभा बुलाने के सवाल पर उन्होंने तीन बार श्रीमती गांधी से बहुत देर तक बातें की थीं और उन्हें इस सुझाव को आगे न बढ़ाने के लिए राज़ी करने की कोशिश की थी। रजनी पटेल ने इन्दिरा गांधी से कहा, "यह आपके लिए राजनीतिक आत्म-हत्या की बात होगी।" रजनी पटेल बताते हैं कि प्रधान मंत्री को यह 'ग़लत सलाह' देने पर संजय उनसे बेहद नाराज़ हो गया। और इसके शीघ्र ही बाद रजनी पटेल के ख़िलाफ़ सी० बी० आई० की जाँच बिठा दी गयी, कस्टम की फ़ाइलें खुलवायीं गयीं, उनके बैंक का हिसाब-किताब ज़ब्त कर लिया गया, और यह अफ़वाह फैलवा दी गयी कि वह पार्टी के पैसों में गोलमाल करते रहे हैं।

ज़ाहिर बात है कि इन्दिरा गांधी संविधान सभा बुलाने के विचार से असहमत नहीं थीं। वरना उन्होंने इस सवाल पर रजनी पटेल के साथ इतने विस्तार से बातचीत न की होती। दूसरी तरफ़, जब यशपाल कपूर ने श्रीमती गांधी को बताया कि ए० पी० शर्मा ने इस समस्या पर विचार करने के लिए साठ-सत्तर संसद-सदस्यों की मीटिंग बुलायी थी और हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार की विधानसभाओं से इस विचार का अनुमोदन करवा लिया था, तो उन्होंने बिगड़कर कहा, "शर्मा कौन होते हैं यह मीटिंग करने वाले!" लेकिन पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और बिहार की विधानसभाओं ने इस विचार के पक्ष में प्रस्ताव भी पास किये, हालाँकि उस समय श्रीमती गांधी अफ्रीका के दौरे पर गयी हुई थीं। इसी बीच यह मामला बहस के लिए संसदीय पार्टी की कार्यकारिणी में उठाया गया, जहाँ लोगों ने यह महसूस किया कि यह सारी कार्रवाई बिलकुल बौखलाहट की हालत में की जा रही है। जब श्रीमती गांधी लौटकर आयीं तो साठे उन लोगों में से एक थे जिन्होंने उनसे जाकर इस बात पर बहस की कि इसके नतीजे क्या हो सकते हैं। श्रीमती गांधी ने कहा, "जैसे ही हवाई जहाज़ से उतरकर एयरपोर्ट पर आयी, मुझे यह बताया गया कि इस तरह के प्रस्ताव पास किये गये हैं। फिर आप मुझसे इस तरह की प्रतिक्रिया की उम्मीद कैसे करते हैं?"

साठे की दलील यह है कि इस चाल के पीछे ओम मेहता और बंसीलाल का हाथ था। और संजय का भी। इन लोगों का विचार यह था कि अगर संविधान सभा विचार-विमर्श के लिए बैठेगी तो उसमें तीन-चार साल तो लग ही जायेंगे; इसलिए चुनाव नहीं हो पायेंगे। तब तक सारी ताक़त युवक कांग्रेस के हाथों में आ चुकी होगी और वह ख़ुद कांग्रेस को भी हड़प कर लेगी। लेकिन अजीब बात यह है कि साठे अपने ही विश्लेषण का खंडन करते हुए कहते हैं, "हो सकता है कि मेरी यह बात सुनने में बहुत कड़वी लगे, लेकिन मैं समझता हूँ कि सजय में इस तरह का राजनीति मत अपनाने की क्षमता नहीं है। वह बहुत नेकनीयत लड़का है और उसमें आम बातों की समझ-बूझ भी बहुत है, लेकिन उसे राजनीतिक जानकारी नहीं है।" फिर वह कौन आदमी था? एक ही नतीजा निकलता है

कि जहाँ-जहाँ संजय का नाम आता है उसकी जगह हम इन्दिरा गांधी का नाम रख दें, क्योंकि संजय उनके इस चेहरे पर—दूसरे चेहरे पर—लगी हुई एक नक़ाब थी।

बहुत दिन तक आम लोगों के मन में, और ख़ुद कांग्रेस पार्टी में यह भ्रम बना रहा कि श्रीमती गांधी को संजय की इन दीवानेपन की हरकतों का पता नहीं था। लेकिन हम किसी भी क्षेत्र में ध्यान से देखें तो हमें उनकी पहलक़दमी, उनकी जानकारी और उनकी राजनीतिक मंजूरी का सबूत मिलता है। हर जगह लगता यह है कि संजय उनके ख़िलाफ़ जा रहा है लेकिन हर जगह था यह कि दोनों समानांतर जा रहे थे। हर बार राजनीतिक मंच पर उसे आज़माइश के लिए, परिस्थिति की जानकारी के लिए इस्तेमाल किया गया। इस पुस्तक का मूल विषय यही बात है, उसके निजी घोटाले और पैसों का गोलमाल नहीं। कांग्रेस के गौहाटी अधिवेशन में जब श्रीमती गांधी ने यह कहा कि संजय पर हमला मुझ पर हमला है और दिल्ली में कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं की एक मीटिंग में उन्होंने यही बात दोहरायी, तब जाकर कांग्रेस के नेताओं की आँखों पर से आदर्शवादी भ्रम का परदा हटने लगा।

चंद्रजीत यादव कहते हैं, "उस वक़्त लोगों ने महसूस किया कि अगर चुनाव के बल पर सत्ता फिर उनके हाथ में आ गयी तो वह और भी क्रूरता से शासन करेंगी।"

"क्या आप सचमुच ऐसा समझते हैं?"

"बहरहाल, निरंकुश शासन में उनका विश्वास और मज़बूत हो गया होता और संजय और बंसीलाल छा गये होते।"

इन्दिरा गांधी जान-बूझकर देश को डिक्टेटरशाही की तरफ़ ले जा रही थीं, लेकिन सिर्फ़ उस हद तक जहाँ तक उन्हें इसके लिए मौक़ा दिया गया। वह जो कुछ कहती थीं और उसे व्यवहार में जिस रूप में सफलता या विफलता के साथ पूरा किया जाता था, इनके बीच के हर अंतर्विरोध का यही रहस्य है। उन्होंने सरदार स्वर्णसिंह की अध्यक्षता में संविधान में संशोधनों के लिए एक कमेटी नियुक्त की, जिसका संसद में क़ांग्रेस के बाक़ी नेताओं ने समर्थन किया। लेकिन वह दूसरी संविधान सभा बुलाने के विचार को और आगे नहीं बढ़ा सकीं क्योंकि उन्होंने देखा कि पार्टी के अंदर इसका बहुत विरोध हो रहा है। उन्होंने वह धारा तो शामिल करा दी जिसमें कहा गया था कि प्रधान मंत्री, राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति और लोकसभा के अध्यक्ष के चुनावों के बारे में कोई मुक़द्दमा अदालतों में न जाये लेकिन उन्होंने अपने इस कुख्यात सुझाव पर ज़ोर नहीं दिया कि प्रधान मंत्री, राष्ट्रपति और गवर्नरों को अपने पद पर आसीन रहने से पहले या उसके बाद भी किये गये किसी अपराध के लिए अदालत में फ़ौजदारी क़ानून की कार्रवाई से जीवन-भर के लिए सर्वथा मुक्त रखा जाये।

इस सुझाव पर तो बेहद उत्साही मार्गरेट आल्वा भी दंग रह गयीं। यह विधेयक राज्यसभा में पेश किया गया, सदस्यों को तीन लाइन का एक आदेश दे दिया गया कि उन्हें उसके पक्ष में वोट देना है, दो भाषण हुए, सबने वोट दिया और चले आये। सभी दंग थे। इसलिए मार्गरेट आल्वा प्रधान मंत्री से मिलने गयीं। श्रीमती गांधी के बारे में हमेशा से यह धारणा रही थी कि अगर आप उनका विश्वास प्राप्त कर लें तो वह आपकी बात सुनेंगी।

"मैडम," मार्गरेट आल्वा ने प्रधान मंत्री से कहा, "मैं अभी बहुत नयी हूँ,

फिर भी मुझे आपके पास आना पड़ा। जिस चीज़ के पक्ष में हम लोगों ने वोट दिया है उससे हम सभी बहुत दुःखी हैं। मुझे मालूम नहीं कि दूसरों को आपसे यह कहने का साहस होगा कि नहीं...।"

"क्या यह पास नहीं हो चुका है ?" श्रीमती गांधी ने बड़े भोलेपन से पूछा।

"हमें जिस तरह जल्दी-जल्दी उसके पक्ष में वोट देने पर मजबूर किया गया, उस तरीक़े पर हमें एतराज़ है," मार्गरेट आल्वा ने कहा।

"अच्छा, मैं देखूंगी," श्रीमती गांधी ने कहा।

वह विधेयक कभी लोकसभा में स्वीकृति के लिए भेजा ही नहीं गया।

इसी तरह एक बार फिर जब गिरफ़्तारियों से पहले चंद्रशेखर को जयप्रकाश नारायण के साथ संबंध रखने के अपराध में संसदीय पार्टी की कार्यकारिणी से निकाल देने का फ़ैसला किया गया, तो पार्टी का संविधान इस तरह बदलवाने की कोशिश की गयी कि लोगों को कोई कारण बताये बिना ही पार्टी से निकाला जा सके। विद्याचरण शुक्ला और रघुरमैया इस सुझाव को मंज़ूर कराने के लिए ज़ोर लगा रहे थे। मार्गरेट आल्वा ने फिर एतराज़ किया। शुक्ला ने बाद में मार्गरेट से पूछा, "आपको अपनी अक़्ल का इतना सबूत देने की क्या ज़रूरत थी ? आप किस बात का आश्वासन चाहती हैं ? अगर हम चाहें तो कोई वजह बताये बिना ही आपको पार्टी से निकाल बाहर कर सकते हैं !"

इस पर मार्गरेट ने ग़ुस्से से कहा, "तो फिर आप संविधान को ही क्यों नहीं उठाकर फेंक देते ? आप लोगों को यह क्यों बताना चाहते है कि आपने उसमें संशोधन किया है ?"

जहाँ कहीं श्रीमती गांधी को ऐसा लगता था कि बात हद से आगे बढ़ती जा रही है, वह थोड़ा-सा पीछे हट जाती थीं। जब ओम मेहता और रघुरमैया उनके पास यह सुझाव लेकर गये कि संसद की अवधि बढ़ाकर सात वर्ष कर दी जाये तो उन्होंने बिगड़कर कहा, "मुझे यह बात पसंद नहीं है !" तब फ़ैसला यह किया गया कि उसे बढ़ाकर छः वर्ष कर दिया जाये। "अच्छी बात है, लेकिन अगले साल मेरे पास यह कहते हुए न आइयेगा कि आप उसे बढ़वाकर आठ साल कर देना चाहते हैं," श्रीमती गांधी ने कहा।

अगर कांग्रेस के नेताओं ने यह फ़ैसला कर लिया होता कि वे इस तरह धीरे-धीरे एक औरत का शासन नहीं स्थापित होने देंगे तो वे उसे रोक सकते थे। लेकिन इमर्जेंसी से पुराने नेताओं को बहुत गहरा आघात पहुँचा था और नये नेता उस कांग्रेस पार्टी की उपज थे जिसके अपने चुनाव कई वर्षों से नहीं हुए थे। "हमेशा कोई न कोई वजह बता दी जाती थी," चह्वाण ने कहा। "आम रवैया यह मालूम होता था कि जैसा चल रहा है चलने दो।" लेकिन बाद में चलकर जो कुछ हुआ उससे यह स्पष्ट है कि श्रीमती गांधी ने संगठन पर अपना शिकंजा उसी तरह कसा था जिस तरह बाद में उन्होंने अपने मंत्रिमंडल को बंदी बना लिया था। पार्टी संगठन के विभिन्न पदों पर जो लोग ऊपर से बिठा दिये जाते थे, उनके बारे में यह यक़ीन रहता था कि वे निजी तौर पर उनका साथ देंगे। वे सब लोग संजय का सहारा लेकर श्रीमती गांधी के बिलकुल निकट पहुँच जाना चाहते थे, लेकिन वे इतने खुशामदी हो चुके थे कि उन्होंने कभी श्रीमती गांधी को यह नहीं मालूम होने दिया कि जनता के बीच उनकी लोकप्रियता कितनी तेज़ी से ख़त्म होती जा रही है।

एक बात ऐसी थी जिसका श्रीमती गांधी को भी सचमुच पता नहीं था—

और वह यह थी कि संजय के बारे में लोग क्या सोचते हैं। उन्हें यह विश्वास करने का मौक़ा ही नहीं दिया गया कि शुरू-शुरू में उत्सुकतावश उसके चारों ओर जो भीड़ें जमा हो जाती थीं वे घटने लगी थीं, और हर राज्य में जो बड़े-बड़े स्वागत-समारोह संगठित किये जा रहे थे उन सबकी बुनियाद पैसा, डर और इमर्जेंसी पर टिकी थी।

संजय ने विभिन्न राज्यों के अपने तूफ़ानी दौरे १२ सितंबर १९७५ को शुरू किये जब सीताराम केसरी ने उन्हें बिहार आने का निमंत्रण दिया। केसरी ने बताया, "मैं उसे अकेले ही सदाक़त आश्रम ले गया। उसके लिए उस समय कोई ऐसा ख़ास इंतज़ाम नहीं किया गया जैसा बड़े लोगों के लिए किया जाता है। उसे बुलाना एक स्वाभाविक बात थी। बड़े लोगों के बेटे-बेटियों को हमेशा पुरस्कार बाँटने या परोपकार के कामों में हाथ बँटाने के लिए बुलाने की तो परंपरा रही है। और मैं उसके विचारों से भी बहुत प्रभावित था। मैं समझता था कि उस समय जिस चांडाल चौकड़ी ने श्रीमती गांधी को घेर रखा था उससे वह टक्कर ले सकता है।" ज़ाहिर है कि केसरी का इशारा वामपंथियों की तरफ़ था।

"आपको तो मालूम होगा कि यह सारा सिलसिला किस तरह शुरू हुआ," धवन ने कहा। "पंजाब के मुख्य मंत्री ने उसे फ़ाज़िल्का बुलाया था। इसलिए बंसीलाल को फ़ौरन यह सूझी कि हरियाणा में उसके लिए बहुत बड़ा स्वागत-समारोह संगठित किया जाये। दोनों में होड़ लग गयी। मैंने बंसीलाल को मना किया। मेरा मन अंदर से यह कह रहा था कि प्रधान मंत्री को इस तरह की बातें अच्छी नहीं लगतीं। मैं जानता हूँ कि उनका दिमाग़ किस तरह काम करता है।"

इस चढ़ती हुई लहर को रोकना किसी के बस में नहीं था। शुरू से ही यह हालत थी कि संजय जहाँ भी जाता मंत्री और मुख्य मंत्री उसे घेर लेते थे। दिल्ली से, चंढीगढ़ से दक्षिण में विशाखापटनम तक हर जगह यही हाल था कि—

> संजय गांधी ने कहा कि युवकों को सामाजिक बुराइयों को दूर करना चाहिए।...केन्द्रीय निर्माण तथा आवास-मंत्री उनके साथ थे।...
>
> श्री संजय गांधी ने कहा कि भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए हमें किसी 'वाद' की नहीं बल्कि काम की ज़रूरत है।...अमुक केन्द्रीय मंत्री उनके साथ थे।...
>
> संजय गांधी ने बंगलौर में व्यावहारिक काम का अपना पाँच-सूत्री कार्यक्रम पेश किया—उनका स्वागत मुख्य मंत्री देवराज अर्स ने किया।...

आंध्र में केन्द्रीय मंत्री रघुरमैया ने संजय गांधी की इतनी भरपूर प्रशंसा की कि उनके साथी भी अटपटा महसूस करने लगे। उन्होंने कहा, "मैं नेहरू-परिवार की दो पीढ़ियों की सेवा कर चुका हूँ और मुझे बहुत ख़ुशी होगी अगर मुझे तीसरी पीढ़ी की भी सेवा करने का मौक़ा मिले...।"

३१ अक्तूबर १९७६ तक महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री एस० बी० चह्वाण ने बंबई में इस प्रकार का हर भ्रम दूर कर दिया था कि संजय का स्वागत केवल युवकों की आवाज़ के रूप में किया जा रहा था। इस अनुभवी राजनीतिज्ञ ने भी सबके स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा, "वह जनता का नेता है।"

पश्चिम बंगाल में वह कलकत्ते में केवल दस घंटे रहा और इतनी ही देर में

लोग पागलों की तरह झूम-झूमकर 'संजय ज़िंदाबाद, संजय ज़िंदाबाद !' के नारे लगाने लगे। मुख्य मंत्री सिद्धार्थशंकर रे ने श्रीमती गांधी को लिखा, "यह सचमुच चमत्कार था।"

देवकांत बरुआ ने उसकी जो प्रशस्ति की वह सबसे ज़ोरदार थी क्योंकि उसमें कुछ लोगों के साथ उसकी तुलना करके उसे तर्कसंगत बनाने की कोशिश की गयी थी।

"जब महाराजा रणजीतसिंह पंजाब के राजा बने उस वक़्त उनकी क्या उम्र थी ? अट्ठारह साल ! जब शंकराचार्य का देहांत हुआ उस समय उनकी क्या उम्र थी ? जब स्वामी विवेकानंद मरे उस समय वह कितने वर्ष के थे ? उनतालीस साल ! जिस वक़्त अकबर ने दीने-इलाही के विचार की कल्पना की थी उस वक़्त वह कितने बड़े थे ? बीस बरस की उम्र को भी नहीं पहुँचे थे। इस देश में नौजवानों ने बहुत बड़े-बड़े काम किये हैं और बहुत-सी गड़बड़ियाँ बूढ़े लोगों ने पैदा की हैं।"

सच तो यह है कि श्रीमती गांधी के नज़दीकी लोग उनको बेटे के बढ़ते हुए करिश्मे के बारे में इतना बढ़ा-चढ़ाकर बताते रहते थे कि ये लोग ख़ुद उन बातों पर विश्वास करने लगे।

"आपको पुराणों की वह कहानी याद है ?" सीताराम केसरी ने पूछा। "एक ब्राह्मण देवता एक बकरी का बच्चा लिये हुए कहीं जा रहे थे। पाँच डाकू उस बकरी को चुराना चाहते थे, लेकिन उन्होंने सोचा कि अगर ब्राह्मण को गाँव के पास पकड़ेंगे तो शोर मच जायेगा। इसलिए उन पाँचों ने एक-एक मील की दूरी पर डेरा जमाया। 'महाराज, क्या ले जा रहे हैं ?' पहले चोर ने पूछा। 'बकरी का बच्चा है,' ब्राह्मण ने जवाब दिया। "नहीं, नहीं, यह तो कुत्ते का पिल्ला है,' चोर ने कहा। दूसरे मील पर पहुँचने पर दूसरे चोर ने ख़ुशी से उछलकर कहा, 'पंडितजी, कितना सुंदर कुत्ते का पिल्ला है आपका !' 'नहीं,' ब्राह्मण ने हँसकर कहा, 'यह तो बकरी का बच्चा है।' जब तीसरे मील पर तीसरे चोर ने उसी तरह ख़ुश होकर कहा, 'आप यह कुत्ते का पिल्ला हमें क्यों नहीं दे देते, बड़ा सुंदर है,' तो ब्राह्मण को बड़ा गुस्सा आया लेकिन साथ ही मन में कुछ संशय भी पैदा हुआ। चौथे मील पर चौथे चोर ने कहा, 'आप इतना सुंदर कुत्ते का पिल्ला लेकर कहाँ जा रहे है ?' ब्राह्मण सोचने लगा कि शायद मेरा दिमाग़ ख़राब हो रहा है। पाँचवें मील पर जब पाँचवें चोर ने ब्राह्मण को पुकार कर कहा कि उसका कुत्ते का पिल्ला बहुत सुंदर है, तो उसे यक़ीन होने लगा कि सचमुच उसके पास कुत्ते का पिल्ला ही है, और चूँकि कुत्ते का पिल्ला उसके किसी काम का नहीं था इसलिए उसने झुँझलाकर बकरी का बच्चा उस चोर को दे दिया और अपनी राह ली। आप इन्दिराजी को दोष कैसे दे सकती हैं ? उनके साथ यही हुआ। उनको विश्वास करना पड़ा कि संजय बहुत महान है।"

मध्य प्रदेश के नेता अर्जुनसिंह[११] बताते हैं, "मैंने विद्याचरण (वी० सी० शुक्ला) से कहा था कि संजय को इतना न चढ़ायें। अगर इन्दिराजी को कोई ग़लती दिखायी दे जाती तो वह उसे ठीक कर सकती थीं। मैं समझता हूँ कि बुनियादी तौर पर वह बहुत दयालु स्वभाव की, विवेकी और संवेदनशील हैं। आम कांग्रेसी समझता था कि बुराई की जड़ घर में ही है।"

इन्दिरा गांधी प्रधान मंत्री थीं लेकिन वह माँ भी थीं। केशवदेव मालवीय ने जब उनसे संजय की कुछ ग़लतियों के बारे में चर्चा की तो उन्होंने कहा था, "बेहद

प्यार है उससे।" उन दिनों एक घटना की बहुत चर्चा थी, जिसका क़िस्सा मुझे उनके मंत्रिमंडल के एक भूतपूर्व मंत्री ने बताया था, कि एक बार संजय के सामने उस संकट के बारे में बहस के दौरान, जिसकी वजह से इमर्जेंसी लागू करनी पड़ी, श्रीमती गांधी ने संजय के दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर कहा, "ये हैं वह मज़बूत हाथ जिन्होंने मुझे बचाया।" इसलिए उनका यह सोचना कोई अनहोनी बात नहीं थी कि संजय नेहरू का उत्तराधिकारी बन सकता है।

संजय की राजनीति में बढ़ती हुई भूमिका को स्वीकार करते हुए, उसकी सफलता की संभावना को बढ़ावा देने के लिए और उसके दौरों पर सरकारी मान्यता की मुहर लगा देने के लिए कांग्रेस के अध्यक्ष बरुआ ने सभी मुख्य मंत्रियों को पत्र भेज दिये कि जब भी वह कहीं जाये उसे हर प्रकार की सुविधा और पूरा सम्मान दिया जाये। यह साबित करने के लिए कि वे उसकी भीड़ जुटाने की क्षमता को अच्छी तरह जानते हैं, उन्होंने कहा कि उसके लिए सुरक्षा का पूरा बंदोबस्त किया जाना चाहिए। उस समय प्रधान मंत्री के सेक्रेटेरियट ने इंटेलिजेंस ब्यूरो को ज़बानी आदेश दे दिये थे। चीफ़ सिक्योरिटी आफ़िसर लोबो ने विभिन्न प्रदेशों का काम देखने वाले स्पेशल ब्रांच वालों को—जो विभिन्न शहरों में इंटेलिजेंस ब्यूरो की शाखाएँ थीं—आदेश भेज दिये। ये आदेश पुलिस अधिकारियों के मार्गदर्शन के लिये थे। आम धारणा के विपरीत, संजय के लिए सुरक्षा की वैसी ही व्यवस्था की जाती थी जैसी कि मुख्य मंत्रियों के लिए। एक बात तो यह कि मुख्य मंत्रियों के साथ कोई 'एस्कोर्ट कार' नहीं चलती लेकिन उनके आगे पाइलट कार चलती है। प्रधान मंत्री के लिए सुरक्षा का बंदोबस्त बिलकुल अलग होता है, राष्ट्रपति के लिए की जाने वाली व्यवस्था से भी अलग।

उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री नारायणदत्त तिवारी एक ऐसे आदमी की बेहतरीन मिसाल थे जो बातें तो बड़ी समझदारी की करते थे लेकिन उनका आचरण १ सफ़दरजंग रोड की नौकरी में लगे हुए एक मुस्तैद कारिंदे की तरह ही था। वह आखिर अपनी हद से इतना आगे क्यों निकल गये?

"ए० आई० सी० सी० की तरफ़ से बरुआजी ने एक गश्ती चिट्ठी भेजी थी कि हम लोग संजयजी के लिए जो कुछ भी मुमकिन हो करें। इसलिए जब वह उत्तर प्रदेश आया तो हर जगह मैं उसके साथ गया। इसके बाद एक और चिट्ठी आयी कि इन्दिराजी ने कहा है कि हम लोग हवाई अड्डे पर संजय का स्वागत करने न जाया करें। लेकिन साथ ही हमसे यह भी कहा गया था कि वह बहुत बड़ी-बड़ी भीड़ें जमा कर सकता है इसलिए हमें उसके साथ रहना चाहिए। खुद उसने भी एतराज़ किया कि उसे सरकार की कोई मदद नहीं चाहिए, फिर भी उसके लिए सब-कुछ किया जा रहा था। अख़बारों में छपता था, टेलिविज़न पर दिखाया जाता था। वह सब-कुछ जानती थीं।"

"क्या आप समझते हैं कि यह सब-कुछ ठीक था?"

"सिद्धांत के हिसाब से देखा जाये तो शायद ठीक नहीं था, लेकिन व्यवहार में, आपको मालूम ही है—करना ही पड़ता था।"

"क्या आप डरते थे?"

तिवारीजी चुप रहे।

"क्या आपको यह नहीं मालूम था कि हर तरफ़ गड़बड़ी पैदा होती जा रही है, कि लोगों में नाराज़गी बढ़ रही है, कि कांग्रेस नष्ट होती जा रही है?"

"भगवान के लिए आप मुझे पै या दूसरे लोगों की तरह न समझिये। मैं

अपने सर से दोष टालने के लिए कुछ नहीं करूँगा। मैं कोई ऐसी बात नहीं कहूँगा जिससे श्रीमती गांधी को तकलीफ़ हो...।"

"लेकिन क्या एक वक़्त ऐसा नहीं आता, जब देश या पार्टी का महत्त्व किसी भी व्यक्ति से बढ़कर हो जाता है ? आप कसौटी किस चीज़ को मानते हैं ?" मैंने ज़िद करके पूछा।

"वफ़ादारी को," तिवारीजी ने सहज भाव से कहा।

ब्रह्मानंद रेड्डी ने पहले जो कुछ भी किया था उस पर वह गर्व कर सकते थे, और इमर्जेंसी के दौरान जो कुछ हुआ था उसे वह भूल जाना चाहते हैं— "बेचारे," उनके एक सहयोगी ने कहा, "उनकी कोई हैसियत ही नहीं रह गयी थी। उन्हें श्रीमती गांधी से निजी तौर पर शिकायत है।" वह एक अनुभवी कांग्रेस की तरह इस समस्या की तह तक जाने की कोशिश करते हैं।

"पतन तो वरसों पहले ही शुरू हो गया था। जब कोई आदमी ज़रूरत से ज़्यादा बड़ा हो जाता है, तो इसका नतीजा यह होता है कि दूसरों का नुक़सान होता है। हमारे पास अखिल-भारतीय स्तर पर और राज्यों के स्तर पर ऐसी हैसियत वाले लोग होने चाहिए जो अपने बल पर नेता माने जा सकें। अगर किसी को ऊपर से नेता बनाकर बिठा दिया जायेगा तो वह केवल एक प्रशासक की तरह काम कर सकता है। लोगों को महसूस होना चाहिए कि वह उनका चुना हुआ आदमी है, तभी वह जनता के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी समझेगा। हम आपस की बातचीत में तो इस पर बहस करते थे लेकिन प्रदेश कांग्रेस कमेटी में नहीं करते थे और न ही ज़ोर देकर इस सवाल को दूसरे मंचों पर उठाते थे।"

"क्यों ?"

"शायद ज़रूरत से ज़्यादा रौब-दाब था, हो सकता है ज़रूरत से ज़्यादा डर रहा हो, मुमकिन है ज़रूरत से ज़्यादा भावुकता रही हो—सभी चीज़ें मिली हुई थीं। शायद लोग अपनी सफलताओं में मगन थे, निश्चित थे...।"

"लेकिन यह हालत तो कुछ ही दिन रही," मैंने कहा।

"अरे नहीं !" ब्रह्मानंद रेड्डी ने बड़ी चतुराई का सबूत देते हुए कहा। "यह बात बहुत दिन चली।"

"अगर आप महसूस करते थे कि कोई काम ग़लत किया जा रहा है तो आपने इमर्जेंसी के दौरान उसके ख़िलाफ़ आवाज़ क्यों नहीं उठायी ?"

"मैं क्यों अपने को ऐसी हालत में डालता कि खुद मुझे शर्मिंदगी होती ? मैं संजय गांधी से कभी मिला नहीं। मैंने कभी अपनी तरफ़ से बिना किसी काम के श्रीमती गांधी से मिलने की कोशिश नहीं की। मैं जो कुछ कहना चाहता था वह फ़ाइलों में दर्ज है। मैं इस झंझट में फँसना नहीं चाहता था। हो सकता है कि एक नहीं कई ओम मेहता रहे हों या कोई और हो, लेकिन उन लोगों ने मुझसे कभी कुछ करने को नहीं कहा।"

"लेकिन एक बहुत ही नाज़ुक दौर में देश का शासन चलाने में आपका हाथ था," मैंने कहा।

"मैंने कभी कोई ऐसा काम नहीं किया जिसके बारे में मैं महसूस करता था कि वह मुझे नहीं करना चाहिए, बल्कि मैं अलग रहा," रेड्डी ने अपना तर्क दिया और उन्होंने एक बहुत ही अच्छी मिसाल दी—'मैं **कीचड़ में कमल की तरह** था।"

ऐसा लगता है कि कांग्रेस के बाक़ी नेताओं का भी यही हाल था। फ़र्क़ सिर्फ़

इतना था कि उनमें से कुछ पर धब्बे लगते जा रहे थे।

१८ जनवरी को इन्दिरा गांधी ने चुनाव कराने की घोषणा की।

अंदरूनी मजबूरी और बाहरी जरूरत दोनों ही की वजह से उन्हें ऐसा करना पड़ा। जैसा कि उनका तरीक़ा था, उन्होंने राज्यों के मुख्य मंत्रियों, अपनी कैबिनेट के मंत्रियों या गृह-मंत्री, किसी से भी सलाह नहीं ली, यहाँ तक कि राष्ट्रपति फ़ख़रुद्दीन अली अहमद तक से बात नहीं की, जैसा कि राष्ट्रपति ने खुद बाद में संकेत दिया। श्रीमती गांधी ने डिक्टेटरशिप को लोकतंत्र के साथ मिला देने की कोशिश की थी। लेकिन उनको कामयाबी नहीं मिली। ऊपर-ऊपर शांति थी, लेकिन अंदर-अंदर तूफ़ान उमड़ रहे थे। कांग्रेस को तो जैसे मूर्च्छा-सी आ गयी थी, लेकिन जनता में हलचल थी।

विनोबा भावे[13] तक जून १९७६ से इमर्जेंसी हटा लेने का अनुरोध कर रहे थे। अपने मौन-व्रत के वर्ष के दौरान इमर्जेंसी को **अनुशासन पर्व** कहकर उन्होंने उसका जो समर्थन किया था उसकी वजह से उन्हें सरकारी संत कहा जाने लगा था। सच तो यह है कि आचार्य विनोबा भावे ने श्रीमती गांधी का इस हद तक समर्थन किया था कि २५ जून १९७५ से पहले उन्होंने यह सुझाव दिया था कि वह जयप्रकाश के साथ सख़्ती से पेश आ सकती हैं क्योंकि वह अराजकता की ओर ले जाने वाले आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे। लेकिन छः महीने बाद ही खुद विनोबा भावे के साथ बड़ी सख़्ती का बर्ताव किया गया। उसके बाद उन्होंने इमर्जेंसी हटाने का बिलकुल ही विपरीत नारा दिया। अंडरग्रांउड छापे गये एक पर्चे में इसका बहुत सजीव चित्रण किया गया था।

> ११ जून को पुलिस ने विनोबा भावे के आश्रम पर छापा मारा और बड़ी देर तक एक-एक चीज़ की तलाशी ली। बताया जाता है कि भूदान साहित्य (उनकी पत्रिका मैत्री) की २५० प्रतियाँ ज़ब्त कर ली गयीं। यह विनोबा भावे और उनके अनुयायियों के लिए एक चेतावनी थी कि अगले महीने जब उनकी मीटिंग हो तो वे 'मैड' (शाब्दिक अर्थ 'पागल', मैडम डिक्टेटर का संक्षिप्त रूप—अनु०) के मामलात में टाँग न अड़ायें, इस तलाशी के दौरान हज़ारों बिफरे हुए अनुयायियों को पुलिस ने आश्रम के पास नहीं आने दिया।

उस समय श्रीमती गांधी सोवियत संघ की यात्रा पर गयी हुई थीं। उनके लौटने पर जब सीताराम केसरी उनसे मिले तो उनको इस घटना के बारे में बताया। श्रीमती गांधी ने कहा कि उन्हें इसके बारे में कुछ भी मालूम नहीं था और वह यह जानकर बहुत परेशान थीं। उन्होंने कहा कि राज्यों की सरकारें अपनी मनमानी करती हैं और जब लोग पूछते हैं तो कह देती हैं कि प्रधान मंत्री का आदेश है। सितंबर तक आचार्य विनोबा भावे इमर्जेंसी लागू रहने की वजह से इतने बेचैन हो उठे कि उन्होंने गो-हत्या पर पाबंदी लगाने के सवाल पर अनशन कर दिया। श्रीमती गांधी पर प्रभाव डालने की योजना के एक हिस्से के रूप में कुछ संसद-सदस्य संजय से मिले।

"हम लोग उन्हें मरने नहीं दे सकते," उन लोगों ने कहा।

"कोई बूढ़ा उठकर धमकी दे दे और हम घुटने टेक दें?" संजय ने हमेशा की तरह बड़ी बेरहमी के साथ कहा। "ऐसा ही है तो हम सरकार ही क्यों न उनके हवाले कर दें। मरते हैं तो मरें!"

"उन्हें कोई बूढ़ा आदमी नहीं कहा जा सकता," संसद-सदस्यों ने उत्तर दिया। "इस देश में दो ही लोगों ने राज किया है—राजाओं ने और ऋषियों ने। अगर इनमें टक्कर हुई तो हार हमेशा राजा की ही होगी।"

"नहीं," संजय ने कहा, "उसका इंतज़ाम ममी कर लेंगी।"

आचार्य भावे की सेक्रेटरी निर्मला देशपांडे ने बंसीलाल का रवैया कुछ नरम करने की कोशिश की, लेकिन वह टस से मस नहीं हुए। "बहुत-से बूढ़े मरते ही रहते हैं। जब मोरारजी ने गुजरात में भूख हड़ताल की थी उस वक़्त हमने उनके आगे घुटने टेककर ग़लती की थी। अब हम दुबारा वही ग़लती नहीं करनेवाले।"

जब एक प्रतिनिधि-मंडल प्रधान मंत्री से मिलने गया तो उन्होंने बहुत चिंता व्यक्त की। सच तो यह है कि दो महीने बाद उन्होंने अपने ऊपर आवश्यक रूप से कोई बंधन लगाये बिना बड़े गूढ़ ढंग से आचार्य विनोबा भावे के पास एक संदेश भेजा। सीताराम केसरी २१ दिसंबर को उनसे मिलने साउथ ब्लाक में उनके दफ़्तर गये और उन्हें बताया कि वह आचार्य भावे से मिलने जा रहे हैं। बिना यह कहे हुए कि यह बात वह ख़ासतौर पर विनोबाजी के पास तक पहुँचवा देना चाहती हैं, उन्होंने कहा, "आख़िर चुनावों को कब तक टाला जा सकता है?"

केसरी ने बताया, "जब मैं २३ तारीख़ को विनोबाजी से मिला तो मैंने उन्हें एक छोटा-सा पर्चा लिखकर—वह अभी मौन-व्रत धारण किये हुए थे—यह सूचना दी कि चुनाव होने वाले हैं। वह अब तक इस बात से बहुत दुःखी रहे थे। यह बात स्पष्ट थी कि इन्दिराजी संजय से प्रभावित नहीं थीं क्योंकि वह तो चुनाव बिलकुल ही नहीं चाहता था।"

"घोषणा से दो दिन पहले संजय ने मुझसे कहा था कि चुनाव नहीं होंगे!" नारायणदत्त तिवारी ने कहा, "मैं भी चुनाव कराने के ख़िलाफ़ था। इसलिए नहीं कि मैं लोकतंत्र के ख़िलाफ़ हूँ, बल्कि इसलिए कि यह उसके लिए मुनासिब वक़्त नहीं था। हमने कुछ ऐसे क़दम उठाये थे, जिनके लिए जनता बहुत दिन से बेचैन थी, लेकिन इस तरह के काम संसदीय लोकतंत्र में हो ही नहीं सकते थे। यह बिलकुल वैसी ही बात थी जैसे कोई मरीज़ इलाज के लिए आये और उसे बारह इंजेक्शन लगने हों। आप उसे आठ इंजेक्शन तो लगा दें, जिनमें उसे बेहद दर्द हो। फिर अचानक, जब सिर्फ़ चार रह जायें, तो आप बाक़ी के लिए फ़ैसला मरीज़ की राय पर छोड़ दें। क्या वह उनके पक्ष में राय देगा? हरगिज़ नहीं। वह कहेगा, होमियोपैथी या किसी दूसरी दवा से काम चला लूँगा। मैं इतनी तकलीफ़ बर्दाश्त नहीं करना चाहता। हम चुनाव के लिए बिलकुल तैयार नहीं थे।"

पिछली बातों को याद करते हुए साठे कहते हैं, "मैं जब दिसंबर में अमरीका से वापस आया तो उसी वक़्त प्रधान मंत्री ने मुझसे पूछा था कि चुनाव कराने के बारे में मेरी क्या राय है। ऐसा लगता है कि उस वक़्त भी उनको हालत का बिलकुल साफ़-साफ़ पता था। उन्होंने कहा था कि उत्तर प्रदेश के बारे में उन्हें कुछ डर है और उत्तरी राज्यों के बारे में भी। वह जानती थीं कि वह क्या जोखिम मोल ले रही हैं। मैं समझता हूँ कि वह लगातार कई घटनाओं के ऐसे चक्कर में फँस गयी थीं कि उससे बाहर निकलने का और लोकतांत्रिक शक्तियों को सहारा देने का यही एक रास्ता था।"

एक ऐसी औरत के बारे में, जो जान-बूझकर बहुत बड़े-बड़े दाँव लगाकर जुआ खेलने की आदी रही हो, इस प्रकार का दृष्टिकोण केवल कल्पना पर आधारित मालूम होता है। वह अच्छी तरह जानती थीं कि वह क्या चाहती हैं। इन्दिरा गांधी अपने काम करने के ढंग के लिए जनता की मंजूरी, अपने बेटे के लिए राजनीतिक वैधता और अपने मनचाहे ढंग से शासन करते रहने का निरंतर अवसर चाहती थीं। वह अगर यह दिखा देतीं कि निरंकुश शासन के दौर के बाद भी वह चुनाव जीत सकती हैं—जैसा कि कोई भी देश अभी तक नहीं कर पाया था, या उसे ऐसा करने का मौक़ा ही नहीं मिला था—तो उन्हें अपने देश में और विदेशों में आलोचना का सामना न करना पड़ता। अगर वह जीत जातीं तो वह उस गरोह से छुटकारा पा जातीं जो उनके चारों ओर जमा हो गया था, जिसे साठे खुद अपनी पैदा की हुई मुसीबत कहते हैं। यह कोई नयी बात न होती। ज्यों ही उनके अपने राजनीतिक तक़ाज़ों के लिए इन लोगों का कोई इस्तेमाल न रह जाता वह इनसे भी उसी तरह पीछा छुड़ा लेतीं जिस तरह उन्होंने दूसरों से पीछा छुड़ा लिया था।

उन्होंने धीरे-धीरे ढील देना शुरू कर दिया था। जयप्रकाश नारायण नवंबर १९७५ में ही छोड़ दिये गये थे, उसके बाद चरणसिंह छोड़े गये, फिर बीजू पटनायक[11] और इसके बाद एक-एक, दो-दो करके दूसरे लोग भी छोड़े जाने लगे। मार्च १९७६ में कांग्रेस और विपक्ष के बीच समझौते की बातचीत की कुछ चर्चा चली लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला क्योंकि वह ऐसा चाहती ही नहीं थीं। यह विपक्ष को कमज़ोर करने की एक चाल थी। उन लोगों का मनोबल बहुत टूटा हुआ था, हालाँकि जयप्रकाश को इस बात का पूरा मौक़ा दिया जा रहा था कि वह विपक्ष की एक पार्टी बना लेने की तरकीबें करते रहें। श्रीमती गांधी का तर्क यह था कि ये लोग कांग्रेस की संगठित ताक़त को कभी चुनौती नहीं दे पायेंगे क्योंकि उसके पास पैसे और आज्ञाकारी कार्यकर्त्ताओं की कोई कमी नहीं थी।

मई १९७६ में यूनुस ने श्रीमती गांधी से कहा कि सेंसरशिप से कोई फ़ायदा नहीं हो रहा है। उन्होंने बात तो मान ली लेकिन हुआ कुछ नहीं। जुलाई में एक बार फिर यूनुस ने इसके बारे में तर्क देते हुए एक बहुत लंबा नोट तैयार करके भेजा। इस सवाल पर बहस करने के लिए एक मीटिंग बुलायी गयी जिसमें सभी संबंधित अफ़सर मौजूद थे। विद्याचरण शुक्ला ने कहा कि कनाडा जाने से पहले वह इसके बारे में मार्गदर्शक हिदायतें जारी कर देंगे और वहाँ से वापस लौटने पर सेंसरशिप हटा लेंगे। वापस लौटने पर उन्होंने सिर्फ़ विदेशी पत्रकारों पर से सेंसरशिप हटायी। यूनुस ने बिलकुल साफ़ कह दिया कि यह तो सरासर मज़ाक है कि हम अपने अख़बार वालों को तो सज़ा दें और बाहर के लोग फ़ायदा उठायें। श्रीमती गांधी ने कहा कि वह यूनुस से सहमत हैं, लेकिन जैसा कि हमेशा होता आया था, नतीजा कुछ और ही निकला। सेंसरशिप चुनाव कराने के ऐलान के वक़्त तक नहीं हटायी गयी।

खुफ़िया विभाग की रिपोर्टों के अनुसार वह २८० सीटें आसानी से जीत सकती थीं, क्योंकि फ़सल बहुत अच्छी होने वाली थी। ऐसी हालत में तो चुनाव करा लेना ही ठीक था। श्रीमती गांधी को जनता में अपने भरोसे का विश्वास था; और चुनाव की चुनौती देने की एक वजह यह भी थी कि उन्हें यक़ीन था कि संजय जीत जायेगा। वह हमेशा से चुनाव कराने का विरोध करता आया था, लेकिन चुनाव में खड़े होने के ख़िलाफ़ नहीं था।

फ़रवरी के आरंभ में जो राजनीतिक वातावरण था उसे पहचानते हुए यशपाल कपूर ने संजय से कहा, "भैया, चुनाव के लिए न खड़े होना।"

"क्यों ?" संजय ने कहा, "हद-से-हद हार ही तो जाऊँगा।"

"इसके बारे में इस तरह नहीं सोचना चाहिए। अगर पार्लियामेंट में आना ही चाहते हो तो हम लोग किसी उप-चुनाव में भी तुम्हें ला सकते हैं।"

"लेकिन मैं क्यों न लड़ूँ।"

"पिछली बार उन्होंने मारुति का झंझट खड़ा किया था, लेकिन उस वक़्त इन्दिरा लहर थी इसलिए कुछ नहीं हुआ। इस बार वे माँ और बेटे का बखेड़ा खड़ा करेंगे और इस बार कोई लहर भी नहीं है।"

१५ फ़रवरी को रायबरेली जाने से पहले यशपाल कपूर ने प्रधान मंत्री से पूछा, "आपने संजय के बारे में क्या फ़ैसला किया है ? मैंने उससे कह दिया है कि वह चुनाव में खड़ा न हो।"

"नहीं," श्रीमती गांधी ने कहा, "वह महसूस करता है कि उसके ख़िलाफ़ इतनी बात कही जाती हैं, उसे उनका जवाब देने का मौक़ा मिलना चाहिये।"

फ़रवरी में ही धीरेंद्र ब्रह्मचारी ने भी, जिन पर संजय को बहुत भरोसा था, उससे चुनाव में न खड़े होने को कहा।

"आप यह बात कैसे कह रहे हैं ?" ज़िद्दी नौजवान ने उन्हें फटकार दिया। आपको राजनीति के बारे में क्या पता है ?"

"मैं तो वही बता रहा हूँ जो लोग कहते हैं," ब्रह्मचारी ने कहा। "अगर तुम नाराज़ होते हो तो मैं अपने कपड़े-लत्ते समेटकर चला जाता हूँ, मुझे क्या लेना-देना इस बात से ?"

इन्दिरा गांधी ने आखिरी वक़्त पर संजय को रायबरेली वाली अपनी सीट से मिली हुई अमेठी की सीट से खड़ा कर दिया। संसद के कुछ सदस्यों की यह धारणा कि अगर संजय हार भी जाये तो श्रीमती गांधी को कोई अफ़सोस नहीं होगा, इस समस्या के साथ श्रीमती गांधी के लगाव के यथार्थ मूल्यांकन से नहीं उत्पन्न हुई थी बल्कि यह आदर्शवादियों का आखिरी सहारा था। वे आस लगाये थे कि वह किसी तरह अपने बेटे से अलग हो जायें ताकि उन्हें चुनाव के प्रचार के दौरान कुछ कहने को मिल जाये।

जब टिकट बाँटने का सवाल आया तो युवक कांग्रेस का पलड़ा लगातार भारी रहने के बारे में जो अनुमान लगाया जाता था वह ठीक निकला, जिसकी वजह से पुरानी पीढ़ी के नेताओं में बड़ा क्षोभ और गुस्सा पैदा हुआ। गौहाटी अधिवेशन के बाद से, जहाँ प्रधान मंत्री ने यह बात मानी थी कि युवकों ने "बाज़ी मार ली है," मूल कांग्रेस पार्टी के लोगों में एक बौखलाहट फैल गयी थी। टिकट देने के लिए कई कसौटियों से बारे में बहस हुई, जिनमें से सभी ऐसी थीं कि पुराने आज़माये हुए अनुभवी लोगों को हटाकर युवक कांग्रेस को बढ़ावा दिया जाये।

जब बिहार के विमल शर्मा जगजीवनराम के पास टिकट पाने में उनकी मदद लेने गये तो बाबूजी ने बड़े व्यंग्य से कहा, "मैं कुछ नही कर सकता। पिछली बार मैं कांग्रेस का अध्यक्ष था, ए० पी० शर्मा प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे, तब भी उस वक़्त मैं तुम्हें टिकट नहीं दिला पाया। अब तो मैं कुछ भी नहीं कर सकता हूँ। तुम संजय को जानते हो, श्रीमती गांधी से कहो, बंसीलाल हैं, बिहार के मुख्य मंत्री जगन्नाथ मिश्र हैं, सीताराम केसरी हैं, इन लोगों से कहो। ये लोग दिला सकते हैं, मैं नहीं दिला सकता।"

जगजीवनराम के धीरज का बाँध उस वक़्त टूट गया जब युवक कांग्रेस ने २०० सीटें माँगीं। उन्होंने महसूस किया कि बड़ी चालाकी से अगली संसद में उनके समर्थकों को उनकी वास्तविक शक्ति के अनुसार सीटें नहीं दी जायेंगी; उन्होंने यह भी महसूस किया कि हर मौक़े पर उनका जिस तरह अपमान किया जा रहा था वह अब बर्दाश्त के बाहर हो गया था, और यह कि अब कांग्रेस में उनके लिए कोई भविष्य नहीं था। इमर्जेंसी अभी तक लगी हुई थी। उन्होंने १ फ़रवरी को बड़े शांत भाव से श्रीमती गांधी से कहा कि इमर्जेंसी हटा ली जानी चाहिए। उन्होंने बात को टालते हुए धीमे स्वर में कहा कि वह गृह-मंत्रालय से इस सवाल के बारे में छानबीन करने को कहेंगी। अगले दिन जगजीवनराम ने न सिर्फ़ कांग्रेस छोड़ दी बल्कि वह उनके पंजे से भी निकल गये। उन्होंने बहुगुणा और नंदिनी सत्पथी के साथ मिलकर कांग्रेस की टक्कर पर कांग्रेस फ़ॉर डेमोक्रेसी की स्थापना की और चुपचाप लोगों के कांग्रेस छोड़कर निकल आने की प्रतीक्षा करने लगे।

इसके बाद तो श्रीमती गांधी का इमर्जेंसी के दाँव-पेंच का पूरा क़िला ही ढह गया। तीन बातें फ़ौरन साफ़ नज़र आने लगीं। श्रीमती गांधी को पुराने नेताओं की मिन्नत-खुशामद करके उन्हें अपने साथ रखना था और पार्टी के मामलों में उन्हें फिर उनका उचित स्थान देना था; उन्हें खुद अपने रवैये में कुछ नरमी लानी थी; और उन्हें संजय के बारे में कुछ करना था। उस वक़्त तक सारे अख़बार, जिन्होंने दुबारा अपनी आज़ादी हासिल कर ली थी, बिलकुल क़ाबू से बाहर हो चुके थे। लेकिन सच्चाई के साथ। जो ख़बरें वे छाप रहे थे वे ऐसा लगता था कि सीधे तवे पर से आ रही हैं—उनमें जनता के गुस्से की गर्मी थी। पहली बार इमर्जेंसी के अँधेरे पहलू पर से परदा हट रहा था। श्रीमती गांधी की उम्मीदों के ख़िलाफ़, विपक्ष के सारे नेता देखते-देखते मिलकर एक हो गये, बहुत बड़ी हद तक उस एकता की वजह से जो जेल में क़ायम हुई थी। लोग जनता पार्टी की मीटिंग में उन लोगों को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए अपने-आप ही आये, जिन्होंने जेल की मुसीबतें झेली थीं। कांग्रेस की मीटिंग में भी लोग आये थे लेकिन बुझे मन से। जब जगजीवनराम ने कांग्रेस छोड़ दी तो लोगों ने महसूस किया कि वे अपना भय त्याग सकते हैं। उस दिन कांग्रेस की क़ब्र खुद गयी थी।

"मैडम," इंटेलिजेंस ब्यूरो के प्रधान डी० सेन ने प्रधान मंत्री को बताया, "मुझे डर है कि आप हार जायेंगी।"

अमेठी में संजय के बिलकुल शाही चुनाव-प्रचार से गाँववाले उससे इतना अधिक दूर हो गये जितना उसने सोचा भी नहीं था। मैंने एक मुस्लिम गाँव में उसे पदयात्रा करते देखा। वह घबराया हुआ लगता था और इतनी तेज़ी से चलता था कि लोग खड़े घूरते रह जाते थे। जिस दिन जगजीवनराम ने अमेठी में एक मीटिंग में भाषण दिया उस दिन संजय के लोगों और उत्तर प्रदेश पुलिस के सशस्त्र कांस्टेबुलों के बीच टक्कर हुई। जब पुलिस वाले ग़ुस्से में आकर उसका घेराव करने गौरीगंज के रेस्ट हाउस पहुँचे, जहाँ वह ठहरा हुआ था, तो संजय के हाथ-पाँव फूल गये और उसने मदद के लिए ओम मेहता को टेलीफ़ोन किया। इसी वक़्त सीमा सुरक्षा दल के प्रधान अश्विनी कुमार के आदमी उसे बचाने के लिए पहुँचे तो उनके साथ भी उसका बरताव कुछ ज़्यादा भलमनसाहत का नहीं था। आख़िरकार श्रीमती गांधी ने **स्वामी** को वहाँ भेजा। वह अपने हवाई जहाज़ पर बैठकर वहाँ पहुँचे और किसी तरह संजय को शांत करने में सफल हुए।

ऐसा लगता है कि उसके भाई राजीव ने, जो दिल्ली में बैठा बड़ी चिंता से यह सब-कुछ देख रहा था, यह महसूस किया कि स्थिति को सँभालने के लिए कोई सख्त क़दम उठाना होगा। वह पी० एन० धर के पास गया। अगर जनता के बीच मुँह दिखाने लायक़ रहने के लिए संजय को पार्टी से निकाल दिया जाये तो कैसा रहे ? इसका बहुत असर पड़ेगा। प्रधान मंत्री दौरे पर थीं; धर ने उनसे संपर्क स्थापित किया। ऐसा लगता था कि वह भी इस बात से कुछ-कुछ सहमत थीं। जब वह लौटकर आयीं तो उन्हें मालूम हुआ कि संजय, ज़ाहिर है, इसके लिए तैयार नहीं है। डर इस बात का था कि अगर संजय जीत गया तो कांग्रेस के बहुत-से संसद-सदस्य यह सोचकर पार्टी छोड़ देंगे कि संसद में संजय के रहने से उनकी कोई हैसियत नहीं रह जायेगी। वोट पड़ने से तीन-चार दिन पहले इस तरह की कुछ चर्चा चली थी कि बंसीलाल को निकाल दिया जाये और संजय से कहा जाये कि वह अमेठी के चुनाव से हट आये। लेकिन इस पर भी अमल नहीं किया गया।

इन्दिरा गांधी बौखला उठीं। उन्होंने राष्ट्रपति से, जो मलयेशिया के दौरे पर थे, वापस आ जाने को कहा। उन्हें चुनावों की घोषणा पर हस्ताक्षर करने थे। श्रीमती गांधी उनके पास फ़ौरन सलाह लेने पहुँचीं। रात के १० बजे थे और बताया जाता है कि बेगम आबिदा ने उनसे कहा कि राष्ट्रपति सोने चले गये हैं। श्रीमती गांधी ने कहा, "काम बहुत ज़रूरी है।" जब वह राष्ट्रपति से मिलीं तो, कहा जाता है, राष्ट्रपति ने उनसे कहा कि वह बच्चों जैसी बातें न करें। "हम कल बात कर सकते हैं।"

अगले दिन सुबह ६ बजे फ़ख़रुद्दीन अली अहमद का देहांत हो गया। रेल मंत्रालय के भूतपूर्व केंद्रीय राज्य-मंत्री मुहम्मद शफ़ी क़ुरैशी ने भाव-विह्वल होकर अपने भाषण में कहा, "वह दिल का दौरा पड़ने से नहीं मरे हैं, उनका दिल टूट गया था…।"

इन्दिरा गांधी का सोचने का ढंग अब उस हालत में पहुँच चुका था कि, मुझे पूरा यक़ीन है, अगर वह परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल पातीं तो मार्शल-ला भी लागू कर देतीं। वह जानती थीं कि नौ-सेना की भूमिका बहुत महत्त्व नहीं रखती। वायु-सेना पर ध्यान दिया जा सकता था पर वह भी सेना का इतना निर्णायक अंग नहीं था कि उनकी सत्ता को बनाये रखने में उनकी सहाय . कर सकता। बुनियादी महत्त्व थल-सेना का था। बाँगला देश के युद्ध के दौ [illegible] फ़ील्ड मार्शल एस० एच० एफ़० जे० मानेकशा ने यह महसूस किया था [illegible] वह खेदजनक बात थी कि राजनीतिक नेतृत्व में कोई एकात्मक प्रणाली नहीं [illegible]। उन्होंने मुझसे कहा था कि युद्ध के दौरान पूरा नियंत्रण प्रधान मंत्री के हाथों में रहना चाहिए। यह बात सेना के बारे में और भी सच थी क्योंकि उसकी रचना में इतनी विविधता होती है। वह जानती थीं कि जनरल टी० एन० रैना राजनीति से इतने दूर हैं कि उन्हें राजनीति के क्षेत्र में खींचकर लाना असंभव है। और एक बार अगर सेना के मुँह को ख़ून लग गया तो उसे क़ाबू में रखने का कोई उपाय नहीं रह जायेगा।

२० मार्च को चुनाव के पूरे नतीजे आने से पहले ही, जिनमें कांग्रेस का बिलकुल सफ़ाया हो गया, रायबरेली में स्वयं इन्दिरा गांधी की हार की ख़बर से भारतीय इतिहास की पूरी दिशा ही बदल गयी।

इन्दिरा गांधी ने दो दिन तक इस्तीफ़ा नहीं दिया। २२ मार्च को एक ख़ूबसूरत टोयोटा मोटर पर टीन के डिब्बे लादे जाते देखे गये, जिनमें शायद पैसा था।

चुनाव के लिए जो पैसा जमा किया गया था उसमें से कुछ तो २ कुशक रोड से चुनाव लड़ने वालों के बीच बाँट दिया गया था; वहाँ चारों तरफ़ बहुत मज़बूत घेरा बाँध दिया गया था ताकि कोई आसानी से अंदर न जा सके और किसी को वहाँ की बातों का पता न चल सके। रोज़ १ सफ़दरजंग रोड से वहाँ टीन का एक डिब्बा लाया जाता था और पी० सी० सेठी राजनीतिक ज़रूरतमंदों को दो घंटे तक पैसा बाँटते थे।

उसी छोटी-सी टोयोटा मोटर की मदद से यह बंदोबस्त किया जा रहा था कि आगे चलकर फिर किसी दिन लड़ाई जारी रखने के लिए यह पैसा सुरक्षित रहे। इन्दिरा गांधी उन लोगों में से नहीं हैं जो आसानी से हार मान लें।

टिप्पणियाँ

१. राजनीति के क्षेत्र में आ जाने वाले पत्रकार के लिए इससे बड़े संतोष की बात और क्या हो सकती है कि उसे सूचना तथा प्रसारण-मंत्रालय का काम सौंप दिया जाये, जहाँ अगर आदमी चाहे तो अपनी सत्ता का उपयोग सूझ-बूझ के साथ भी कर सकता है और नासमझी से उसका दुरुपयोग भी कर सकता है। लालकृष्ण अडवाणी ने यह दु:साध्य लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। उनका जन्म कराची में (जो अब पाकिस्तान में है) १९२७ में हुआ था। उन्होंने एक पत्रकार की हैसियत से काम किया लेकिन १९४२ से १९५२ तक राजस्थान में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संगठन करते रहे। १९५० में वह जनसंघ में आये और जल्द ही उसके उच्चतम पदों पर पहुँच गये; १९६५-६७ में वह उसके उपाध्यक्ष रहे और १९७३ में अध्यक्ष चुने गये। १९६७-७१ में वह दिल्ली की अंतरिम मेट्रोपोलिटन कौंसिल में जनसंघ के नेता थे, जिसके बाद वह राज्यसभा के सदस्य चुने गये। जब १९७७ में जनता पार्टी ने सत्ता का भार सँभाला तो वह सूचना तथा प्रसारण के केंद्रीय मंत्री बनाये गये।

२. ए० एन० रे इस समय पैंसठ वर्ष के हैं। अप्रैल १९७३ में सुप्रीम कोर्ट के तीन जजों, जस्टिस ग्रोवर, हेगडे और शेलात, का हक़ मारकर, जिनकी बारी उनसे पहले आती थी, उन्हें भारत का चीफ़ जस्टिस बना दिया गया। लंबी छलाँग लगाकर उनका न्याय-जगत के सर्वोच्च पद पर इस तरह पहुँच जाना विवाद का विषय बन गया। इस सर्वोच्च पद पर पहुँचने से पहले, जिस पर वह १९७७ तक रहे, वह कलकत्ता हाईकोर्ट के जज और सुप्रीम कोर्ट के जज थे।

३. मुजीबुर्रहमान बाँगला देश के जन्मदाता थे। पाकिस्तान में अवामी लीग के नेता की हैसियत से उन्होंने पूर्वी बंगाल के लिए अधिक स्वायत्त अधिकार प्राप्त करने के कई विफल प्रयत्न किये और अंत में १५ मार्च १९७१ को एकतरफ़ा तौर पर स्वायत्त सत्ता की घोषणा कर दी। पाकिस्तानी दमन के फलस्वरूप पूरे उपमहाद्वीप में आग भड़क उठी, जिसमें भारत की विजय हुई और बाँगला देश एक नया देश बन गया। केवल तीन ही वर्ष बाद अगस्त १९७५ में शेख़ मुजीबुर्रहमान की, जिन्हें उनके देशवासी बड़े स्नेह से बंग बंधु कहते थे, बड़ी निर्दयता से हत्या कर दी गयी, और उनके साथ ही लगभग उनके पूरे परिवार को भी मौत के घाट उतार दिया गया।

४. पी० एन० सिंह का जन्म १९३७ में बलिया (उत्तर प्रदेश) में हुआ था।

सोलह वर्ष की अवस्था में वह स्टूडेंट्स कांग्रेस में शामिल हुए और अंततः १९५८ में दिल्ली पहुँचे। उनके व्यक्तित्व की तरह ही उनकी राजनीति भी सीधी-सादी और साफ़-सुथरी थी। वह लगातार कांग्रेस में रहे; १९६०-६८ में वह दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सदस्य, १९६७ से १९६९ तक युवक कांग्रेस के अध्यक्ष और १९७० में युवक कांग्रेस की राष्ट्रीय परिषद के सदस्य रहे। १९७२ में वह दिल्ली मेट्रोपोलिटन कौंसिल के कांग्रेसी सदस्य चुने गये। उन्नीस महीने जेल में रहने के बाद वह जनता पार्टी में आ गये और १९७७ में फिर मेट्रोपोलिटन कौंसिल के सदस्य चुने गये।

५. इस दौर में लाखों लोगों की नसबंदी की गयी। हर राज्य के लिए कुछ लक्ष्य निर्धारित कर दिये गये थे। जो अफ़सर सबसे अच्छा काम कर दिखाते थे उन्हें प्रोत्साहन के रूप में बेशुमार पैसा दिया जाता था। मुख्य मंत्री से लेकर गांवों में पटवारी और दरोग़ा तक को इसके आदेश दे दिये गये थे और प्रशासन के हर स्तर पर लोग ज़्यादा-से-ज़्यादा कारगुज़ारी दिखाने के फेर में रहते थे। उन्हें केवल संख्या बढ़ाने की चिंता रहती थी, तरीक़ा कोई भी इस्तेमाल करना पड़े। हरियाणा में ख़ास तौर पर पूरे-के-पूरे गाँवों को पुलिस से घिरवाकर लोगों की ज़बर्दस्ती नसबंदी करवायी गयी। लोगों को बसों पर से उतार-उतारकर नसबंदी के कैंपों में ले जाया गया। कई उदाहरणों में तो डॉक्टरों को दम लेने की भी फ़ुरसत नहीं मिलती थी, उनके पास लगातार एक के बाद एक आदमी आपरेशन के लिए लाकर खड़ा कर दिया जाता था; बाद में पता चलता था कि ये लोग क़ैदी थे जिन्हें पुलिस ने पिछली रात ही पकड़ा था।

इसी तरह अध्यापकों से कह दिया गया था कि वे हर महीने कुछ लोगों को नसबंदी के लिए लायें। इस तरह का 'सहयोग' देने पर उन्हें वेतन, भत्ते और तरक़्क़ी दी जाती थी। कुछ उदाहरण तो ऐसे भी हैं जिनमें पुराने विचारों वाले परिवारों की नौजवान अध्यापिकाओं ने जब यह देखा कि वे न इस विषय पर बात कर सकती हैं और न अपना लक्ष्य पूरा कर सकती हैं तो उन्होंने आत्महत्या कर ली।

हर चीज़ राजनीतिज्ञों पर नहीं बल्कि प्रशासकों पर छोड़ दी गयी थी। किसी क्षेत्र में काम करने वाले सामाजिक कार्यकर्त्ता भी लोगों को धौंस देने के लिए पुलिस का सहारा लेते थे। लेकिन जिन लोगों को यह सब-कुछ करना पड़ता था उन्हें भी इससे उतनी ही नफ़रत थी जितनी कि उन लोगों को जो इसका शिकार हुए। यह अत्याचार करने वालों के पीछे दो प्रेरक शक्तियाँ काम कर रही थीं—नौकरी तथा स्वतंत्रता छिन जाने का डर, और ऊपर से कृपादृष्टि की आशा।

६. अट्ठावन-वर्षीय ख़ुरशीद आलम ख़ाँ, उत्तर प्रदेश के रहने वाले हैं। सड़क-परिवहन, आधुनिक उर्दू साहित्य की पुस्तकों तथा जीवनियों के प्रति वह विशेष रुचि रखते हैं। १९७४ में जब वह राज्यसभा के सदस्य चुने गये तो स्वाभाविक रूप से जामा मस्जिद के इलाक़े में रहनेवालों के संरक्षक बन गये।

७. सत्तावन-वर्षीय उग्र सोशलिस्ट ब्रजमोहन तूफ़ान का जन्म स्यालकोट में हुआ था। उन्होंने दिल्ली यूनिवर्सिटी में शिक्षा पायी और १९४८ में बी० बी० सी० में काम करने के लिए योरुप चले गये। १९५५ में वह सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति के सदस्य बने। १९६५ से वह दिल्ली में

हिंद मज़दूर सभा के अध्यक्ष हैं। १९७७ में वह जनता पार्टी के टिकट पर दिल्ली की मेट्रोपोलिटन कौंसिल के सदस्य चुने गये। वह **इंडियाज़ अनफ़िनिश्ड रेवल्यूशन** (भारत की अधूरी क्रांति) पुस्तक के लेखक हैं।

८. उत्तरी जर्मन टी० वी० के डी० आर० क्रानजूकर तथा डी० आर० शालीन को २९ सितंबर १९७५ को दिये गये एक इंटरव्यू में।

९. जनता पार्टी की सरकार ने **समाचार** के काम-काज की जाँच के लिए एक कमेटी बनायी है, जिसकी रिपोर्ट के आधार पर इस संस्था के भविष्य का फ़ैसला किया जायेगा।

१०. एक ठाकुर परिवार में १९१९ में सागर (मध्य प्रदेश) में जन्म लेने वाली इस साहसी कन्या का विवाह एक ऐसी जगह हुआ जहाँ इतिहास बनता था। ग्वालियर के सिंधिया शासकों का उल्लेख भारतीय इतिहास के हर पृष्ठ पर आता है। भारत के गणराज्य घोषित कर दिये जाने के बाद उनका सामंती वैभव तो समाप्त हो गया पर नाम चलता रहा। जब विजया राजे के पति महाराजा जीवाजी राव सिंधिया का देहांत हो गया तो वह चाहतीं तो राजसी परंपरा के अनुसार एकांत जीवन व्यतीत कर सकती थीं। परंतु उन्होंने एक तूफ़ानी वेग के साथ राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया और १९५७ में कांग्रेस की ओर से लोकसभा की सदस्य चुनी गयीं। प्रगति करते-करते वह बहुत अच्छी सार्वजनिक वक्ता बन गयीं। डी० पी० मिश्रा के साथ अनबन हो जाने के कारण उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी। १९६७ में मध्य प्रदेश में विपक्ष की पहली सरकार बनाने में उन्होंने आगे बढ़कर सहायता दी। वह जनसंघ की बहुत सक्रिय सदस्य बन गयीं और इसीलिए उन्हें जेल जाना पड़ा। उन्हें वेश्याओं और हत्या करने वाली औरतों के बीच जिस कोठरी में रखा गया वह राजसी सुख-चैन से कोसों दूर की जगह थी, परंतु विजया राजे ने बड़े धैर्य से अपनी मर्यादा पर अडिग रहकर जीवन का यह दौर भी काट दिया।

११. अर्जुनसिंह ने मध्य प्रदेश की कांग्रेस की राजनीति में ख्याति प्राप्त की। १९६७ में वह कृषि-मंत्री, फिर योजना तथा विकास-मंत्री औरअंत में १९७२ में शिक्षा-मंत्री बने। इस समय वह मध्य प्रदेश में कांग्रेसी विपक्ष के नेता हैं।

१२. बयासी-वर्षीय विनोबा भावे महात्मा गांधी के सहकर्मी तथा शिष्य हैं। ग़रीबों को भूमि दिलाने के लिए उन्होंने भूदान आंदोलन का नेतृत्व किया। सामाजिक दायित्व के क्षेत्र में यह एक क्रांतिकारी विचार था। वह निःस्वार्थ सेवा के सर्वोदय आंदोलन के संस्थापक नेता भी हैं। दुबला-पतला शरीर, आँखों पर मोटी-सी ऐनक; वह नियमपूर्वक व्रत तथा तपस्या का कठोरता से पालन करते हैं। उन्हें एक दार्शनिक तथा विद्वान के रूप में मान्यता प्राप्त है।

१३. विजयानंद पटनायक, जो बीजू पटनायक के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, राजनीति के क्षेत्र में साहसी कार्यों के प्रति उत्साह रखने की ख्याति लेकर आये—वह इंडोनीशियाई नेता सुल्तान शहरयार को युद्ध के दौरान हवाई जहाज़ पर डच शासकों की आँखों में धूल झोंककर निकाल लाये थे। पाकिस्तानी आक्रमण के दौरान कश्मीर में पहला विमान उन्होंने ही उतारा था। वह बड़े उद्यमशील उद्योगपति थे जब उन्होंने १९६१-६३ में उड़ीसा के मुख्य मंत्री के रूप में राजनीति के क्षेत्र में एक नये पराक्रम का बीड़ा उठाया। १९७२ में वह राज्यसभा के सदस्य चुने गये और इस समय जनता पार्टी की सरकार में इस्पात तथा खानों के केन्द्रीय मंत्री हैं। लंबा क़द, शिष्ट तथा सुसंस्कृत, गतिवान और परिवर्तनशील।

परिशिष्ट : संजय गांधी की इंटरव्यू

उमा : आप शराब के शौक़ीन हैं, इसके बारे में बहुत-से क़िस्से सुनने में आते हैं।...

संजय : मैं तो बिलकुल पीता ही नहीं। शराब तो जाने दीजिये, मैं तो कोका-कोला, लिम्का, फ़न्टा, या इस तरह की कोई भी चीज़ नहीं पीता। इसलिए मेरी समझ में नहीं आता कि मेरे ऊपर पीने का इल्ज़ाम कैसे लगाया जाता है।

उमा : आपकी रंगरेलियों के बारे में जो अफ़वाहें हैं उनकी, आपके ख़याल में, असली वजह क्या है ?

संजय : मुझे मालूम नहीं, क्योंकि मैं तो किसी होटल में शायद ही कभी जाता हूँ। मेरा मतलब है कि शायद साल में कभी एक बार चला गया और सो भी किसी से मिलने। शुरू-शुरू में जब १९६७ में मैंने मारुति का काम शुरू किया था, तब मैं दिन-भर में कम-से-कम सोलह घंटे काम करता था, कभी-कभी अट्ठारह घंटे। जब गुलाबीबाग़ में मेरी वर्कशाप थी, उन दिनों मैं सुबह आठ बजे काम पर चला जाता था और आम तौर पर रात को नौ बजे लौटकर आता था—उसके बाद मैं कुछ लिखने-पढ़ने का काम करता था। मेरा मतलब है कि पाँच-छ: साल तक मैं नहीं समझता कि मैं किसी डिनर या किसी पार्टी में या कहीं भी गया हूँ। इधर कुछ दिनों से मैं इतना ज़्यादा काम नहीं करता फिर भी लगभग बारह घंटे तो करता ही हूँ। इसके बाद रंगरेलियों के लिए वक़्त ही नहीं बचता था।

उमा : आपकी राय में इसकी क्या वजह है कि इस तरह की अफ़वाहें आपके बारे में ज़्यादा फैलती हैं और आपके भाई राजीव के बारे में नहीं ?

संजय : क्योंकि मैं जो कुछ कर रहा हूँ उसके बारे में ज़्यादा झगड़े उठाये जा सकते हैं। अगर वे मेरे भाई के बारे में कुछ कहना चाहें तो यही कह सकते हैं कि ज़ोर-असर की वजह से उसे नौकरी मिल गयी। ख़ैर, ठीक है, ज़ोर-असर से नौकरी मिल गयी, उसके बाद ? कुछ नहीं। लेकिन मेरे बारे में इस तरह की बातों का सिलसिला लगातार चलता रह सकता है।

उमा : आपके बारे में बचपन से ही तरह-तरह के क़िस्से सुनने में आते रहे हैं, ख़ास तौर पर वह क़िस्सा जिसमें यह कहा गया है कि आपके नौजवान ऊधमी दोस्तों का एक गरोह था जो सिर्फ़ मज़े के लिए मोटरें चुराता था।

संजय : मुझ पर जिस ज़माने में मोटरें चुराने का इल्ज़ाम लगाया गया था उन दिनों मैं कश्मीर में था। मैं समझता हूँ कि मैं उससे दो महीने

पहले से वहाँ था। उसके फ़ौरन बाद, जब तक यह अफ़वाह तेज़ी से फैली, तब तक मैं इंग्लैंड जा चुका था। जब मैं दिल्ली में था ही नहीं तो यहाँ मोटरें कैसे चुरा सकता था ?

उमा : लेकिन एक व्यक्ति की हैसियत से आप हमेशा बहुत गरममिज़ाज और जोशीले रहे हैं। क्या इसकी वजह से कभी आपका प्रधान मंत्री से, अपनी माँ से, कोई टकराव हुआ ?

संजय : मेरा माँ से कभी कोई टकराव नहीं रहा। मेरे अपने कुछ विचार हैं, उनके विचार मेरे विचारों से अलग हैं, लेकिन मैं नहीं समझता कि इसका मतलब टकराव है; यह तो मतभेद है, तो उसमें क्या हुआ ? मेरा मतलब है कि हज़ारों लोगों से मेरा मतभेद रहा है। लेकिन उसका टकराव या उस तरह की किसी चीज़ से क्या संबंध ?

उमा : लेकिन अपनी माँ के साथ आपके संबंध, आपकी राय में, कैसे हैं ?

संजय : देखिये, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मैं इन्हें किस कोटि में रखूँ।

उमा : क्या अपनी माँ के साथ आपकी बहस में कभी गरमागरमी भी पैदा हो जाती है ?

संजय : कभी किसी भी बहस में कोई गरमागरमी पैदा नहीं हुई। उनके साथ मेरी कितनी ही बार बहस हुई है क्योंकि मैं यों भी बहस करने का काफ़ी आदी हूँ। लेकिन उसमें झगड़े की नौबत कभी नहीं आती।

उमा : क्या वह आपकी बात सुनती हैं या महत्त्वपूर्ण सवालों पर आपको अपने विचार कहने का मौक़ा देती हैं ?

संजय : जी हाँ, ज़ाहिर है, वह मेरे विचार से सुनती हैं। वे मेरी बात उस वक़्त भी बड़े ध्यान से सुनती थीं जब मैं पाँच साल का था, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जो कुछ मैं कहता हूँ वही वह करती भी हैं।

उमा : क्या आपके संबंध दोस्ती के हैं ?

संजय : कुछ हद तक, हाँ।

उमा : आपको उनके साथ बात करने में कोई संकोच नहीं होता ?

संजय : जी नहीं, बिलकुल नहीं।

उमा : और वह आपको अपने विचार व्यक्त करने से कभी रोकती नहीं ?

संजय : जी नहीं, कभी नहीं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि मैं भी वही बात कहूँ जो वह कहती हैं। यह भी मुमकिन है कि मेरे भाई साहब कोई और ही बात कहते हों। यही सिलसिला बढ़ते-बढ़ते बहस का रूप धारण कर लेता है, बस इतनी बात है।

उमा : एक विदेशी पत्रकार ने यहाँ तक कहा है कि आपकी माँ आपसे डरती हैं। मैंने सुना है कि आपने उनके बारे में एक फ़ाइल खोल रखी है !

संजय : मैं समझता हूँ, यह सरासर बकवास है। उस फ़ाइल में मैं क्या रखूँगा और वह फ़ाइल मेरे किस काम आयेगी ! इनमें से ज़्यादातर अफ़वाहें राजनीतिक उद्देश्य से फैलायी जाती हैं। वे जनता के दिमाग़ में यह बात बिठा देना चाहते हैं कि शासनसत्ता के रूप में सरकार या तो इधर-उधर से सलाह लेकर चलायी जाती है या फिर हर काम बिलकुल ही मनमाने ढंग से बिना सोचे-समझे किया जाता है। मैं नहीं समझता कि कोई भी समझदार आदमी इस तरह की बातों पर ध्यान देता होगा।

उमा : क्या आप यह कहना चाहते हैं कि जो लोग इस तरह की बातों पर

विश्वास करते हैं वे वही लोग हैं जो इन बातों पर विश्वास करना चाहते हैं ?

संजय : मैं नहीं समझता कि गिनती के कुछ पागलों के अलावा कोई भी इन बातों पर यक़ीन करता है, और सो भी इसलिए कि इस तरह की बातें पढ़ने में दिलचस्प लगती हैं। भारत में कितनी माँएँ इस तरह के क़िस्से पर यक़ीन करती होंगी कि कोई बेटा इस तरह सरासर अपनी माँ की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ काम करे ? कितने लोग इस बात को मुमकिन समझते हैं ?

उमा : क्योंकि वे समझते हैं कि सत्ता के क्षेत्र में आचरण के मानदंड बिलकुल ही दूसरे होते हैं, जिस तरह पुराने साम्राज्यों के दिनों में ऐसी रानियाँ होती थीं जो हत्या कर देती थीं, या ऐसे बेटे होते थे जो सिंहासन हथियाने के लिए हर तरह की जोड़-तोड़ करते थे ...।

संजय : लेकिन हमारे यहाँ राजवंशों वाली प्रणाली तो है नहीं। अगर इसका मतलब यह है कि कोई भी आदमी किसी पद पर पहुँचने के लिए जोड़-तोड़ कर सकता है तो भी मैं तो इस तरह जोड़-तोड़ नहीं कर सकता। अगर मैं इस तरह की कोई हरकत करूँ भी तो यह वहाँ तक पहुँचने के बजाय वहाँ से निकल जाने का सबसे सीधा तरीक़ा होगा।

उमा : क्या यह सच है कि आपने अपनी माँ के विरोध करने के बावजूद मारुति की योजना को आगे बढ़ाया ?

संजय : जब मैंने मारुति को शुरू किया था, तो इतने छोटे पैमाने पर उसे शुरू किया था कि मैं नहीं समझता किसी को भी उस पर कोई एतराज़ हो सकता था। जब मैं किसी ख़ास मंज़िल तक पहुँचा तब तक मुझे उस योजना पर काम करते हुए पाँच साल बीत चुके थे, इसलिए उस वक़्त उस पर एतराज़ करने में कोई तुक नहीं थी।

उमा : बात यह है कि जब लोग मारुति की चर्चा करते हैं तो उनका मतलब उस वक़्त से होता है जब आपने दरअसल फ़ैक्टरी लगायी और किस तरह वह विपक्ष के आरोपों का विषय बन गयी। तो उस वक़्त क्या वह यह समझती थीं कि आप अपनी इस योजना को छोड़ दें ?

संजय : जी नहीं, मैं नहीं समझता कि ऐसी बात थी। मैं इस योजना पर कई वर्ष से काम कर रहा था इसलिए यह तो बहुत मुश्किल था कि मैं उसे बीच में ही छोड़ देता। और अगर मैं उसे बीच में छोड़ भी देता, तो उससे सिर्फ़ यही साबित होता कि उसमें कोई गड़बड़ी थी और इसीलिए मैंने उसे छोड़ दिया।

उमा : क्या इस योजना को चलाने में आपको इस वजह से कोई ख़ास सुविधाएँ मिली हैं कि आप प्रधान मंत्री के बेटे हैं ? ऐसी सुविधाएँ जो दूसरों को नहीं मिलती हैं ?

संजय : देखिये, लगभग तीन साल से संसद मारुति के हर पहलू के बारे में छानबीन करने की कोशिश कर रही है। अगर मैंने कोई बेजा सुविधाएँ हासिल की होतीं, वे दूसरों को मिलती हों या न मिलती हों, तो उन लोगों ने उनका पता ज़रूर लगा लिया होता और उन्हें सचमुच ख़ूब उछाला होता।

उमा : क्या आप समझते हैं कि जिन लोगों से आपको काम पड़ा उन्होंने, यह जानते हुए कि आप कौन हैं, आपका काम ज़्यादा जल्दी कर

दिया, या आपका अनुभव यह है कि कुछ दूसरे कारणों से आपके रास्ते में रुकावटें डाली गयीं ?

संजय : देखिये, आमतौर पर, मेरा तजुर्बा यह रहा है कि उनका कोई इरादा मेरे रास्ते में रुकावटें डालने का नहीं रहता, लेकिन संसद में इस सारे झगड़े की वजह से वे मेरे लिए कुछ करते हुए डरते हैं। इसके साथ ही मेरी स्थिति को देखते हुए वे मेरे ख़िलाफ़ भी कुछ करते हुए डरते हैं, इसलिए वे हर चीज़ को खटाई में पड़ा रहने देते हैं !

उमा : क्या मारुति के काम में देर होने की एक वजह यह भी है ?

संजय : इससे मदद मिली...।

उमा : उसमें देर लगने में ?

संजय : जी हाँ।

उमा : कोई मिसाल ?

संजय : जैसे, सामान की मंजूरी का सवाल ले लीजिये। हमने अपना ज़्यादा-तर सामान खुले बाजार में ख़रीदा। मेरी नज़र में ऐसे बहुत कम उद्योगपति होते हैं, मेरे मतलब बड़े उद्योगपतियों से है, जिन्हें ऐसा करना पड़ता हो, जिन्हें अपनी ज़रूरत का सारा इमारती सामान या दूसरा सामान खुले बाज़ार में ख़रीदना पड़ा हो।

उमा : इस तरह की अफ़वाहें सुनने में आयी हैं कि आपने ढेरों सीमेंट और लोहे का कोटा ले लिया और फिर उसे बेच दिया क्योंकि आपको उसकी ज़रूरत नहीं थी।

संजय : हमने खुले बाज़ार से जो ढेरों सीमेंट और लोहा ख़रीदा है उसके बिल और रसीदें मौजूद हैं। हमने अपनी बैलेंस-शीट में दिखाया है कि हमने कुछ ऐसा लोहा ज़रूर बेचा जो किसी काम का नहीं रह गया था, लेकिन हमने कंट्रोल का कोई लोहा नहीं बेचा। कंपनियों में आमतौर पर यह होता है कि जो भी फ़ालतू या बेकार लोहा होता है उसे चुपके से बेचकर मालिक पैसा ख़ुद हज़म कर जाते हैं। हमारी ग़लती यह थी कि हमने ईमानदारी से काम किया। हमने उसे फ़ैक्टरी के नाम से बेचा और पैसा भी फ़ैक्टरी के नाम में ही जमा किया। हमारी फ़ैक्टरी बनाने की लागत के बारे में भी हर आदमी को यह ताज्जुब होता है कि वह इतनी कम क्यों है। और लागत इतनी कम होने की अकेली वजह यह है कि मैंने उसमें से कोई पैसा हज़म नहीं किया। दूसरों लोगों की लागत इतनी ज़्यादा इसलिए होती है कि इमारत बनाने की लागत ज़्यादा दिखाकर वे बीच-बीच में लगातार पैसा अपनी जेब में डालते रहते हैं।

उमा : आपकी फ़ैक्टरी का फैलाव बहुत बड़ा है—नौ लाख वर्गफ़ीट। क्या योजना के लिए इतनी जगह की ज़रूरत थी ?

संजय : शुरू में हमने ५०,००० मोटरें बनाने की योजना बनायी थी। फिर पेट्रोल की यह सारी दिक़्क़त शुरू हो गयी। उसके बाद से हमने अपना कारोबार थोड़ा-बहुत दूसरी दिशाओं में बढ़ाया है। हमने सड़क कूटने वाले रोलर बनाना शुरू किया, बसों की बॉडियाँ बनाना शुरू किया और मोटरें तो थीं ही। इन तीनों चीज़ों के लिए मिलाकर जगह मुनासिब ही है। अगर सिर्फ़ मोटरों की बात होती, और जितनी मोटरें हम उस वक़्त बनाने जा रहे थे, तो इतनी जगह की ज़रूरत

नहीं थी।

उमा : इस वक़्त क्या हालत है ? आपकी मोटरें बाज़ार में कब तक आयेंगी और कितनी ?

संजय : हमने उन्हें बेचना तो शुरू कर दिया है। अभी तो हमारा उत्पादन बहुत थोड़ा है। हर महीने सात-आठ मोटरें बनती हैं। अगले महीने तक पंद्रह बनने लगेंगी और फिर धीरे-धीरे हम इसे बढ़ायेंगे। आख़िर में चलकर २०० मोटरें रोज़ बनने लगेंगी। लेकिन इस वक़्त जो हालत है उसमें तो हमें इसमें देर करनी होगी। इसीलिए हमने कुछ दूसरे काम भी हाथ में ले लिये हैं ताकि हमारे पास जो क्षमता है उसे हम दूसरे कामों के लिए भी इस्तेमाल कर सकें।

उमा : आपको पूरी तेज़ी के साथ आगे बढ़ने से क्या चीज़ रोकती है ?

संजय : एक तो है बाज़ार में पैसे की कमी। लोग पैसा मुश्किल से लगाते हैं। मोटर उद्योग में पूंजी बहुत लगानी पड़ती है। ज़्यादा आदमी काम पर लगा देने से ज़्यादा काम नहीं होता। बैंक पैसा देने में आनाकानी करते हैं, पैसा देने वाली दूसरी संस्थाएँ आनाकानी करती हैं...।

उमा : आपको भी ?

संजय : मुझे तो और भी ज़्यादा। इसके अलावा प्राथमिकता की सूची में मोटरों को बहुत नीचे रखा गया है। इसका भी हमारे ऊपर बहुत बुरा असर पड़ता है। सिर्फ़ हमीं पर नहीं बल्कि ऐम्बैसेडर और फ़ियट पर भी। सरकार को कोई परवाह नहीं है कि वे चलें या न चलें।

उमा : शुरू में तो बाज़ार में एक जनता मोटर लाने की योजना पर बड़ा ज़ोर था। इसका मतलब है कि सारी प्राथमिकताएँ गड़बड़ हो गयी हैं।

संजय : दरअसल भारत में १०,००० रु० में या ५,००० रु० में जनता मोटर बिक नहीं सकती। लोगों की हैसियत सच पूछा जाये तो साइकिल या बस से ज़्यादा की नहीं है।

उमा : कुछ लोग तो यह कहते हैं कि आप मोटर बनाना बिलकुल बंद कर देंगे और मोटर के पुर्ज़ बनाने लगेंगे।

संजय : इस वक़्त तो मोटरों के बाज़ार की हालत बहुत बुरी है, इसलिए पुर्ज़े बनाना तो और भी जोखिम का काम है।

उमा : मारुति में वह कौन-कौन-सी ख़ास बातें हैं जिनकी वजह से वह दूसरों के मुक़ाबले में बेहतर मोटर होगी ?

संजय : वह दूसरों से बेहतर मोटर नहीं है। वह सस्ती मोटर है। कम पैसे में आपको उसमें बैठने की जगह ज़्यादा मिलती है; उसमें पेट्रोल की खपत कम होती है; और जहाँ तक मुड़ने का सवाल है वह ऐम्बैसेडर और फ़िएट से कम जगह में मुड़ सकती है।

उमा : लेकिन क्या हल्की बॉडी होने की वजह से उसके उलट जाने का ख़तरा नहीं रहता ?

संजय : कहीं कम। इसका सेंटर ऑफ़ ग्रेविटी (गुरुत्वाकर्षण केंद्र) दूसरों के मुक़ाबले ज़्यादा नीचे है, और सस्पेंशन कहीं ज़्यादा आधुनिक है। ऐम्बैसेडर में जो सस्पेंशन इस्तेमाल किया जाता है उसका डिज़ाइन लगभग १९२० से चला आ रहा है। लेकिन इसके अलावा मारुति में

दूसरी मोटरों के मुक़ाबले कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बुनियादी तौर पर वेहतर हो।

उमा : वह दूसरों से सस्ती क्यों है? आपने कहा है कि आप उसमें ज़्यादा महँगा सामान लगाते हैं?

संजय : हम ज़्यादा महँगा सामान तो लगाते हैं, लेकिन कम सामान लगाते हैं क्योंकि मोटर का डिज़ाइन वहुत कम वज़न का वनाया गया है। ऐम्वैसेडर का वज़न लगभग १२०० किलोग्राम होता है और मारुति का ६०० किलोग्राम। इसका मतलब है कि हमें ६०० किलोग्राम कम सामान का पैसा देना पड़ता है। हम उनके मुक़ावले एल्युमिनियम ज़्यादा इस्तेमाल करते हैं। एक किलो एल्युमिनियम एक किलो इस्पात से कहीं ज़्यादा महँगा पड़ता है। एल्युमिनियम का भाव सचमुच वहुत चढ़ गया है। इमर्जेंसी के वाद से वह लगभग तीन-चार रुपये किलो वढ़ा है। उससे फ़ौरन पहले भी वह चार रुपये किलो वढ़ा था। इस्पात के दाम सिर्फ़ अस्सी रुपये टन वढ़े हैं, यानी आठ पैसे किलो। दरअसल, एक और वात यह भी है कि काले वाज़ार में उसका भाव लगभग वही है जो इस वक़्त कंट्रोल भाव है, जवकि एल्युमिनियम का भाव काले वाज़ार में वहुत ज़्यादा है। जव हम कोई चीज़ वनाते हैं तो हमें कुछ हद तक वाज़ार के सहारे रहना पड़ता है।

उमा : क्या मारुति में स्वतन्त्र सस्पेंशन है?

संजय : हाँ इसमें स्वतन्त्र सस्पेंशन है। कुल मिलाकर, उसका डिज़ाइन आधुनिक है। यहाँ जो दूसरी मोटरें वनती हैं उनके डिज़ाइन १९५०-६० में वनाये गये थे। जहाँ तक इस वात का सवाल है मारुति उनके मुक़ावले में वेहतर है। हमने उसे वहुत ऊवड़-खावड़ ज़मीन पर चलाकर देखा है। हमने वड़ी तेज़ रफ़्तार से वहुत दूर-दूर तक चलाया है, उसे कच्ची सड़कों पर वहुत दूर तक चलाया है; उसके वाद उसे अहमदनगर ले जाया गया, वहाँ भी वह काफ़ी अच्छी चली। हमने लगातार उसमें छः आदमी विठाकर उसे आज़माया है। तरह-तरह के लोगों ने हमसे तरह-तरह के सवाल पूछे हैं, ख़ास तौर पर सरकारी अफ़सरों ने, जिनका हमेशा यह दावा रहता है कि वे सव-कुछ जानते हैं और हमें मान लेना पड़ता है कि वे सव-कुछ जानते हैं!

उमा : मैंने देखा है कि आपकी मोटर शोर वहुत करती है। क्या उसकी कोई ख़ास वजह है?

संजय : सवसे वड़ी वजह यह है कि उसका इंजन हवा से ठंडा रखा जाता है; हवा से ठंडे रखे जाने वाले इंजन पानी से ठंडे रखे जाने वाले इंजनों के मुक़ावले ज़्यादा शोर करते हैं। यह वात फ़ोक्सवागन जैसी मोटरों के वारे में भी सच है, जो पश्चिमी देशों की एक वहुत आला दर्जे की मोटर है। दूसरी वजह यह है कि यह दो सिलिंडर वाली मोटर है; दो सिलिंडर वाली मोटरों में शोर लगातार नहीं होता और चूँकि यह शोर रुक-रुक कर होता है इसलिए ज़्यादा मालूम देता है।

उमा : क्या इस शोर को दूर करने के लिए और पैसा ख़र्च करना होगा?

संजय : विलकुल तो दूर नहीं हो सकता। तकनीकी वजहों से यह मुमकिन नहीं है।

उमा : इसमें पेट्रोल कम क्यों ख़र्च होता है?

संजय : क्योंकि यह हल्की मोटर है। उसे कम बोझ ढोकर चलना पड़ता है।

उमा : इसे चलाते वक़्त मैंने महसूस किया कि उसका स्टीयरिंग बेहद हल्का है।

संजय : ऐसा जान-बूझ कर रखा गया है। स्टीयरिंग जितना ही भारी होगा मोटर चलाने में उतनी ही ज़्यादा थकान महसूस होगी। शुरू-शुरू में, अगर आपको हल्के स्टीयरिंग की आदत न हो तो आपको लगेगा कि वह बेहद हल्का है, लेकिन अगर आप उसे दो-तीन दिन भी चला लें और उसके बाद कोई भारी स्टीयरिंग वाली मोटर चलायें तो आपको महसूस होगा कि भारी स्टीयरिंग कितनी बड़ी मुसीबत होता है।

उमा : आप पीछे इतनी ज़्यादा जगह कैसे निकाल पाये ?

संजय : वह तो डिज़ाइन में ही थी।

उमा : क्या डिज़ाइन पूरी तरह आपका तैयार किया हुआ है ?

संजय : जी हाँ।

उमा : जब आपने इस डिज़ाइन के बारे में सोचा तो क्या आपके दिमाग़ में पहले से कोई नमूना था ?

संजय : जी नहीं। मैंने तो बस एक छोटी मोटर में ज़्यादा-से-ज़्यादा जगह निकालने की कोशिश की है।

उमा : मोटर की क़ीमत के बारे में। मेरा ख़याल है कि पहले आपने कहा था कि उसकी क़ीमत ८,००० रु० होगी।

संजय : जी नहीं, वह ख़बर गलत दी गयी है। हमने शुरू में उसकी क़ीमत १३,००० रु० बतायी थी। अब वह लगभग दुगनी इसलिए हो गयी है कि कच्चे माल और जिस तरह का कच्चा माल हम इस्तेमाल करते हैं, जैसे एल्यूमिनियम, उसके दाम बेहद बढ़ गये हैं। दूसरे लोग यह बिलकुल नहीं इस्तेमाल करते। लेकिन २५,००० रु० में भी वह दूसरी मोटरों से १०,००० रुपये सस्ती रहेगी।

उमा : सड़क पर आने तक ?

संजय : जी हाँ, सड़क पर आने तक।

उमा : आपकी कंपनी में किस तरह के लोगों ने पैसा लगाया है और उसके बड़े-बड़े शेयरहोल्डर कौन लोग हैं ?

संजय : हमारे यहाँ कोई बड़े शेयरहोल्डर नहीं हैं। मुझे मालूम नहीं कि बड़ा शेयरहोल्डर किसे कहा जाता है। मेरे हिसाब से तो बड़े शेयरहोल्डर के पास कुल पूंजी के दो-तीन प्रतिशत से ज़्यादा के शेयर होने चाहिए और हमारे यहाँ इस तरह के कोई लोग नहीं हैं।

उमा : आपकी कुल पूंजी कितनी है ?

संजय : कुल पूंजी, मैं समझता हूँ, इस वक़्त दो करोड़ से कुछ ज़्यादा है।

उमा : चूंकि आपके कारोबार का दारोमदार दूसरे व्यापारियों के सहयोग पर है, इसलिए कहीं ऐसा तो नहीं है कि आपको, या आपकी वजह से प्रधान मंत्री को, दूसरे मामलों में उनके दबाव के आगे झुकना पड़ता हो ?

संजय : मुझे दूसरे व्यापारियों से लगभग कोई सहयोग नहीं मिला है। सच तो यह है कि मुझे अपनी मोटर के लिए वे पुर्ज़े हासिल करने में भी, जो हमारे यहाँ नहीं बनते, कठिनाई हुई। लेकिन चूंकि यह व्यापार का मामला है इसलिए दूसरे लोग उनकी जगह लेने को हमेशा तैयार रहते हैं।

उमा : मेरा मतलब, दरअसल, उन व्यापारियों से है, जिन्होंने इस उम्मीद से आपकी कंपनी के शेयर ख़रीदे हैं कि आपके साथ, और आपके ज़रिये प्रधान मंत्री के साथ, उनके संबंध की वजह से उन्हें उनके अपने ख़ास कारोबार में कुछ सुविधाएँ मिल सकेंगी।

संजय : हमारे ज़्यादातर शेयरहोल्डर व्यापारी नहीं हैं। यही वजह है कि हमारे यहाँ इतने अधिक शेयरहोल्डर हैं और उन्हें इसकी वजह से मुसीबतें उठानी पड़ी हैं। एक आदमी था जिसके बारे में मैं जानता हूँ कि उसकी आमदनी पाँच-छः सौ रुपया महीना थी। उसने हमारे यहाँ, मैं समझता हूँ, कोई एक हज़ार रुपये के शेयर ख़रीदे थे, जिसकी वजह से उसके घर की तीन बार तलाशी ली गयी, उसका इनकम-टैक्स का हिसाब तलब किया गया और उसके बाद एक दिन वह मेरे पास आकर मुझसे बोला, "देखिये, मैंने आपके शेयर ख़रीदे हैं और आपने मुझे किस झंझट में फँसा दिया है!"

कुछ सरकारी अफ़सरों के बीच इस तरह की कोशिशें चल रही हैं, मालूम नहीं विपक्ष के नेताओं के दबाव की वजह से या किस वजह से, कि उन्होंने मारुति के ख़िलाफ़ जानकारी देने में बहुत सक्रिय भूमिका अदा की है और एक अफ़सर ने तो यहाँ तक हुक्म दे दिया कि मारुति में जिसने भी शेयर लिये हों उसके टैक्स के बक़ाये की जाँच की जाये। उन्होंने जाँच की, और जिस वक़्त यह जाँच हुई उस वक़्त मैं समझता हूँ लगभग ६०० या ७०० शेयरहोल्डर रहे होंगे और इन ७०० लोगों के ज़िम्मे वह इनकम-टैक्स का जो कुल बक़ाया निकाल पाये वह लगभग ८६,००० रुपये था। अगर इतनी ही बड़ी किसी दूसरी कंपनी की तलाशी ली जाये तो मैं नहीं समझता कि उसका हिसाब-किताब इतना साफ़ निकलेगा।

उमा : इस योजना की जड़ काटने की कोशिशों के पीछे किसका हाथ था—आपसे मुक़ाबला करने वाले दूसरे व्यापारियों का, सरकारी अफ़सरों का, या राजनीतिक लोगों का?

संजय : मेरे विचार में दूसरे व्यापारियों का भी थोड़ा-बहुत हाथ रहा होगा, लेकिन उससे कहीं ज़्यादा राजनीतिक लोगों का और कुछ सरकारी अफ़सरों का हाथ था।

उमा : ख़ुद एक व्यापारी होने के नाते क्या आप यह समझते हैं कि बड़े-बड़े व्यापारी घरानों को और ज़्यादा बढ़ने से रोका जाना चाहिए और क्या आप नियंत्रित अर्थतंत्र में विश्वास रखते हैं?

संजय : देखिये, दरअसल बात यह है कि नियंत्रित अर्थतंत्र में सिर्फ़ बड़े व्यापारी घरानों को बढ़ने का मौक़ा मिलता है क्योंकि वही लोग होते हैं जिनके पास साधन होते हैं और उनमें हर तरह के नियंत्रणों से बच निकलने की क्षमता होती है। जो छोटा आदमी होता है वह इन नियंत्रणों से बच नहीं पाता इसलिए चोट उसी पर पड़ती है!

उमा : लेकिन सिद्धांत की दृष्टि से क्या नियंत्रित अर्थतंत्र का मतलब यह नहीं है कि...?

संजय : मैं मानता हूँ कि उसका मतलब ठीक इसका उल्टा होता है। लेकिन व्यवहार में जो कुछ होता है वह यही है। भारत में अगर कोई छोटा आदमी किसी चीज़ की शुरुआत करना चाहे तो उसके सामने बहुत-

सी मुश्किलें आती हैं, लेकिन अगर कोई बड़ा आदमी कोई चीज़ शुरू करना चाहे तो हर चीज़ उसके लिए पहले ही से मौजूद रहती है।

उमा : आपकी राय में इसे कैसे बदला जा सकता है ?

संजय : मैं तो कहूँगा कि अगर सारे कंट्रोल हटा दिये जायें तो बड़े व्यापारी अपने-आप खत्म हो जायेंगे। कंट्रोल लगाये रखने की हवा यही लोग बाँधते हैं। कुछ हद तक इसमें बड़े व्यापारियों का हाथ होता है और कुछ हद तक सरकारी अफ़सरों का क्योंकि इस तरह सरकारी अफ़सरों पर उन लोगों की कृपा-दृष्टि भी रहती है और उन्हें पैसा भी मिलता है।

उमा : तो क्या आप निजी उद्यम के पक्ष में हैं ?

संजय : मैं समझता हूँ कि सबसे ज़्यादा तेज़ी से तरक़्क़ी करने का यही रास्ता है। मैं मानता हूँ कि यह बहस का सवाल है। देखिये, बात यह है कि हर आदमी समझता है कि बड़े व्यापारियों को क़ाबू में रखने के लिए उनकी नकेल हमारे हाथों में है। लेकिन पिछले बीस साल में कौन बढ़ा है, बड़ा व्यापारी या छोटा व्यापारी ? तो फिर ये कंट्रोल किस काम के हैं ? वे बड़े व्यापारियों को और मज़बूत ही कर रहे हैं। खुले आम तो वे कंट्रोल हटाने की बातें करते हैं लेकिन अंदर-ही-अंदर और ज़्यादा कंट्रोल लागू करने के लिए पैसा देते हैं। हम एक ऐसी मंज़िल पर पहुँच गये हैं जहाँ बड़े व्यापारी हमेशा यह कहते हैं—देखिये, कोई दूसरा आदमी यह काम कर नहीं सकता। ज़ाहिर है कि कोई दूसरा नहीं कर सकता क्योंकि वह लाल-फ़ीताशाही से निबट नहीं सकता।

उमा : क्या आप समझते हैं कि यह सब-कुछ इसलिए हुआ कि अर्थतंत्र पर केवल आधा नियंत्रण था ?

संजय : मैं समझता हूँ कि हम अपनी टैक्स की सारी आमदनी अर्थतंत्र के उस हिस्से में झोंक रहे हैं जिस पर पूरा नियंत्रण है ताकि वह किसी तरह चलता रहे।

उमा : आपकी उस समाज के बारे में क्या कल्पना है जिसमें सबके बीच बराबरी हो ?

संजय : मैं समझता हूँ कि प्राइवेट सेक्टर (निजी क्षेत्र) की कार्य-कुशलता का फ़ायदा उठाया जाना चाहिए और सही दिशाओं में उसका उपयोग करने के लिए दूसरे तरीक़े इस्तेमाल किये जाने चाहिए। आप उन्हें मज़दूरी बढ़ाने पर मजबूर कर सकते हैं। आप उन्हें मज़दूरों को कंपनी में शेयर देने पर मजबूर कर सकते हैं। आप लाखों दूसरे काम कर सकते हैं, लेकिन उनके पास विशेषज्ञता है और कड़ी मेहनत करने की उनमें जो क्षमता है वह आपको पब्लिक सेक्टर (सार्वजनिक क्षेत्र) में कभी नहीं मिल सकती। पब्लिक सेक्टर कल्याणकारी योजनाओं का बोझ उठा ही नहीं सकता। प्राइवेट सेक्टर यह बोझ उठा सकता है, आप उसे इसके लिए मजबूर कीजिये। अगर आप उनसे कहें कि पूरे-का-पूरा अट्ठानवे प्रतिशत तुम्हें दिया जाता है (जिसमें से पचास प्रतिशत यों ही तुम सरकार को दे देते हो), तुम अड़तालीस प्रतिशत कल्याणकारी योजनाओं पर खर्च कर दो, तो वे खुशी से ख़र्च कर देंगे। क्योंकि यह एक ऐसी चीज़ होगी जो उनके क़ब्ज़े में रहेगी। वे उसे देखकर कह सकेंगे कि यह काम हमने किया है। ऐसा करके

उन्हें खुशी होगी। लेकिन अगर आप उनसे कहेंगे कि तुम यह रक़म हमारे हवाले कर दो, इससे हम पब्लिक सेक्टर के निकम्मेपन का नुक़सान पूरा करेंगे, तो इसके लिए कौन तैयार होगा! उत्तर प्रदेश में बिजली-उत्पादन की बुरी हालत है। वहाँ बिड़ला का एक बिजली-घर है जिसका उत्पादन अपनी क्षमता का नव्वे प्रतिशत, या लगभग पच्चानवे प्रतिशत है। उससे मिला हुआ पब्लिक सेक्टर का बिजली-घर है, जिसका उत्पादन कभी छत्तीस प्रतिशत से आगे नहीं बढ़ा। मैं समझता हूँ कि वहाँ के मैनेजरों को बाहर निकालकर गोली मार दी जानी चाहिए!

उमा : आप किसी भी क्षेत्र के रास्ट्रीयकरण में विश्वास नहीं करते ?

संजय : नहीं, बिल्कुल नहीं। कोयले को ले लीजिये। जिस वक़्त कोयले का राष्ट्रीयकरण किया गया उस वक़्त, मैं समझता हूँ, वह पैंतीस रुपये टन के भाव से बिक रहा था। वे लोग मुनाफ़ा भी कमाते थे। अब कोयला लगभग नव्वे रुपये टन बिकता है और फिर भी हर साल सौ करोड़ रुपये से ज़्यादा का नुक़सान होता है। एक बात तो यह है कि आम नागरिकों को एक टन का दाम नव्वे रुपये देना पड़ता है और, दूसरी बात यह कि उन्हें हर साल सौ करोड़ रुपये से ज़्यादा का नुक़सान भरने के लिए अलग से पैसा देना पड़ता है। सारा फ़ायदा सरकारी अफ़सरों को होता है।

उमा : तो फिर, आपकी राय में, आर्थिक दृष्टि से अपने पाँवों पर खड़ा होने के लिए क्या किया जाना चाहिए ?

संजय : देखिये, एक तरीक़ा तो यह है कि काला बाज़ार रोका जाये। इसका सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि टैक्स कम किये जायें। जैसे पिछले साल कम किये गये थे, हालाँकि बहुत थोड़े ही कम किये गये। वित्त-मंत्रालय ने बहुत शोर मचाया कि उसे पचास करोड़ रुपये का घाटा होगा। एक साल बीत चुका है और नतीजा यह हुआ कि उन्हें नुक़सान के बजाय पैंतालीस करोड़ रुपये का फ़ायदा हुआ है! समझ लीजिये कोई आदमी बहुत ज़्यादा कमाता है। ठीक है, आप कह सकते हैं कि वह बहुत बेहूदा आदमी है, उसे इतना नहीं कमाना चाहिए। लेकिन अगर वह कमाता है तो वह समझता है कि उसे कमाने का हक़ है। उसे हक़ है या नहीं, यह तो बहस की बात है, इसका फ़ैसला कभी नहीं हो सकता, लेकिन वह समझता ज़रूर है कि उसे इसका हक़ है। और चूँकि वह समझता है कि उसे इस बात का हक़ है इसलिए वह यह भी समझता है कि यह मुनासिब नहीं है कि वह उसका पच्चानवे प्रतिशत सरकार को दे दे; पहले टैक्स का हिसाब लगाने का जो तरीक़ा था उसमें लोग इतना देते थे। उनकी आमदनी से भी ज़्यादा टैक्स, जिसका मतलब है कि कुल मिलाकर उन्हें नुक़सान होता था। मैं नहीं समझता कि अगर किसी को अपनी आमदनी से ज़्यादा टैक्स देना पड़े तो वह ईमानदार रह सकता है। इस हालत में कोई भी आदमी धोखेबाज़ बन जायेगा। तो इस तरह आप लोगों को धोखा देने पर मजबूर करते हैं। इस वक़्त जो क़ानून है उसमें टैक्स १०९ प्रतिशत से घटकर ९८ प्रतिशत रह गया है। इस हालत में भी बहुत-से लोग कहेंगे कि हमें नुक़सान तो हो नहीं रहा है, चलो दे दो। लेकिन ज़्यादातर लोग

फिर भी यही कहेंगे कि हम अट्ठानवे प्रतिशत सरकार को क्यों दें। मेरा मतलब है कि वे कहेंगे कि सरकार हमारे लिए कर क्या रही है जो हम उसे ९८ प्रतिशत दे दें? इस तरह के ज़्यादातर लोग व्यापारी होते हैं, वे कमाते हैं, और वे परिस्थिति को इस तरह देखते हैं: जैसे कोयले की खानें थीं—सरकार ने उन्हें अपने हाथ में ले लिया, कोयले का भाव पैंतीस से बढ़कर नब्बे हो गया और सौ करोड़ का नुक़सान ऊपर से। इसलिए वे कहते हैं कि जब हम अट्ठानवे प्रतिशत देते हैं तो उससे सरकार के निकम्मेपन की क़ीमत अदा की जाती है, इसलिए हम क्यों दें?

उमा : बुनियादी तौर पर इसका मतलब है कि आप पब्लिक सेक्टर के ख़िलाफ़ हैं, या कम-से-कम उसके काम करने के तरीक़े के तो ख़िलाफ़ हैं ही।

संजय : मैं समझता हूँ कि पब्लिक सेक्टर को प्राइवेट सेक्टर के साथ मुक़ाबला करके ही काम करना चाहिए, और जहाँ वह प्राइवेट सेक्टर के साथ मुक़ाबला न कर पाये, वहाँ उसे चुपचाप अपनी मौत आप मर जाने देना चाहिए।

उमा : कुछ हिस्सों को सरकार चला सकती है।

संजय : सरकार क्यों चलाये? उन्हें प्राइवेट सेक्टर को क्यों न चलाने दे और सरकार उस पर नियंत्रण रखे? मेरा मतलब है कि सरकार उनसे कह सकती है कि इन हिदायतों की हद के अंदर रहकर काम करना है। जितने कंट्रोल चाहिए लगाइये, लेकिन उनकी जो ख़ास जानकारी और तजुर्बा है उसका फ़ायदा उठाइये...।

उमा : और उन्हें कुछ योजनाएँ अपनी तरफ़ से शुरू करने दीजिये...।

संजय : प्राइवेट सेक्टर के ज़्यादातर लोगों को अगर किसी योजना के साथ अपना नाम जोड़ने का मौक़ा दिया जाये, तो बाक़ी हर चीज़ से वे बहुत खुश रहते हैं। मेरा मतलब है कि जैसे टाटा के नाम से जितना कारोबार होता है वह सब टाटा की मिल्कियत तो नहीं है, बिड़ला के नाम से जितना कारोबार होता है उसके मालिक बिड़ला तो नहीं हैं। लेकिन उनके कारोबार के साथ उनका नाम जुड़ा हुआ है, उन्हें उनका मुनाफ़ा मिलता है और वे ख़ुश रहते हैं, इसलिए सब ठीक रहता है।

उमा : आपके ख़याल में प्राइवेट सेक्टर को क्या-क्या करने पर मजबूर किया जाना चाहिए?

संजय : एक तो मैं यह समझता हूँ कि वे मज़दूरों को ज़्यादा शेयर दे सकते हैं ताकि मज़दूर यह महसूस करें कि वे भी कारखाने के मालिक हैं। अगर नुक़सान होगा तो उससे मज़दूर की आमदनी में भी फ़र्क़ पड़ेगा। अगर उसकी आमदनी का काफ़ी बड़ा हिस्सा उसके शेयरों से आता है और उस हालत में वह हड़ताल करता है तो उसे यह भी मालूम रहेगा कि साल के आख़िर में उसे अपने शेयरों पर मुनाफ़ा नहीं मिलने वाला है। इस तरह उसे अधिक उत्पादन करने में ज़्यादा दिलचस्पी रहेगी। आप उसे रहने को मकान और दूसरी सुविधाएँ भी दे सकते हैं, लेकिन इन सब चीज़ों से उत्पादन बढ़ाने का उतना जोश नहीं पैदा होता। अगर कंपनी के नफ़े-नुक़सान में उसका अपना भी नफ़ा-नुक़सान हो तो उत्पादन बढ़ाने में और कंपनी के ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने में उसे सबसे ज़्यादा दिलचस्पी रहेगी।

उमा : सरकार को इस बात का पक्का यक़ीन कैसे हो कि प्राइवेट सेक्टर यह सब-कुछ करेगा? यह सब-कुछ करने के लिए उन पर दबाव डालने के क्या तरीक़े हो सकते हैं?

संजय : मैं समझता हूँ कि उनसे यह बात आसानी से कही जा सकती है कि मुनाफ़े का इतना प्रतिशत भाग मज़दूरों को शेयर की शक्ल में देना पड़ेगा।

उमा : और अगर वे न दें तो क्या होगा?

संजय : इसके लिए क़ानून होगा कि उन्हें ऐसा करना पड़ेगा। करेंगे कैसे नहीं? मेरा मतलब है कि यह सरकार का काम है कि वह क़ानूनों का पालन कराने का इंतज़ाम करे।

उमा : प्राइवेट सेक्टर के विशेषज्ञों को कार्पोरेशन में मैनेजिंग डायरेक्टरों की हैसियत से लाने की योजना के बारे में आपका क्या ख़याल है?

संजय : ज़्यादातर बेईमान क़िस्म के लोग ही इस हैसियत से आने को तैयार होते हैं—अगर मुझे किसी कंपनी से १२,००० रुपये महीने मिलते हैं, तो मैं नहीं समझता कि इस तरह के बहुत व्यापारी होंगे जो इतने देशभक्त हों कि १२,००० रुपये छोड़कर ३,००० रुपये पर पब्लिक सेक्टर का कारख़ाना चलाने के लिए आयें। अगर वह यहाँ ३,००० रुपये कमाने के लिए आयेंगे तो इस बात का पक्का बंदोबस्त कर लेंगे कि जितनी कमी है वह किसी दूसरी जगह से पूरी हो बल्कि उससे भी कुछ ज़्यादा मिल जाये...।

उमा : आपकी राय में पूँजी लगाने की स्थिति कैसे सुधारी जा सकती है?

संजय : जब तक पिछली बार जैसी वित्तीय पाबंदियाँ नहीं लगायी गयी थीं तब तक पूँजी लगाने की स्थिति बहुत अच्छी थी—बाज़ार में जब भी पूँजी की माँग होती थी तो ज़रूरत से ज़्यादा पूँजी मिल जाती थी। इस वक़्त जो क़दम उठाये गये हैं उन्हीं की वजह से उत्पादन को बढ़ावा नहीं मिलता। लोग कहते हैं कि सबसे बड़ी बाधा बिजली की कमी और क़र्ज़ में कटौती की है। मैं समझता हूँ कि क़र्ज़ में जो कटौती की गयी है उसमें उन उद्योगों के लिए ढील दी जा सकती है जो कारखानों में कोई माल तैयार करते हैं; व्यापारियों के लिए इसमें ढील देने की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि जमाख़ोरी ज़्यादातर व्यापारी ही करते हैं। दरअसल अभी हाल में इस बात का पता लगाने के लिए छानबीन की गयी थी कि सबसे ज़्यादा ज़ख़ीरेबाज़ी कौन करता है और पता यह चला कि सबसे ज़्यादा जमाख़ोरी करनेवाली सब कंपनियाँ सरकारी हैं। क्योंकि उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं होती, और अगर नुक़सान भी हो जाये तो उनका क्या जाता है, उन्हें रत्ती-भर भी परवाह नहीं होती।

उमा : आपकी राय में क़ीमतें कैसे कम की जा सकती हैं?

संजय : उत्पादन। अगर उत्पादन बढ़ेगा तो क़ीमतों का गिरना लाज़िमी है। योरुप और अमरीका में लोग जमाख़ोरी क्यों नहीं करते? इसलिए कि अगर मैं किसी एक छाप की चीज़ छिपाकर रखना शुरू करूँ तो दूसरी छाप की वही चीज़ सारे बाज़ार में छा जायेगी और पहली छाप की चीज़ को कोई पूछेगा नहीं। यही एक हालत है जिसमें क़ीमतें सचमुच क़ाबू में रखी जा सकती हैं। और किसी भी हालत में

क़ीमतों को सचमुच क़ाबू में नहीं रखा जा सकता।

उमा : क्या आप समझते हैं कि आम नागरिक जो अवसर चाहता है वे लोकतंत्र के ढाँचे के अंदर रहकर मिल सकते हैं ?

संजय : मैं लोकतंत्र पर विश्वास रखता हूँ, लेकिन लोकतंत्र का मतलब यह नहीं है कि देश में जो कुछ है उसे वर्बाद करने की सबको आज़ादी है। लोकतंत्र का मतलब होता है देश को बनाने की आज़ादी।

उमा : इस देश को बनाने में क्या चीज़ रुकावट डालती है ?

संजय : जैसे, मिसाल के लिए—फ़ौज को उकसाना कि वह हुक्म न माने, छात्रों से कहना कि वे पढ़ाई छोड़कर उपद्रव करें, बसें जलायें, खिड़कियाँ तोड़ें, रेलगाड़ियाँ चलने में गड़बड़ी पैदा करें। इससे किसी चीज़ में मदद नहीं मिलती।

उमा : क्या आप ऐसी व्यवस्था पसंद करेंगे जिसमें विपक्ष को इतना भी मौक़ा न मिले ?

संजय : भारत में, सच पूछा जाये तो, अब तक एक ही पार्टी की प्रणाली रही है। अगर वह पार्टी—कांग्रेस—हर जगह छायी रही है और हटायी नहीं जा सकी है तो इसकी बुनियादी वजह यह है कि विपक्ष बेहद ग़ैर-ज़िम्मेदार है। मैं बहुत-से ऐसे लोगों को जानता हूँ जो कांग्रेस को इसलिए वोट देते हैं कि वे कहते हैं कि देखिये, हम कम्युनिस्ट तो हैं नहीं इसलिए हम कम्युनिस्टों को तो वोट देंगे नहीं, और बाक़ी सब निकम्मे लोगों का गरोह है, इसलिए हम उन्हें भी वोट नहीं देंगे, इसलिए हमारे पास कांग्रेस को वोट देने के अलावा और कोई चारा ही नहीं है। अगर कोई दूसरी ज़िम्मेदार पार्टी होती तो मैं समझता हूँ कि बहुत-से लोग उसे वोट देते।

उमा : आपकी राय में इस तरह की ज़िम्मेदार विपक्ष की पार्टी किस वजह से नहीं पनप पाती ?

संजय : विपक्ष की पार्टियों के सदस्यों की वजह से! मिसाल के लिए, जब स्वतंत्र पार्टी बनी थी तो कुछ लोगों ने सोचा था, यह कांग्रेस की जगह लेनेवाली एक अच्छी पार्टी है, बहुत-से लोगों ने उसे वोट भी दिये, लेकिन बाद में उन्हें पता चला कि वह कितना बड़ा धोखा है, वह विदेशियों की खड़ी की हुई पार्टी है। ज्योंही लोगों को इस बात का पता चला, स्वतंत्र पार्टी चरमराकर बैठ गयी।

उमा : क्या आप मानते हैं कि पार्टी की बुनियाद उसके कार्यकर्त्ताओं पर होनी चाहिए ?

संजय : जी हाँ, बिलकुल होनी चाहिए। क्योंकि कांग्रेस में एक सबसे बड़ी अड़चन यही है कि उसमें नेता तो बहुत-से हैं लेकिन ऐसे लोग काफ़ी नहीं हैं जो कुछ काम करने के लिए सबसे निचले स्तरों तक जा सकें। मैं समझता हूँ कि पार्टी में सबसे ज़्यादा महत्त्व काम करने वाले या कार्यकर्त्ता का होता है, उसे आप कोई भी नाम दे दें। कांग्रेस में अगर किसी आदमी की सबसे कम परवाह की जाती है तो वह कार्यकर्त्ता है, जबकि दरअसल वह पार्टी की बुनियाद है।

उमा : जनसंघ और कम्युनिस्ट पार्टी की बुनियाद उनके कार्यकर्त्ताओं पर है। आप कांग्रेस को नये साँचे में किस तरह ढालना चाहेंगे ?

संजय : मैं यह नहीं मानता कि जनसंघ की बुनियाद उसके कार्यकर्त्ताओं पर

है। मैं जानता हूँ कि दिल्ली में वह किस तरह काम करता है। दिल्ली में तो वह पक्षपात पर पनपने वाली पार्टी थी। उसने लोगों के साथ पक्षपात किया और उसी पर अपनी बुनियाद क़ायम की। इन्हें कार्य-कर्त्ता नहीं कहते। कम्युनिस्टों के पास कुछ कार्यकर्त्ता शायद हों जो सचमुच काम करते हों, लेकिन अगर आप उन सभी लोगों को देखें जो कम्युनिस्ट पार्टी में हैं, बड़े-बड़े नेताओं को—और उन्हें भी जो इतने बड़े नेता नहीं हैं—तो मैं नहीं समझता कि आपको कहीं भी उनसे ज़्यादा पैसे वाले और उनसे ज़्यादा भ्रष्ट लोग मिलेंगे।

उमा : फिर कार्यकर्त्ता से आपका क्या मतलब है? वह काम करने वाला जिसे पार्टी पैसे देती हो?

संजय : जी नहीं, पैसे लेकर काम करने वाला नहीं, बल्कि सच्ची लगन से काम करने वाला। मैं समझता हूँ कि कार्यकर्त्ता को उसके काम के लिए कुछ मान्यता मिलनी चाहिए, और नेताओं को बढ़ावा देने के बजाय, जो ऊपर से थोप दिये जाते हैं, कार्यकर्त्ताओं को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। कार्यकर्त्ता जहाँ होता है वहीं रह जाता है, उसे ऊपर आने का मौक़ा ही नहीं मिलता।

उमा : जिसका मतलब यह है कि आप ऐसी व्यवस्था चाहते हैं जिसमें कार्य-कर्त्ता आगे चलकर नेता बन जाये?

संजय : जी हाँ, मैं यही चाहता हूँ, ताकि काम करने वाले के दिल में भी कुछ पाने की, कुछ हासिल करने की, कहीं पहुँचने की उमंग बनी रहे। मौजूदा व्यवस्था में, कांग्रेस के बाहर भी, पूरी भारतीय व्यवस्था में, कार्यकर्त्ता हमेशा कार्यकर्त्ता ही बना रहता है और नेता शुरू से ही नेता होता है और आखिर तक नेता ही बना रहता है। यही इस पूरी व्यवस्था की ख़राबी है।

उमा : अगर आपको एक कांग्रेसी की हैसियत से, काम करने के ढंग का एक बिलकुल ही नया ढाँचा तैयार करने का मौक़ा मिले तो...?

संजय : मैं कांग्रेस पार्टी का मेंबर नहीं हूँ...।

उमा : लेकिन अगर आपको मौक़ा मिलता तो क्या आप बहुत-से लोगों को नाराज़ किये बिना यह काम कर सकते थे?

संजय : बहुत-से लोग नाराज़ तो ज़रूर होंगे—ज़ाहिर बात है कि अगर कार्यकर्त्ता तरक़्क़ी करके नेता बन जायेंगे, तो नेताओं को उनके लिए जगह ख़ाली करनी पड़ेगी। कहीं भी कोई भी नेता जो कुछ उसके हाथ लग चुका है उसे छोड़ने को तैयार नहीं होगा। हर आदमी यही चाहता है कि जो कुछ उसके पास है उससे वह चिपका रहे। बहुत-से लोग आदर्श के बारे में सोचते हैं, उसकी बात करते हैं, फिर अचानक वे महसूस करते हैं कि जो कुछ उनके पास है उसमें, उनके अपने छोटे-से साम्राज्य में उस आदर्श की वजह से बाधा पड़ेगी। जब तक वे सिर्फ़ इसकी बातें करते हैं तब तक वे अपने को सुरक्षित समझते हैं।

उमा : आपने १९७१ में एक तरह से राजनीति के क्षेत्र में क़दम रखा था, कुछ चुनाव का प्रचार करना, कुछ भाषण देना और गंदी बस्तियों में काम करना। उसके बाद फिर कुछ दिन के लिए छोड़ दिया। ऐसा क्यों?

संजय : मैं अपनी मोटर के काम में लगा रहा।

उमा : अब आप फिर पहले से कुछ ज़्यादा दिलचस्पी लेने लगे हैं। क्या उसकी वजह यह है कि मोटर की योजना आगे नहीं बढ़ पा रही है ?

संजय : जी नहीं। जिस तरह १९७१ में कुछ काम करने की ज़रूरत थी और इसलिए मैंने किया। जब काम पूरा हो गया तो मैंने छोड़ दिया। इसलिए अब चूँकि फिर कुछ काम करने की ज़रूरत पड़ी है तो मैं फिर करूँगा और जब काम पूरा हो जायेगा तो छोड़ दूँगा।

उमा : इसका मतलब है कि बुनियादी तौर पर आपको राजनीति से कोई दिलचस्पी नहीं है ?

संजय : बुनियादी तौर पर मुझे दिलचस्पी है, लेकिन मैंने कुछ दूसरे कामों की ज़िम्मेदारी ले रखी है और उन्हें मुझे पूरा करना है।

उमा : मोटर ?

संजय : जी हाँ, मोटर।

उमा : क्या आप समझते हैं कि जिन लोगों के हाथ में सत्ता हो उनके बच्चों को उनके इस मैदान से बिलकुल अलग रहना चाहिए ?

संजय : मैं नहीं समझता कि किसी आदमी को अपनी रिश्तेदारी की वजह से किसी भी मैदान से दूर रहना चाहिए। कोई आदमी कोई भी काम इसलिए करता है कि उसे उस काम के प्रति स्वाभाविक रुचि होती है या वह इस काम को बहुत अच्छी तरह कर सकता है या इसलिए कि उसे उस काम से दिलचस्पी होती है। असली कसौटी किसी के साथ उसकी रिश्तेदारी नहीं बल्कि यह होनी चाहिए कि उसमें उस काम को करने की कितनी क्षमता है।

उमा : अपनी शादी के बाद भी आप अपनी फ़ैक्टरी में इतने ही घंटे काम करते हैं ?

संजय : जी हाँ।

उमा : और अब भी आप दूसरे लोगों के बीच उठते-बैठते नहीं, लोगों से मिलते-जुलते नहीं ?

संजय : जी नहीं।

उमा : लेकिन क्या इसकी वजह से, जिसे मैं कहूँगी, आपकी ज़िंदगी बिलकुल तपस्वियों जैसी नहीं होती जा रही ?

संजय : अपना-अपना सोचने का ढंग है।...मैं किसी तपस्वी से कभी मिला नहीं हूँ, इसलिए मैं दरअसल बता नहीं सकता !

जुलाई २८

संजय गांधी की इंटरव्यू

श्रीमती उमा वासुदेव को संजय गांधी ने 'सर्ज' के लिए जो इंटरव्यू दी थी उसके बारे में पी० टी० आई० और यू० एन० आई० दोनों ही की भेजी गयी खबरें रात को पौने नौ बजे रद्द करके वापस ले ली गयी हैं, हालांकि कुछ अखबार उसे छाप भी चुके थे।

श्री गांधी ने खुले कारोबार को बढ़ावा देने की पैरवी की थी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की कड़ी आलोचना की थी।

• •





तीन अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकें

★ फ़ैसला—सुप्रसिद्ध पत्रकार कुलदीप नय्यर की कलम
चिट्ठा। इन ज्वलंत शब्दों में जून 75 में इमर्जेंसी को घोषित क
तरह पूरे देश को अपनी भुजाओं के जाल में जकड़ने के षड्यंत्र
बाद ही कही जा सकती थी। जुलाई 77 में दो संस्करण, तीसरी
चतुर्थ आवृत्ति का सितम्बर 77 में प्रकाशित होना इसकी लोक

पेपरबैक संस्करण : 18 रुपये; पुस्तकालय संस्करण

★ भारतीय जेलों में पाँच साल—बिहार की जेलों में वि
कोई मुकद्दमा चलाये पाँच वर्ष से अधिक बन्दी रखी जाने वा
टाइलर की कहानी। दारुण दुर्दशा में बिताये गये ये वर्ष लेखि
नहीं रह गये हैं—बन्दी लोगों के प्रति व्यवस्था की अमानुषिक दृष्टि इसस ... हुए
है—विशेषतः 'नक्सलवादी' कहे जाकर पुकारे जाने वाले बन्दियों के प्रति पिछली सरकार का नृशंस रवैय्या घिनौने रूप में स्पष्ट दीख पड़ने लगा है।

पेपरबैक संस्करण : 14 रुपये; पुस्तकालय संस्करण : 20 रुपये।

★ अदालती पुनरीक्षण या संसद से टकराव—सुप्रीम कोर्ट के भूतपूर्व जस्टिस श्री हंसराज खन्ना ने इस पुस्तक में अपने संबंधित निर्णय से प्रासंगिक अंश उद्धृत करते हुए बतलाया है कि केशवानन्द भारती के केस में उच्चतम न्यायालय का निर्णय और संविधान के बुनियादी ढाँचे की संकल्पना से अदालतों और विधानमंडल के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न नहीं होती, और यह निर्णय सामाजिक और आर्थिक प्रगति के लिए बनाये जाने वाले कानूनों के मार्ग में बाधक नहीं है।

पेपरबैक संस्करण : 9 रुपये 50 पैसे; पुस्तकालय संस्करण : 15 रुपये।

दो समसामयिक, आगामी प्रकाशन

★ सब दरबारी—लेखक जनार्दन ठाकुर। इन्दिरा गांधी को जिन लोगों ने इस तरह घेर रखा था कि देश की जनता उनकी आँखों से ओझल हो गई थी, उन 'दरबारियों' की अंतरंग और दिलचस्प कहानी। सितम्बर 77 में प्रकाश्य।

पेपरबैक संस्करण : 18 रुपये; पुस्तकालय संस्करण : 24 रुपये।

★ समुचित तकनीक : बेहतर भी, कारगर भी—अर्थशास्त्र का अध्ययन—मानो जनता का भी अस्तित्व हो! अर्थशास्त्री ई० एफ० शुमाकर की विश्वविख्यात पुस्तक का अनुवाद जिसमें उन्होंने पश्चिम की आकाश-बेल की तरह फैलती हुई तकनीक के सांघातिक परिणामों से सचेत करते हुए छोटी—और इसलिए बेहतर—तकनीक का समर्थन किया है। अक्तूबर 77 में हिन्दी और अंग्रेजी—दोनों में प्रकाश्य।



राधाकृष्ण 2 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002